Ph.D THESIS

इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानियों में नवराष्ट्रीयता

EKKISVIM SADI KI HINDI KAHANIYOM MEIN NAVARASHTREEYATA

ThesisSubmitted to
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY

For the Degree of
DOCTOR OF PHILOSOPHY

In

HINDI
Under the Faculty of Humanities

By
LATHA.V

Dr. K. Ajitha **Prof. (Dr.)K. VANAJA**
Professor &HeadSupervising Teacher
Dean, Faculty of Humanities

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
Kochi- 682022

October 2018

DECLARATION

I hereby declare that the work presented in the thesis entitled **EKKISVIM SADI KI HINDI KAHANIYOMMEIN NAVARASHTREEYATA**based on the original work done by me under the guidance of Prof.(Dr.) K.VANAJA, Dean, Faculty of Humanities, Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Cochin-682022and no part of this thesis has been included in any other thesis submitted previously for the award of any degree in any other university.

LATHA . V

Department of Hindi
Cochin University of Science and Technology
Cochin-682022

Place: Cochin-22
Date : /10/2018

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **EKKISVIM SADI KI HINDI KAHANIYOM MEIN NAVARASHTREEYATA**is a bonafide record of research work carried out by Mrs. Latha.V, under my supervision for Ph.D. (Doctor of Philosophy)Degree and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any university. All the relevant corrections and modifications suggested by the audience during the pre-synopsis seminar and recommended by the Doctoral Committee of the candidate has been incorporated in the thesis.

Prof. (Dr.) K.VANAJA
Dean, Faculty of Humanities
Department of Hindi,
Cochin University of Science and Technology,
Cochin-682022

Place: Cochin-22

Date : /10/2018

भूमिका

भूमिका

अपनी जन्मभूमि के प्रति प्रेम तथा अनुराग के रूप में नवजागरण के संदर्भ में जिस राष्ट्रीयता का विकास हुआ है उसकी दो धाराएँ थीं ।एक धारा तो भारत की संस्कृति एवं भारत की सारी विशेषताओं एवं प्रकृतिबोध से युक्त सहज स्वाभाविक सादगी से पूर्ण रही थी ।तो दूसरी धारा पाश्चात्यीकरण से उद्‌भूत थी । बीच में आकर पाश्चात्यीकरण से निर्मित राष्ट्रीयता बहुत सशक्त होकर तेज़ी से फ़ैल गई और एक पूर्वी देश को जिस प्रकार विकसित होना था उससे अलग होकर पाश्चात्य देशों के विकास के मार्ग को भारत ने भी स्वीकार किया ।बाद में भूमंडलीकरण का जो अर्थतंत्र है उसकी गिरफ्त में संपूर्ण दुनिया फँस गई ।भारत की सांस्कृतिक विविधता पर समरूपता लादने से एक संस्कृति की एक चेहरेवाली, एक शक्ति की अधीनता की व्यापारी दुनिया रूपांतरित हुई ।तब बहुलता तथा प्रत्येक राष्ट्र की अस्मिता नष्ट होने लगी ।भौतिकता पर केन्द्रित जो विकास हुआ उससे संपूर्ण प्रकृति का नाश होने लगा ।सारे रिश्ते यंत्रवत और व्यापार की ओर आने लगे । अर्थात इस व्यापारी संस्कृति ने हमारी राष्ट्रीय संस्कृति पर इतना भारी आक्रमण किया है कि संस्कृति का व्यापक अर्थ ही बदल गया है ।यह हमें संकीर्णता की ओर ले जाती है ।इस वैश्वीकृत दुनिया में पड़कर हशियेकृतों तथा स्थानीय पारंपरिक संस्कृतियों की अस्मिता दब रही है ।तब जो देशज राष्ट्रीयता गाँधीजी के नेतृत्व में प्रवर्तित हुई वह उत्तराधुनिक युग में आकर नवऔपनिवेशिक स्थितियों का सामना करने के लिए पुनः सशक्त हुई ।वह प्रकृति बोध के आधार पर विकसित बहुलता की स्वीकृति में परिपुष्ट मानवीय अधिकारों को महत्व प्रदान करनेवाली भारतीय संस्कृति की राष्ट्रीयता है, यह है भारत की नवराष्ट्रीयता ।असहिष्णुता एवं संकीर्णता से परे होकर बहुस्वरता राष्ट्र आज के भारत के संबंध में ज़रूरी है ।वहाँ प्रत्येक की अपनी संस्कृति और अपनी अस्मिता की जगह होनी चाहिए ।नवराष्ट्रीयता इस माँग की पूर्ति करती है ।वह बहुलता के संस्कार से निर्मित

राष्ट्र संकल्पना है । इक्कीसवीं सदी का साहित्य इसे लक्षित करता आ रहा है ।अभी तक जो केन्द्रीय स्वर अर्थात् एकमुखीय संस्कृति का वर्चस्व कायम था वह हिलने लगा ।इस लिए इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानी विविधता एवं बहुलता की है । प्रस्तुत विषय की प्रासंगिकता को ध्यान में रखकर मैंने अपना शोध विषय **इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानियों में नवराष्ट्रीयता** चुन लिया ।2000 से लेकर आज तक की कहानियों में अभिव्यक्त नवराष्ट्रीयता संबंधी अवधारणा का विश्लेषण इस शोध प्रबंध का उद्देश्य है ।

विषय के उचित विवेचन एवं विश्लेषण के लिए उसे मैंने पाँच अध्यायों में विभक्त किया है । अंत में उपसंहार है ।

इस शोध प्रबंध का पहला अध्याय है **नवराष्ट्रीयता की अवधारणा एवं साहित्य**।प्रस्तुत अध्याय में राष्ट्र के अर्थ, परिभाषा, स्वरूप एवं राष्ट्रीयता की चर्चा करते हुए राष्ट्रीयता के उदय के कारण एवं राष्ट्रीय एकता के लिए आवश्यक तत्वों पर प्रकाश डालते हुए भूमंडलीकरण तथा नवऔपनिवेशिक संस्कृति के प्रभाव ने किस प्रकार संस्कृति, राष्ट्र, राजनीति, तथा धर्म आदि को तहस–नहस किया है इसका भी विस्तार से विश्लेषण किया है ।तथा इस एकमुखवाली संस्कृति से उत्पन्न सांप्रदायिकता, राष्ट्रवाद, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और फासीवाद पर भी चर्चा की गयी है ।बाद में साहित्य में राष्ट्रीयता, नवराष्ट्रीयता का अर्थ, परिभाषा एवं अवधारणा, नवराष्ट्रीयता की अवधारणा को किस प्रकार इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानियों में प्रस्तुत किया गया है इस पर भी प्रकाश डाला गया है ।जिसमें नवराष्ट्रीयता की मुख्य प्रतिमानों के रूप में भूमंडलीय संस्कृति का प्रतिरोध, पूँजीवाद का प्रतिरोध, सांप्रदायिकता–फासीवाद का प्रतिरोध, स्थानीय एवं अन्य हाशियेकृतों की अस्मिता, लोक संस्कृति, स्त्री संस्कृति एवं दलित संस्कृति की अस्मिता आदि पर भी विचार किया गया है इस अध्याय में ।

दूसरा अध्याय है **इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानियों में भूमंडलीय संस्कृति का प्रतिरोध एवं राष्ट्रीय अस्मिता**।प्रस्तुत अध्याय में नवऔपनिवेशिक संस्कृति से उत्पन्न राष्ट्र की अस्मिता के विकास के लिए हानिकारक सारे विरोधी तत्वों पर एवं कहानी के प्रतिरोध को अध्ययन का विषय बनाया गया है । बाज़ारवाद, उदारवाद, राष्ट्रवाद, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एवं फासीवाद जैसी संकुचित सांस्कृतिक दृष्टि के प्रति कहानीकार का प्रतिरोध सशक्त है ।धर्म, कला, परिवार, मूल्य, भाषा, स्थानीयता और आस्था पर नवउपनिवेश के परोक्ष आक्रमण से उत्पन्न सांस्कृतिक विचलन पर भी विचार विश्लेषण किया गया है ।

तीसरा अध्याय है **इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानियों में लोक संस्कृति** । प्रस्तुत अध्याय के अंतर्गत केन्द्रीय संस्कृति के प्रभुक्त के कारण हाशिये पर उपेक्षित कृषक, आदिवासी तथा अन्य हशियेकृतों की सांस्कृतिक अस्मिता का विश्लेषण उसकी पूरी समग्रता में देखने परखने का प्रयास किया गया है । नवराष्ट्रीयता की अवधारणा में प्रकृति केन्द्रित राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण करना मुख्य मकसद है ।इसलिए इक्कीसवीं सदी के कहानीकार ने इनके प्रति विशेष सतर्कता दिखायी है इसका अध्ययन है प्रस्तुत अध्याय में ।

इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानियों में स्त्री संस्कृति शीर्षक चौथे अध्याय में राष्ट्र की मुख्यधारा से उपेक्षित स्त्री को केंद्र में रखते हुए स्त्री के स्वत्व बोध तथा उनकी सांस्कृतिक अस्मिता की पहचान देने का प्रयास चर्चित वर्तमान कहानियों के ज़रिए किया गया है ।यहाँ स्त्री अपनी नयी संस्कृति के निर्माण में है जहाँ पुरुषवर्चस्ववादी व्यवस्था के तहत राष्ट्र निर्मिती में उपेक्षित हुई ।स्त्री ने समाज, परिवार, आर्थिक, धार्मिक एवं राजीनीतिक क्षेत्रों में पूर्वनिर्धारित सारे नियमों एवं बंधनों को तोड़कर अपनी अस्मिता को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है – इसका विश्लेषण प्रस्तुत अध्याय में किया गया है ।

पाँचवाँ अध्याय का शीर्षक है **इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानियों में दलित संस्कृति**।इस अध्याय के अंतर्गत हजारों साल से उपेक्षित, पीड़ित दलित समुदाय पूँजीवादी ब्राह्मणवादी व्यवस्था द्वारा निर्मित सारे बंधनों को प्रतिरोध करते हुए अपनी अस्मिता की प्रतिष्ठा करने के प्रयास में जिन–जिन मुद्दों पर सवाल उठाया गया है उसका विश्लेषण किया गया है ।उनकी सांस्कृतिक पहचान एवं मानवाधिकार की वकालत करती है आज की कहानी ।अतः साहित्यकार समानता और बहुरता के राष्ट्र के निर्माण में है ।

इसके बाद अंत में **उपसंहार** है जहाँ इक्कीसवीं सदी की कहानियों में नवराष्ट्रीयता की जो अवधारणा है उसका निचोड़ प्रस्तुत किया गया है ।

अंत में उन सभी ग्रंथों एवं पत्रिकाओं की सूची दी गयी है जिनका उपयोग मैंने शोधकार्य के लिए किया है ।

प्रस्तुत शोध प्रबंध कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के मानविकी संकाय की अध्यक्षा एवं हिंदी विभाग की आचार्या आदरणीय डॉ. के.वनजा जी के निर्देशन एवं निरिक्षण में संपन्न हुआ है ।उनकी प्रेरणा एवं प्रोत्साहन के बिना यह शोधकार्य सही वक्त पर खत्म नहीं हो जाता । शोधकार्य के लिए ही नहीं बल्कि व्यक्तिगत जीवन के हर पल में भी मुझे उनका सुझाव प्राप्त हो रहा है ।आपके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने में मैं असमर्थ हूँ । फिर भी इस अवसर पर उनके प्रति हृदय से अपना प्यार और आभार प्रकट करती हूँ ।अपनी तमाम व्यस्तताओं के बीच भी उनके सही निर्देशन के फलस्वरूप ही यह शोध कार्य सार्थक हो पाया है ।

इस संदर्भ में प्रिय गुरुवर डॉ. मोहनन जी के प्रति भी तहे दिल से आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने भी मुझे अभी तक शोधकार्य के लिए और

व्यक्तिगत जीवन में भी सही मार्ग दिखाने का बहुमूल्य कार्य किया, जिसके लिए मैं उनका हार्दिक आभारी हूँ ।

कोच्चिन विश्विद्यालय के हिंदी विभाग की अध्यक्षा डॉ. के अजिता, मेरी डाक्टरल कमिटी के विषय विशेषज्ञ डॉ. आर.शशिधरन तथा विभाग के अन्य गुरुजनों के प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ ।

मेरे इस शोध कार्य की पूर्ति में विभाग के पुस्तकालय का योगदान महत्वपूर्ण रहा है । हिंदी विभाग के और विश्वविद्यालय के पुस्तकालय तथा वहाँ के कर्मचारियों के प्रति भी आभार प्रकट करती हूँ ।

इस शोधकार्य की पूर्ति के लिए मैं अपने प्रिय मित्रों के प्रति भी आभारी हूँ कि उनका प्रोत्साहन एवं मदद से ही अपना कार्य सही समय पर पूरा कर पायी हूँ ।प्रिय तनूजा ताहा, जस्ना, राधिका, प्रत्युषा, नीतू, शिल्पा, श्याम, अनु, रेवती, अजिना आदि के प्रति विशेष आभार प्रकट करती हूँ ।

आगे मेरे प्रिय पति एवं सारे परिवारवालों के प्रति भी आभार व्यक्त करना चाहती हूँ कि जिन्होंने मुझे यहाँ तक पहुँचने में काबिल बनाया है ।

मैं यह शोध प्रबंध विनम्रता के साथ विद्वानों के सामने प्रस्तुत कर रही हूँ ।इसकी कमियों एवं गलतियों के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ ।

सविनय,
लता वी.

हिंदी विभाग
कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय
कोच्चिन– 682022

विषयानुक्रमणिका

पहला अध्याय

नवराष्ट्रीयता की अवधारणा एवं साहित्य

01-67

राष्ट्र – अर्थ एवं परिभाषा – राष्ट्र और देश – राष्ट्रीयता– भारत में राष्ट्रीयता के उदय के कारण –धार्मिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलन– राजनीतिक एकीकरण या यातायात के आधुनिक साधन – भारत के उद्योग,व्यापार एवं कृषि का विनाश – साहित्य में समाचार पत्रों की भूमिका –1857 की क्रांति–राष्ट्रीयता और देशभक्ति – अंतर्राष्ट्रीयता – राष्ट्रीयता केलिए आवश्यक तत्व – भौगोलिक एकता – भाषा –धर्म – परंपरा – संस्कृति – अर्थ एवं परिभाषा – भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ–उपनिवेशवाद – संस्कृति और भूमंडलीकरण – राष्ट्र और भूमंडलीकरण–साम्प्रदायिकता,फासीवाद और भूमंडलीकरण –राष्ट्रवाद

– सांस्कृतिक राष्ट्रवाद – साहित्य में राष्ट्रीयता – इक्कीसवीं सदी केसाहित्य में नवराष्ट्रीयता – नवराष्ट्रीयता – नवराष्ट्रीयता अर्थ एवं परिभाषा – भूमंडलीय संस्कृति का प्रतिरोध –पूंजीवाद का प्रतिरोध – सांप्रदायिकता फासीवाद का प्रतिरोध – स्थानीयता एवं अन्य हाशीयेक्रितों की स्वीकृति – लोक संस्कृति – स्त्री संस्कृति –दलित संस्कृति –इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानियों में नवराष्ट्रीयता– निष्कर्ष

दूसरा अध्याय

68- 139

इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानियों में भूमंडलीय संस्कृतिका प्रतिरोध एवं राष्ट्रीयता अस्मिता

संस्कृति – भूमंडलीय संस्कृति – इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानी में भूमंडलीय संस्कृति के प्रतिरोध के विभिन्न आयाम – बाजारू संस्कृति का प्रतिरोध – बाजारू संस्कृति में किसान – कला का बाज़ारीकरण – धर्म का बाज़ारीकरण – मीडिया में नवउपनिवेश का हस्तक्षेप –साईबर दुनिया में खोयी हुई मानवीय संवेदनाएँ – विज्ञापन की संस्कृति – विज्ञापन में स्त्री का वस्तूकरण –पारंपरिक उद्योगों का पतन – बढती बेरोज़गारी – बाज़ारीकरण से त्रस्त परिस्थिति – मूल्यों की गिरावट – बदलते पारिवारिक संबंध – प्रेम के बदलते मूल्य – मिटती पुरानी स्मृतियाँ एवं इतिहास – स्थानीयता बोध – स्वदेशी भाषा का समर्थन – विस्थापन का दर्द – साम्प्रदायिकता का बदलता रूप – फासीवाद का प्रतिरोध – अभिव्यक्ति, स्वातंत्र्य का निषेध – निष्कर्ष

तीसरा अध्याय

140-192

इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानियों में लोक संस्कृति

लोक संस्कृति अर्थ एवं परिभाषा – इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानी में कृषक संस्कृति – पशु प्रेम –जीवन शैली एवं रहन सहन – लोक कला – लोक गीत– लोक भाषा – इक्कीसवीं सदी की कहानियों में आदिवासी संस्कृति – आदिवासी संस्कृति में प्रकृति – खान पान – वेश भूषा – आदिवासियों का धंधा – उपयोगी वस्तुएँ – पर्व त्योहार – विवाह प्रथा – पंच व्यवस्था – गीत – आदिवासी भाषा –अन्य लघु संस्कृतियों में हिजडे – आजीविका – वेश आभूषण – विश्वास एवं सांस्कृतिक परंपराएँ –गीत संगीत एवं त्योहार – लोक प्रकृति – पशु पक्षी – वायु– निष्कर्ष

चौथा अध्याय

193-238

इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानियोंमें स्त्री संस्कृति

स्त्री संस्कृति – इक्कीसवीं सदी की कहानियों में स्त्री संस्कृति– पितृसत्तात्मक व्यवस्था का विरोध – परिवार – परिवार में स्त्री – लड़की लड़का भेदभाव –

सामाजिक क्षेत्र में – शिक्षा – वैवाहिक व्यवस्था के प्रति विरोध–यौन शुचिता और बलात्कार – आर्थिक क्षेत्र में – स्वावलंबी नौकरी पेशा स्त्री – धार्मिक क्षेत्र में – राजनीतिक क्षेत्र में – कानून और स्त्री – निष्कर्ष

पाँचवाँ अध्याय

239-271

इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानियों में दलितसंस्कृति

दलित संस्कृति – सामाजिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह – जाति भेद का विरोध – असमानता का प्रतिरोध – शिक्षा के क्षेत्र में दलितों की स्थिति – नौकरी के क्षेत्र में दलित – आर्थिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह – धार्मिक व्यवस्था से दलित विरोध – दलित नारी – कानून और दलित – निष्कर्ष

उपसंहार **272-280**

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची **281-301**

परिशिष्ट **302**

नवराष्ट्रीयता की अवधारणा एवं साहित्य

राष्ट्र

समकालीन विमर्श में राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता राजनैतिक संगठनों का केन्द्रीय तत्व बना रहा है । यह एक ऐसी भावना अथवा शक्ति है जो राजनीति पर हावी रही है । इसलिए इस तथ्य को स्वीकार करना चाहिए कि राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता की जिस अवधारण को लेकर आज हम चल रहे हैं, उसकी परिभाषा उतनी कठिन होती जा रही है । पहले भी और आज भी भिन्न भिन्न परिस्थितियों के अनुसार 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ बदलता रहता है । फ्रेडरिक हटर्ज तो साफ साफ कहते हैं कि एक ही राजनीतिज्ञ या लेखक प्रायः अपनी रुची और प्रतिपाद्य के अनुसार 'राष्ट्र' शब्द की अर्थाभिव्यक्ति में परिवर्तन कर लेता है । वैदिक युग की ओर हम देखें तो उस युग में परिवार के आगे का जो सामाजिक ढांचा था, वह ग्राम और जनपद के रूप में था । इस समय राजनीतिक व्यवस्था की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी । उन दिनों राजनीतिक रूप से संगठित जन ही राष्ट्र या जनपद कहलाता था । संहिताओं में राष्ट्र शब्द का प्रयोग भूभाग केलिए किया गया है ।

पश्चिम में राष्ट्र केलिए जिस अंग्रेजी शब्द 'नेशन' का प्रयोग करता है, वह लैटिन भाषा के 'नेशियो'(natio) शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है जन्म या प्रजाति । वह भी पूर्व में अनेक अर्थों में भरा था । कभी आयरलैंड में कुल प्रमुख को राष्ट्रप्रमुख (Caption of his nation) कहा जाता था तो जर्मनी और फ्रांस जैसे देशों में 'राष्ट्र' शब्द उच्चशासक वर्ग के लिए प्रयुक्त होता था । सत्रहवीं सदी तक आते आते राष्ट्र शब्द किसी राज्य की विशेष आबादी को रेखांकित करने के लिए प्रयुक्त होने लगा और फिर फ्रांस की राज्यक्रांति ने इसे सर्वथा नया अर्थ प्रदान किया । फ्रांस की राज्यक्रांति ने 'नेशन शब्द को अपार लोकप्रियता दी और'देशभक्ति' का नया अर्थ भी दिया ।''[1]इसप्रक।र पहले राष्ट्र शब्द का जो प्रयोग मिलता है, इसका अर्थ आज के अर्थ जैसा व्यापक नहीं है । आज राष्ट्र शब्द का अर्थ भौगोलिक सीमाओं में आबद्ध वह भूभाग है जहाँ के निवासियों में एक साथ मिलकर रहने की भावना हो और जिनकी अपनी संस्कृति,सभ्यता एवं परंपरा हो । सच तो यह है कि 'राष्ट्र' या 'नेशन' पर विचार आधुनिक काल की देन है ।

विश्व के इतिहास में 17वीं, 18 वीं और 19 वीं सदी में राष्ट्रों का निर्माण विश्व के ज़्यादातर क्षेत्रों में हुआ । तो राष्ट्र बनने की प्रक्रिया विभिन्न भागों में अपनी –अपनी परिस्थितियों के कारण अलग–अलग वजहों से हुई । "एक बात तो समान कही जा सकती है कि प्रत्येक राष्ट्र अपने आपको पाने और बनने केलिए कई तरह के संघर्षों से गुजरा है । कबीलाई जीवन, निरंकुश सत्ता, जातिगत भेदभाव, रंग भेद, दास प्रथा, सामंतवाद आदि जैसे व्यापक,एकता भाव से रहित इन सामाजिक संरचनाओं ने जब अपने आपको भौगोलिक,राजनैतिक,सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक एकता के सूत्र में एक–दूसरे को पिरोया, तब जाकर किसी देश, समाज, राज्य आदि ने राष्ट्र के स्वरूप

---

[1]जितेन्द्र श्रीवास्तव , भारतीय राष्ट्रवाद और प्रेमचंद , पृ. 12

को पाया ।"[1]ऐसे में विद्वानों ने राष्ट्र के स्वरूप को स्पष्ट करने केलिए कुछ बुनियादी बातें बताई हैं, जो इसप्रकार हैं –

बाबु गुलाबराय के अनुसार 'राष्ट्र' एक राजनीतिक इकाई है । उसके निवासियों के राजनैतिक हितों की एकध्येयता और शासन की एकसूत्रता उनमें संगठन स्थिर करने केलिए आवश्यक है । सभी संप्रदाय और सभी प्रांत राष्ट्र के अंग है । राष्ट्र का हित सबका सम्मिलित हित है और राष्ट्र का आघात सब केलिए घातक है ।"[2]

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने राष्ट्र शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है कि "राष्ट्र केवल सीमाओं और जनसंख्या के समुच्चय का नाम नहीं है । उसके साथ परिस्थितियों के एक विशिष्ट आयाम और एक विशिष्ट इतिहास का भी योग होता है । राष्ट्र एक व्यक्ति के सदृश्य ही है ।"[3]

"राष्ट्र की आधुनिक संकल्पना राष्ट्र–राज्य के रूप में अपने तर्कसंगत परिणाम पर पहुँचती है । संक्षेप में राष्ट्र उन लोगों के समूह को कहते हैं, जो स्थायी रूप से एक निर्दिष्ट भूभाग में रहते हैं और सामान्य इतिहास और सामान्य नियति चेतना के कारण एकता के सूत्र में बंधे हुए अनुभव करते हैं, हालाँकि उनका संबंध भिन्न भिन्न राष्ट्रीयताओं से हो सकता है ।"[4]

"परंपरागत अर्थों में 'राष्ट्र' जातीय एकता के सूत्र में बंधी हुई वह जनता है,जो किसी अखंड भौगोलिक प्रदेश में निवास करती है ।"[5]

वास्तव में राष्ट्र का स्वरूप 'स्व' या व्यष्टि के विस्तार से सामने आया है । व्यक्ति के विस्तार से परिवार और परिवार के विस्तार से समाज का

---

[1]डॉ ॰ कुमार भास्कर, राष्ट्रीयता और हिन्दी सिनेमा, पृ. 03

[2]बाबू गुलाब राय, राष्ट्रीयता, पृ. 02

[3]नन्ददुलारे वाजपेयी,राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध, पृ .02

[4] ओम प्रकाश गाबा, राजनैतिक–सिद्धान्त की रूपरेखा, पृ .124

[5] प्रोफ. एस. एल. वर्मा, उच्चतर आधुनिक राजनैतिक सिद्धान्त , पृ. 667

स्वरूप सामने आया है । समाज के समुचित विस्तार और व्यवस्था के आधार पर राष्ट्र बन जाता है । इस राष्ट्र का स्वरूप मात्र भौगोलिक नहीं है जिसमें धरती,पहाड़ और नदी आदि समाहित हो वरन उक्त भूभाग में बसे जन समूह की मनोभूमि भी होती है । राष्ट्र के स्वरूप में भूभाग और जनसमूह के साथ जन संस्कृति की भी अपेक्षा होती है । इन तीनों के समन्वित स्वरूप से राष्ट्र की पहचान होती है । शिवकुमार मिश्र ने राष्ट्र सम्बन्धी विषय में लिखा है, "भूमि अर्थात भौगोलिक एकता और जन जनगण की राजनैतिक एकता और जन संस्कृति अर्थात सांस्कृतिक एकता इन तीनों के समुच्चय का नाम राष्ट्र है ।"[1] जिसप्रकार मानव की रचना में शरीर, प्राण और मन आदि की अपनी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका होती है, उसी प्रकार राष्ट्र के निर्माण में भू–भाग रूपी शरीर, जन समूह रूपी प्राण और जन संस्कृति रूपी मन से राष्ट्र का गतिशील रूप सामने आता है । "भूमि राष्ट्र का कलेवर है, जन उसका प्राण है और संस्कृति उसका मानस है । भूमि, भूमिवासी जन और जन संस्कृति तीनों के सम्मिलन से राष्ट्र का स्वरूप बनता है । राष्ट्र में भौगोलिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक इकाईयाँ पूँजीभूत है । इन तीनों इकाइयों के संकोच और विस्तार के साथ राष्ट्र और राष्ट्रीयता का स्वरूप भी संकुचित और विस्तृत होता रहा है ।"[2]

विद्वानों के इन विचारों से राष्ट्र के स्वरूप की एक औसत और आदर्श छवि तो दिखाई पड़ती है । राष्ट्र शब्द अपने आप में बड़े आदर्श का द्योतक है । निःसंदेह यह यथार्थ की जटिलताओं में पैदा होनेवाले बिखराव को एकजुट करने में हमारी मदद करता है । अर्थात इसके मूल में एकत्व और अखंडता की साधना का संकेत है । एकसूत्र ही राष्ट्र का प्राण है । कहा जा सकता है कि यह ऐतिहासिक स्थापित तथ्य है कि राष्ट्र का अस्तित्व भूमि, जन व संस्कृति के त्रि –आधार पर टिका होता है । किन्तु बहुत अधिक लोग राष्ट्र को

---

[1]शिवकुमार मिश्र, हिन्दी काव्य, पृ. 43

[2]डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारत की मौलिक एकता, पृ .76

एक राजनैतिक इकाई मानकर चलते हैंपर वास्तविकता यह नहीं है । राजनीतिक सत्ता अलग होते हुए भी भारत इतिहास के भी 5000 साल से एक राष्ट्र है इसका मुख्य कारण संस्कृति ही है । भारत में राष्ट्र होने के इस बोध को सूत्रबद्ध करते हुए सुप्रसिद्ध समाजवादी चिन्तक व संस्कृति के गहन अध्येता सच्चिदानन्द सिन्हा कहते हैं कि, "यह बोध एक सांस्कृतिक भौगोलिक बोध था, किसी अविच्छिन्न राजनैतिक सत्ता का बोध नहीं, जैसा कि राष्ट्र –राज्य का है ।"[1]इस तथ्य के साथ जोड़कर हृदयनारायण दीक्षित का विचार है, "व्यक्ति की तरह राष्ट्र के भी वैशिष्ट्य होते हैं । व्यक्ति का वैशिष्ट्य व्यक्ति का व्यक्तित्व बनते हैं । राष्ट्र के वैशिष्ट्य राष्ट्र का राष्ट्रीयत्व बनते हैं । भारत का वैशिष्ट्य सनातन संस्कृति है । त्यागमयी इसी संस्कृति से राष्ट्र का एक व्यक्तित्व बना ।"[2]सारतः राष्ट्र की सत्ता और इयत्ता तभी सार्थक है, जब उसपर जनता का निवास हो और जनसत्ता की चरितार्थता तभी सार्थक है ,जब जन संस्कृति का प्रसार और विकास हो । अस्तु हम कह सकते हैं कि एक ऐसा जन समुदाय, जो एक निश्चित भूभाग पर निवास करता हो, जिसकी अपनी सभ्यता और संकृति हो तथा जो एकात्मकता के प्रेम–पाश में आबद्ध हो, वह राष्ट्र है ।

राष्ट्र और देश

बोलचाल की भाषा में 'राष्ट्र' और देश का प्रयोग पर्याय के रूप में प्राप्त होता है । किन्तु राष्ट्र(nation) और देश(country) दोनों में भिन्नता पाई जाती है । दोनों के अर्थों के भेद को दिखानेवाले कई व्यावर्तक गुण है । विविध संसाधनों से समृद्ध सांस्कृतिक पहचानवाला देश ही राष्ट्र है, तो देश का सम्बन्ध भूगोल और सीमाओं से है । इस शब्द की व्युत्पत्ति 'दिश' यानी दिशा या देशांतर से हुआ है । यहाँ देश एक भौगोलिक इकाई है तो राष्ट्र एक सांस्कृतिक इकाई है । देश केवल पृथ्वी पर मिट्टी का टुकड़ा है जब तक उसपर मनुष्य

---

[1]प्रमोद कुमार, राष्ट्रीयता की अवधारणा और भारतेन्दु युगीन साहित्य, पृ.20

[2]हृदय नारायण दीक्षित, सांस्कृतिक राष्ट्र दर्शन, पृ.18

जाति का निवास न हो तब तक उसकी कोई सत्ता नहीं होती । उसपर बसनेवाली जन जाति का अस्तित्व भी तभी होता है जब उसकी अपनी संस्कृति होती है,अपनी सभ्यता और परंपरा होती है । स्पष्ट है भौगोलिक सीमाओं में आबद्ध कोई भी भूभाग तब तक राष्ट्र का अधिकारी नहीं होता जब तक वहाँ के लोगों में आपस में मिलकर रहने की भावना न हो ।अपने देश में रहनेवाले प्राणियों में परस्पर प्रेम और सहयोग की भावना होनी चाहिए । राष्ट्र दिखाई नहीं पड़ता है लेकिन इसकी सत्ता ज्यादा व्यापक और गहन है किन्तु देश दिखाई पड़ता है । इन दोनों को जीव और देह के रिश्ते की तरह समझना आसान होगा । शरीर दिखाई पड़ता है,प्राण नहीं दिखाई पड़ता । लेकिन शरीर का सम्पूर्ण अस्तित्व प्राण पर आधारित है । प्राण के आभाव में शरीर सिर्फ मिट्टी है ।

राष्ट्रीयता

राष्ट्र और राष्ट्रीयता की संकल्पना आधुनिक विश्व के सबसे शक्तिशाली विचारों में से एक है ।

यह एक अमूर्त विचारधारा है सम्पूर्ण राष्ट्र की एकता का प्रतीक है जिसके आधार पर अपने देश के प्रति आत्मीय लगाव का अनुभव करता है । अपनी जन्मभूमि से अनुराग प्राचीन परम्पराओं के प्रति आस्था, अपने देश के प्रत्येक पदार्थ, प्राणी एवं प्राकृतिक सुषमा के प्रति ममत्व की भावना और अपनी सभ्यता तथा संस्कृति के प्रति प्रगाढ़ आदर मानव के अंतर में विद्यमान राष्ट्रप्रेम का द्योतक है । वास्तव में राष्ट्रीयता एक ऐसी भावना है जिसका सम्बन्ध मानव की अन्तःचेतना से है, जो अनिर्वचनीय होने के कारण केवल अनुभूति का विषय है । जिसे अनुभव किया जा सकता है, शब्दों के बन्धनों में बाँधना कुछ कठिन है ।

राष्ट्रीयता भावना से संपृक्त है और इसका संबंध मनोविज्ञान से है, बाबु गुलाबराय ने इसे एक भाववृत्ति मानते हुए लिखा है – “एक सम्मिलित

राजनीतिक ध्येय में बंधी हुई किसी विशिष्ट भौगोलिक इकाई के जन समुदाय के परस्पर सहयोग और उन्नति की अभिलाषा से प्रेरित उस भू भाग के लिए प्रेम, गर्व की भावना को राष्ट्रीयता कहते हैं ।"[1]

देश के प्रति प्रेम और भक्ति की भावना प्रत्येक व्यक्ति में होनी चाहिए । प्रत्येक प्राणी का यह कर्तव्य है कि देश की प्रगति एवं समृद्धि के लिए तत्पर हो । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी राष्ट्रीयता का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, – "प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र का अंश है और इस राष्ट्र की सेवा के लिए, इसको धन–धान्य से समृद्ध बनाने केलिए इसके प्रत्येक नागरिक को सुखी और संपन्न बनाने केलिए प्रत्येक व्यक्ति को सब प्रकार के त्याग और कष्ट स्वीकार करना चाहिए ।"[2]विश्व प्रसिद्ध विचारक जिर्मन के अनुसार, "राष्ट्रीयता मेरे दृष्टिकोण से राजनीतिक प्रश्न नहीं है, वरन् आवश्यक रूप से एक आध्यात्मिक प्रश्न है । राष्ट्रीयता धर्म की तरह एक आंतरिक भावना है – यह आध्यात्मिक धारणा है तथा अनुभव करने, विचार करने और रहने का एक तरीका है ।"[3] राष्ट्रीयता सम्बन्धी विचार को लोकचित्त के साथ जोड़कर अपनी राष्ट्रीयता नामक पुस्तक में नरेंद्र पुण्डरीक कहते हैं–"जब हम राष्ट्रीयता की बात करते हैं तो इसी लोक चित्त को पहचानने की बात होती है, लोकचित्त किसी एक जाति या धर्म का नहीं होता । वह पूरे राष्ट्र के लोगों की भाव दशा एवं विचार दशा की पहचान की बात होती है । जब हम किसी विदेशी रचनाकार को पसंद करते हैं तो उसके यहाँ की लोकचित्त परंपरा को ही उसमें पाते हैं । यहाँ जब हम प्रेमचंद को पढ़ते हैं, तो यहाँ भी वही लोकचित्त पाते हैं । बिना अपनी धरती से जुड़े

---

[1]बाबू गुलाब राय ,राष्ट्रीयता ,पृ .2

[2]डॉ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी , हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास ,पृ . 369

[3]जितेंद्र श्रीवास्त, भारतीय –राष्ट्रवाद और प्रेमचंद ,पृ .17

कोई चित्त, लोकचित्त नहीं बनता और लोकचित्त के पहचान के कारण कालिदास, वाल्मीकि, होमर, शेक्सपीयर, प्रेमचंद हमेशा प्रासंगिक रहेंगे ।"[1]

राष्ट्रीयता अपनी अभिव्यक्ति में देश की एकता का वह अन्तःसूत्र है, इसके माध्यम से बाहरी विघटनों को हटाकर देश को संगठित करके उसके भविष्य को बनाता है । जो विविधता से भरे समाज को एक राष्ट्र के प्रति अपना समर्पण और प्रेम भाव तथा क्रिया दोनों स्तरों पर प्रदर्शित करती है । भारत में आर्य, द्रविड़, मुस्लिम, ईसाई आदि संस्कृतियों के चिन्ह होते हुए भी भारत एक है । एक बात ठीक है कि इस विभिन्नता का लाभ उठाकर कभी–कभी बाहरी शक्तियों ने हमें गुलाम बनाया । सरल शब्दों में कहें तो राष्ट्रीयता एक मनोभाव है जिसका आधार व्यक्ति का अपना राष्ट्र है । अपने राष्ट्र की भूमि, जन समूह, संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, साहित्य, कला, जीवन दर्शन आदि के प्रति नैसर्गिक प्रेम और स्वाभिमान की भावना, जो उसमें रहनेवाले लोगों में स्वतः उत्पन्न होती है, 'राष्ट्रीयता' है । वह जनसमुदाय विविधता से उत्पन्न एकता या समानता के कारण परस्पर आत्मीयता की अनुभूति करता है । एक दूसरे को सहयोग देता है और संघठित होकर साथ रहना चाहता है । देशवासियों की समान आशाएँ, परम्पराएँ, प्रसन्नताएँ और समस्याएँ उन्हें एकता के सूत्र में बांधकर उनकी राष्ट्रीय भावना को संपुष्ट करती हैं ।

राष्ट्रीयता कई उपकेंद्रों से मिलकर बना एक केंद्र है । एकता–सूत्र की केन्द्रीय अवस्था राष्ट्रीयता है । भारत के सन्दर्भ में समझे तो इसकी सांस्कृतिक विविधता वह पहलू है, जो अलग होते हुए भी हिन्दुस्तानी छवि को पेश करता है । 26 जनवरी पर इण्डिया गेट पर निकलनेवाली विभिन्न संस्कृतियाँ देश की एक विशाल सांस्कृतिक एकता का प्रदर्शन हैं, जो अपने आप में अलग होकर भी एक है । राष्ट्रीयता एक समुद्र है, जिसके भीतर कई नदियाँ समाहित होती हैं । यह भले ही मन की उदात्त और चेतन अवस्था है, लेकिन यह तरल और निर्मल

---

[1]डॉ राजकुमार , हिन्दी साहित्यिक संस्कृति और आधुनिकता , पृ. 89

नहीं है । यह ठोस है, जिसकी परिणति देश की समाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थिति के विकास और निर्माण से जुडी है ।

भारत में राष्ट्रीयता के उदय के कारण

भारत में राष्ट्रीयता का जन्म और विकास मातृभूमि के प्रति असीम प्रेम का परिणाम है । राष्ट्रीयता राष्ट्र की ही नहीं मानव की अस्मिता की पहचान है । इसलिए राष्ट्रीयता का भाव प्रवाह अतीत काल से चला आ रहा है । दो हज़ार से भी अधिक वर्ष पूर्व भारत में आज के किसी पाश्चात्य देश जैसी राष्ट्रीय एकता का अस्तित्व तो नहीं था, परन्तु इसमें कोई शक नहीं कि भाषा, जाति और कुछ हद तक संस्कृति का अंतर रहते हुए भी सामान्य धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकता ने और एक ही सम्राट की प्रजा होने की चेतना ने एकता की ऐसी भावना को उद्‌बुद्ध किया होगा जिसे राष्ट्रीयता शब्द से व्यक्त किया जा सकता है । किन्तु इसे व्यापक राष्ट्रीयता न कहकर किसी विशेष जातीय गौरव तक सीमित होनेवाले संकुचित राष्ट्रीयता कहना ही अधिक उपयुक्त होगा । इसलिए आधुनिक काल में जन्म हुई राष्ट्रीयता को एक नयी परिकल्पना के रूप में देखा जा सकता है ।यह प्रचारित किया गया कि उपनिवेशवादियों ने हमें राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता की धारणा दी, किन्तु उन लोगों ने नहीं उनके विरुद्ध उभर गई विद्रोह ही राष्ट्रीयता को जन्म दिया है । और इस राष्ट्रीय चेतना के मज़बूत होने के साथ ही हमें 1947 में आज़ादी प्राप्त की ।

फ़्रांसीसी, डच, पुर्तगाली एवं अंग्रेजी विदेशी व्यापारियों ने भी यहाँ की फूट का लाभ उठाकर भारत को गुलाम बनाने का कार्य किया था किन्तु अन्य विदेशियों की तुलना में अँग्रेज़ ही सफल रहे । अंग्रेजों के अत्याचार और शोषण से दबे हुए देश की प्रजा ने अनुभव किया कि वे अपने ही घर में बंदी है । इस समय राष्ट्रीयभावना से स्वराज या देश सुधार का नाम लेना अपराध माना जाता था । इस विषय में किसी को सोचने तक का अधिकार न था । ब्रिटीश सत्ता ने भारतीयों की भावना को इस प्रकार संकुचित कर दिया कि वे अपने देश के

लिए अपनत्व तथा गुलामी, पतन एवं अपमान का अनुभव तक न कर सकते थे । हिन्दू मुसलमान लोगों की भावनाओं पर अपनी कूटनीति का बीज डाल दिया । किन्तु स्वार्थ सिद्धि केलिए दी गयी शिक्षा, व्यापार वृद्धि के साधन, फ्रांस की क्रांति से भारतीयों के मन का आवरण हटने लगा और उनमें देश के प्रति अनुराग और जागरण की भावना पैदा होने लगी । इस भावना से प्रेरित होकर उनका सामूहिक स्वतंत्रता का प्रयास 1856 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के रूप में प्रस्फुटित हुआ । अतः भारतीय राष्ट्रीय जागृति का काल उन्नीसवीं शताब्दी का मध्य मानना उचित होगा ।भारत में राष्ट्रीयता के उदय के लिए जिन–जिन कारणों की महत्ता है उनमें प्रमुख है पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव ।

भारतीय राष्ट्रीयधारा में पश्चिमी शिक्षा ने सराहनीय योगदान दिया । ऐसा माना जाता है कि ब्रिटीश पद्धति पर आधारित अंग्रेजी माध्यम में शिक्षा की शुरुआत से भारतीय समाज में एक नए शिक्षित समाज का जन्म हुआ । 1825 ईं में लार्ड मैकाले के निर्देशानुसार ही भारत में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी को निश्चित किया गया । जिससे भारत में अग्रेज़ी भाषा का व्यापक प्रसार हुआ । मैकाले को पूर्ण विश्वास था कि अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा एक वर्ग तैयार होगा, जो बाहर से भारतीय होगा और भीतर से यूरोपियन ।इस उद्धेश्य में अंग्रेजों को काफी सीमा तक सफलता भी प्राप्त हुई । पाश्चात्य के अन्धानुकरण करने से भारतीयों के मन में अपनी सभ्यता, संस्कृति और धर्म के प्रति हीन भावना भर गयी । फिर भी इससे भारत में राष्ट्रीय चेतना जागृत हुई अतः पाश्चात्य शिक्षा भारत के लिए एक वरदान सिद्ध हुई । इससे भारतीयों की मानसिकता तर्कसंगत एवं विवेकपूर्ण हो गई । अंग्रेजी भाषा के ज्ञान से भारतीय विद्वानों ने पश्चिमी देशों के साहित्य का अध्ययन किया । तब उन्होंने मिल्टन, हरबर्ट आदि विचारकों की कृतियों का ज्ञान प्राप्त हुआ, तो उनमें स्वतंत्रता की भावना जागृत हुई ।उनकी समझ में समानता एवं स्वतंत्रता जैसे शब्दों का अर्थ भी जाने लगा । विश्व के दूसरे देशों की तुलनात्मक स्थिति, विभिन्न क्रांतियों के बारे में भी उन्हें

जानकारी मिली । ये शिक्षित भारतीय विद्वान बाद में राष्ट्रीय आन्दोलन के राजनीतिक और बौद्धिक नेता हो गए । उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए अनेक भारतीय इंगलैंड गये और वहाँ के स्वतन्त्र वातावरण से बहुत प्रभावित भी हुए । भारत आने के पश्चात उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया । क्योंकि वे यूरोपीय देशों की भांति अपने देश में भी स्वतंत्रता चाहते थे ।

कुलमिलाकर कहा जाए तो पश्चिमी शिक्षा ने भारतीय राष्ट्रीय चेतना में नवजीवन का संचार किया । आधुनिक शिक्षा के प्रचार प्रसार द्वारा ही भारतवासी अपने भविष्य को उज्वल बनाने और पश्चिम का अधिकाधिक मुकाबले करने में समर्थ हो सके । जहाँ एक ओर नवीन शिक्षा से लाभ हुए वहीं कुछ हानियाँ भी हुईं । इस शिक्षा ने भारतीयों में मानसिक गुलामी पैदा की । शिक्ष का माध्यम भी अंग्रेजी था जिससे भारतीय भाषाओं की उपेक्षा की गई । पश्चिमी शिक्षा के संपर्क में आने से भारतीयों की अपनी संस्कृति के प्रति लगाव खत्म होने लगा । ऐसे समय में अनेक धार्मिक व् समाज सुधार आंदोलनों ने जन्म लिया, जिन्होंने अपनी संस्कृति का पुनर्जागरण किया ।

धार्मिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलन

इस काल में राष्ट्रीय जागृति पैदा करने में धार्मिक, सांस्कृतिक आन्दोलनों का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ । देश की सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ – प्रतिदिन बिगडती हो जा रही थीं और धर्म के नाम पर समाज में कुप्रथाएँ पैदा हो गयी थीं । इस समय विभिन्न आंदोलनों भारतीय विचारकों औरविभिन्न घटनाओं ने एक ओर धर्म तथा समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया तो दूसरी ओर भारत में राष्ट्रीय चेतना की ज्वाला को अधिकाधिक भड़काया । इस प्रकार के अन्दोलनों में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन,एवं थियोसफिकल सोसाइटी आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।जिसके प्रवर्तक क्रमशः राजाराम मोहनराय,स्वामी विवेकानंद एवं एनी बेसेंट

आदि थे ।इन समाज सुधारकों के माध्यम से भारतीय जनता में आत्म विश्वास जागृत किया तथा उन्हें भारतीय संस्कृति की गौरव महिमा का ज्ञान कराया ।

इन महान व्यक्तियों में राजा राम मोहन राय को आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता का अग्रदूत कहा जा सकता है । अपने देश और जनता के प्रति गहरे प्रेम से प्रेरित होकर आजीवन उसके सामाजिक,धार्मिक,बौद्धिक और राजनीतिक नवोत्थान केलिए राम मोहन राय ने कठिन प्रयत्न किया । 1828 ई.में उन्होंने धार्मिक विचारों में परिष्कार केलिए 'ब्रह्मसभा' नामक संस्था की नींव डाली जो 'ब्रह्म समाज' के रूप में विकसित हुई । इसके द्वारा धर्म और समाज में प्रचलित सतीप्रथा,छुआछूत, मूर्तिपूजा एवं जटिल कर्मकांडों का खंडन करने का प्रयास किया । सतीप्रथा के खिलाफ जो आलोचना उन्होंने की यह एक ऐतिहासिक आन्दोलन था इसके साथ ही राम मोहन राय सुधारकों की अग्रिम पंक्ति में आ गए ।

राजा राममोहन राय के बाद भारतीय राष्ट्रीयता को आध्यात्मिक सांस्कृतिक महानता में विश्वास पैदा कर पुनर्जागृत करनेवाले स्वामी दयानंद सरस्वती थे । बताया कि हमारी संस्कृति विश्व की प्राचीन एवं महत्वपूर्ण संस्कृति है । 1875 में उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की, जिससे राष्ट्रीय नवजागरण में उल्लेखनीय दिशा मिली । जहाँ राजाराम मोहन राय ने अंग्रेजी शिक्षण से प्रेरणा ली वहीं स्वामी दयानंद ने भारतीय संस्कृति और वेदों के आधार पर युगानुरूप मानव मूल्यों का निर्माण किया । नारी शिक्षा, शूद्रों के सम्मान, बाल विवाह विरोध, विधवा विवाह का प्रोत्साहन आदि पर उन्होंने विशेष ज़ोर दिया है । नारी के उत्थान को उन्होंने अपना कर्तव्य समझा । स्वामी जी की सफलता का सबसे बड़ा कारण था – भाषा का प्रयोग । जहाँ अन्य समाज सुधारकों ने अंग्रेजी, उर्दू, फारसी द्वारा अपनी समस्याओं का समाधान किया, वहीं स्वामी जी ने जन–जन की भाषा हिंदी को माध्यम बनाकर अपने उद्धेश्य की पूर्ती की । वेद उनकी वाणी और भारत को वह ईश्वर का प्रिय देश मानते हैं । 'वेदों के युग में

लौटो' उनका प्रिय नारा था अर्थात वेदों के आह्वान से उन्होंने प्राचीनता की ओर लौटने का आग्रह किया । उनके उपदेशों ने करोड़ों लोगों को नवजीवन, नवचेतना तथा नया दृष्टिकोण दिया है । वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने सबसे पहले यह नारा लगाया था कि भारत भारतीयों के लिए है ।

जहाँ ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज और आर्य समाज द्वारा उत्तर भारत में नवजागरण का आन्दोलन प्रारंभ हो गया था । वहाँ बंगाल में रामकृष्ण परमहंस ने धर्म का जीता जागता रूप जनता को दिखाया । उन्होंने धार्मिक एवं राष्ट्रीय उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की । उनका मानना था कि पाश्चात्य संस्कृति से भारतीय संस्कृति श्रेष्ट है क्योंकि पाश्चात्य संस्कृति भौतिक है, जबकि भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक है । रामकृष्ण परमहंस की सभी धर्मों के प्रति उदार दृष्टि है और इसलिए आज वे हिन्दू धर्म के समग्रता के प्रतिनिधि माने जाते हैं । उनके देहावसान के बाद 1896 में विवेकानंदन ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की । स्वामी विवेकानंदन ने यूरोप और अमेरिका में भारतीय संस्कृति का प्रचार किया । उन्होंने अंग्रेजों को यह बता दिया कि भारतीय संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति से महान है और कुछ भारतीय संस्कृति से सीख सकते हैं । इस प्रकार उन्होंने भारत में सांस्कृतिक चेतना जागृत की तथा यहाँ के लोगों को सांस्कृतिक विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दी । इस उद्धेश्य की पूर्ती के लिए भारत का स्वतन्त्र होना आवश्यक है । इस प्रकार उन्होंने भारतीयों को राजनीतिक स्वाधीनता का समर्थन किया । जिससे राष्ट्रीय भावनाओं को असाधारण बल मिला ।

थियोसोफिकल सोसाइटी की नेता श्रीमती एनी बेन्सेंट ने भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया । वे एक विदेशी महिला होने के नाते जब उसके मुँह से भारतीयों ने हिन्दू धर्म की प्रशंसा सुनी तो वे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके । जब उन्हें अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता का ज्ञान हुआ तो उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध स्वाधीनता की प्राप्ति हेतु आन्दोलन प्रारंभ कर दिया ।

इन सभी आन्दोलन व संस्थानों ने सोई हुई जनता में एक नवीन जागृति उत्पन्न की । इन सुधार अन्दोलानों के फलस्वरूप देश में नवजागरण का सूत्रपात हुआ ।

राजनीतिक एकीकरण

1707 ईं. के बाद भारत में राजनीतिक एकता लगभग लोप हो चुका था । मध्यकालीन राजनीतिक व्यवस्था और इसपर आधारित अवधाराणाएँ पूर्णतः समाप्त हो चुकी थीं । ब्रिटीश शासन ने भारत में प्रशासन का नया तंत्र शुरू किया । समस्त साम्राज्य में एक जैसे कानून एवं नियम लागू किए गए । समस्त भारत पर ब्रिटीश सरकार का शासन होने से भारत एकता के सूत्र में बंध गया । इस प्रकार देश में राजनीतिक एकता स्थापित हुई । यातायात के साधनों तथा अंग्रेजी शिक्षा ने इस एकता की नींव को और अधिक ठोस बना दिया जिससे राष्ट्रीय आन्दोलन को बल मिला । इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से भारत का एकरूप हो गया ।

यातायात के आधुनिक साधन

अग्रेजों ने अपने व्यापारिक हितों के विकास,भारत के प्रशासन पर अपना नियंत्रण मज़बूत करने एवं भारत से आर्थिक लाभ उठाने केलिए ब्रिटीश शासकों ने रेलवे, डाक, तार, टेलीफोन व्यवस्था का बखूबी निर्माण किया । पर इसके बावजूत ये साधन विभिन्न क्षेत्रों के लोगों को परस्पर निकट लाने में उपयुक्त एवं महत्वपूर्ण साबित हुए । इसकी पीछे यह भी उद्देश्य अग्रेजों केलिए था कि विद्रोह को दबाने के लिए अंग्रेजी सेनाएं शीघ्रता से भेजी जा सकेंगी, एवं दूर दूरके प्रान्तों की सूचना शीघ्र से प्राप्त हो जाएगी । इस विकास से भारतीयों को काफी लाभ हुआ । राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय लोगों ने ब्रिटीश शासन के विरुद्ध आन्दोलन संगठित करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया । उनका आगामी संपर्क बढ़ने से दृष्टिकोण व्यापक हुआ । समाचार पत्र देश के

दूर- दूर के भागों में पहुँचने लगे । नेता लोगों का मिलन तथा पत्र व्यवहार करना भी आसान हो गया । जिससे साधारण जनता में आन्दोलन अधिक उग्र बनने लगे, जागृति आई । परिणामस्वरुप एकता की भावनाएं सम्पूर्ण देश में फैल जाती थीं ।

भारत के उद्योग, व्यापर एवं कृषिका विनाश

भारत में अंग्रेजों के आगमन के पहले भारतीय ग्राम आत्म निर्भर समुदाय थे । वे छोटे- छोटे गणराज्यों के समान थे जो प्रत्येक बात में आत्म निर्भर थे । ब्रिटीश पूर्व भारत में ग्रामीण अर्थ व्यवस्था कृषि और कुटीर उद्योगों पर आधारित थी । सामाजिक क्षेत्र में परिवार, जाति पंचायत और ग्रामीण पंचायत सामाजिक नियंत्रण का कार्य करती थीं । सन् 1813 ई. के बाद अंग्रेजों के समय में भारत का आर्थिक ढांचा पूर्णतः क्षतिग्रस्त हो गया । भारतीय व्यापार को इंग्लैंड की औद्योगिक क्रान्ति ने पूर्णतः तबाह कर दिया ।भारतीय अर्थ व्यवथा की इस दयनीय दशा का प्रभाव उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में प्रदर्शित हुआ । गाँवों के आर्थिक जीवन असंतुलित हो गया । कृषि पर अत्यधिक लगान लिया गया और विस्तार केलिए असहयोग का रुख अपनाया गया जिससे कृषि के क्षेत्र का विकास भी अवरुद्ध हो गया । भारतीयों की आर्थिक स्थिति ब्रिटीश काल के समय में अधिक बिगड़ गयी थी कि उन्हें केवल दिन में खाना खाकर संतुष्ट रहना पड़ता था । वे लोग इस शोषण से मुक्त होना चाहते थे । इसलिए भारतीयों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रीय रूप से भाग लेना प्रारंभ कर दिया ।

साहित्य में समाचार पत्रों की भूमिका

राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति तथा विकास में भारतीय समाचार पत्रों तथा साहित्य की भी भूमिका उल्लेखनीय रही ।185 7 के विद्रोह से पूर्व भारत में समाचार पत्रों की संख्या न के बराबर थी । लेकिन इस विद्रोह के उपरांत इनकी संख्या तेज़ी से बढ़ गई । इस दौरान के प्रमुख अग्रेज़ी समाचार पत्रों में

ब्रिटीश सरकार की नीतियों की प्रशंसा में लेख लिखे जाते थे । लेकिन बाद में ऐसे समाचार पत्रों का प्रकाशन हुआ जिससे ब्रिटीश सरकार की दमनकारी नीती की कड़ी आलोचना की जाती थी । इस समय प्रकाशित समाचार पत्रों में संवाद कौमुदी(1882), बंगदूत(1831), अमृतबजार पत्रिका(1882), हिन्दू, आर्य दर्शन एवं बंधवा प्रमुख है । इन समाचार पत्रिकाओं के माध्यम से जनता में ब्रिटीश शासन के प्रति घृणा एवं असंतोष की भावना उत्पन्न हुई फलतः जिससे राष्ट्रीय आन्दोलन अधिक प्रबल हुई । इन पत्रों की प्रभाव को रोकने केलिए ब्रिटीश सरकार ने 1878 ईं में वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट पास किया, जिसके द्वारा भारतीय समाचार पत्रों को बिलकुल नष्ट कर दिया गया । इस एक्ट ने भी राष्ट्रीय आन्दोलन की लहर को तेज कर दिया गया । समाचार पत्रों के अलावा तत्कालीन साहित्य भी इसका सर्वोत्तम उत्तरदायी कारक था । श्री बंकिमचंद्र चटर्जी ने 'वन्देमातरम' के रूप में देशवासियों को राष्ट्रीय गान दिया । इनसे भारतीयों को देश प्रेम की भावना जागृत हुई । इसी प्रकार भारतेन्तु हरिश्चंद्र का 'भारत दुर्दशा', बंकिम चन्द्र चटर्जी का 'आनंद मठ', रवीन्द्रनाथ टैगोर का 'गोरा', प्रेमचंद का 'सोजेवतन', केशवचंद्र सेन का 'वामबोधिनी' नामक उपन्यास जैसे कई साहित्यकारों की साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से भी राष्ट्रीयता का उदय और विकास हुआ ।

1857 की क्रान्ति

1857 का स्वतंत्रता संग्राम इस काल की प्रमुख घटना है । इस क्रांति का मुख्य कारण राजनैतिक था । लार्ड डलहौजी का दमनकारी नीती से भारतीय जनता निराशा से डूब गईथी । राजनैतिक दृष्टि से छोटी–छोटी रियासतों के राजाओं की पेंशन बंद कर दी गई थी । धार्मिक दृष्टि से सम्पूर्ण प्रजा भयभीत थी कि सरकार सभी को ईसाई बना लेना चाहती है । आर्थिक क्षेत्र में भी दिन प्रतिदिन टैक्सों का बढ़ना तथा सामाजिक दृष्टिकोण से यूरोपियों का भारतीयों के प्रति हीन भावना प्रदर्शित करना आदि कई कारण थे जिन्होंने

मिलकर सारे देश में क्रांति का रूप धारण कर लिया । अपने जीवन का बलिदान कर अपने देश को इस अंग्रेजी राज्य से मुक्त करना ही उनका उद्देश्य था । यद्यपि क्रांति विफल रही पर राष्ट्रीय चेतना भारतीय मनो मस्तिष्क पर हावी हो गई । इसके बाद भारतीयों में अंग्रेजों के प्रति एक उत्कट घृणा की भावना छा गयी और क्रांति का विचार आते ही उनमें अंग्रेजों से बदला लेने की भावना बलवती हो गयी थी । यह संग्राम राष्ट्रीयता का प्रथम संग्राम कहा गया था ।

इलबर्ट बिल पर विवाद

राष्ट्रीय आन्दोलन को इलबर्ट बिल ने बहुत प्रोत्साहन दिया । लार्ड रिपन के शासन काल में 1883 में इलबर्ट विधि मंथी था । इसने केन्द्रीय व्यवस्थापिका में एक विधेयक पारित किया, जिसमें कहा गया कि सभी न्यायाधीशों को, चाहे वे भारतीय हो या अंग्रेजी समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए । इसके अनुसार भारतीय न्यायाधीश अंग्रेजों को दण्डित कर सकते थे । इसका अंग्रेजों ने पुरजोर विरोध किया । इसके फलस्वरूप 1883 में अंग्रेजी नीति के विरोध केलिए सुरेन्द्र नाथ बानर्जी ने एक कांफ्रेंस बुलाई, जिसका परिणाम राष्ट्रीयता की जागृति में सकारात्मक रहा ।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारत में राष्ट्रीयता का उदय और विकास ब्रिटीश सरकार की अनीतियों और शोषण के परिणामस्वरूप हुआ था । आधुनिक युग में ही राष्ट्रीयता को एक निश्चित रूप प्राप्त किया । हालाँकि अंग्रेजों ने आपकी स्वार्थ सिद्धि के लिए जिन-जिन यातायात का विकास, राजनीतिक एकता एवं पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार हुआ इसने यदि एक ओर ब्रिटीश शासन को लाभ हुआ तो दूसरी ओर अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीयता के जन्म में भी कारण बन गयी । इन साधनों ने देश को एकसूत्र में बाँधने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । यही नवचेतना से प्रेरित होकर मध्यवर्ग ने भारतीय जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित किए । इसी वर्ग के माध्यम से भारत आधुनिकता की ओर अग्रसर होकर संसार के अन्य देशों से संपर्क स्थापित कर सका है ।

भारतीय नवजागरण ने हमारे देश को प्रगति की निश्चित दिशाएँ प्रदान की और भारतीयों में अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम जागृत किया ।

राष्ट्रीयता और देश भक्ति

राष्ट्रीयता और देशभक्ति को अलग– अलग रूप में समझा जा सकता है । अपने देश की भूमि के प्रति अनुराग देशभक्ति है और इस भूमि पर रहनेवाले निवासियों में एकानुभूती द्वारा देश को उन्नत और समृद्ध बनाना राष्ट्रीयता है । देश की वंदना, गौरवगान, प्राचीन संस्कृति पर अभिमान आदि देशभक्ति की भावना को उद्दीप्त करते हैं, जबकि देश का सामाजिक, सांस्कृतिक,राजनीतिक और आर्थिक उत्थान राष्ट्रीयता को पुष्ट करता है । डॉ. मोहन अवस्थी राष्ट्रीयता और देशभक्ति को अंतरित करते हुए लिखते हैं– "देशप्रेम प्राकृतिक सौन्दर्याकर्षण का उल्लास है, राष्ट्रप्रेम उच्च विचार और सहानुभूति का फल है । राष्ट्रप्रेम ही वस्तुतः प्रेम है, देशप्रेम तो एक भाव मात्र है ।"[1]राष्ट्रीयता एक समूहगत चेतना अपने देश के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति की होती है, यही चेतना देशभक्ति के रूप में उद्‌बुद्ध होकर आवश्यकता पड़ने पर देश के लिए त्याग एवं बलिदान की प्रेरणा जगाती है । प्रायः देश प्रेम और राष्ट्रीयता को भिन्न अर्थों में रखकर विचार किया जाता है । प्राचीन और मध्य काल में भिन्नता हो सकती है, किन्तु वर्तमान समय में देश भक्ति और राष्ट्रीयता शब्द पर्याय हो गए हैं । 'देशभक्ति','जन एकता' और 'जनसंस्कृति' किसी भी राष्ट्र के निर्माण के लिएआवश्यक अंग हैं । देशभक्ति के आधार पर ही राष्ट्रीयता की कल्पना की जा सकती है ।डॉ. सुधीन्द्र ने अपनी पुस्तक हिन्दी कविता में युगांतर में लिखा है – "राष्ट्रीयता के मूल में देशप्रेम बीज रूप में विद्यमान रहता

---

[1]डॉ ॰ मोहन अवस्थी , आधुनिक हिन्दी काव्य शिल्प , पृ .55

है । देशभक्ति, जन एकता और जन संस्कृति – राष्ट्र के तीन परिपार्श्व हैं परंतु देशभक्ति आधारभूत है, जिसके बिनाराष्ट्रीयता की कल्पना नहीं की जा सकती है ।वस्तुतः राष्ट्रीयता से देशभक्ति का मौलिक अंतर यह है कि राष्ट्रीयता के अभाव में भी देश भक्ति विद्यमान रह सकती है । परंतु उस स्थिति में जब राष्ट्र के राजनीतिक जीवन का संचालन राष्ट्रीय शक्तियों द्वाराही होता है। तब राष्ट्रीयता और देशभक्ति में विभाजक रेखा खींचना बहुत कठिन हो जाती है ।"[1]इस देशभक्ति के प्रति अंध रागात्मक भावना ही बाद में राष्ट्रीयता की ओर चली गयी । राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति की उन्मत्तावस्था विश्व समाज के लिए बड़े बड़े अनर्थ और कहर ढह चुकी है । इसलिए राष्ट्रों के परस्पर वैमनस्य, विरोध और संघर्ष की प्रवृत्ति को जड़ मूल से उघाड़ फेंकने के उद्देश्य से 'अंतर्राष्ट्रीयता' के स्वरों की अनुगूँज आजकल बल पकड़ रही है ।

अंतर्राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता दोनों में समाज के अभ्युदय और मानव प्रेम का भाव निहित है । अंतर्राष्ट्रीयता का क्षेत्र निश्चय ही बहुत व्यापक है, क्योंकि इसकी मूल में विश्वबंधुत्व की भावना है, मानवतावाद है । यह समूची मानवजाति के प्रति आत्मीयता का बोध कराती है, विश्व बंधुत्व की ओर उन्मुख करती है । अंतर्राष्ट्रीयता का ध्येय है – स्वशासित राष्ट्रों का एक ऐसा परिवार निर्मित करना,जो समानता और परस्परिक एकता के सूत्र में बंधा हो । सष्ट है कि वह राष्ट्रीयता जो राजनीतिक क्षेत्र में पूरे राष्ट्र को एक इकाई मानकर उसे अभ्युत्थान को अपनालक्ष्य बनाती है, उदात्त राष्ट्रीयता कही जा सकती है । साथ ही यह अन्य राष्ट्रों के प्रति उदार नीति भी अपनाती है। जब जन्मभूमि को स्वर्ग

---

[1] डॉ॰ सुधीन्द्र , हिन्दी कविता में युगांतर ,पृ. 236

से भी महान मानने के साथ–साथ अन्य देशों के प्रति जो सद्भावना ओर अनाक्रमकता की भावनायें रखती है तब अंतर्राष्ट्रीयता बढ़ जाती है । दूसरे राष्ट्रों के प्रति दुराव या द्वेष भाव नहीं होता है वरन् उसके प्रति बंधुत्व का भाव होताहै, जिससे ही एक राष्ट्र का विकासहोता है । ऐसी भावना विशिष्ट है आज की विश्व शांति केलिए मानवतावाद का यह शुद्ध रूप अत्यंत आवश्यक है ।

राष्ट्रीयता के लिए आवश्यक तत्व

राष्ट्र को समृद्ध, उन्नत और गौरवशाली बनाने के लिए तथा राष्ट्रीय एकता का निर्माण करने के लिए तत्वों का होना अनिवार्य है । धर्म,भौगोलिक एकता, संस्कृति,परम्पराओं की एकता और समान ऐतिहासिकता जैसे तत्व किसी न किसी रूप में कार्य करते हैं । इसमें प्रत्येक तत्व की निजी विशेषताएँ होती हैं । कुछ तो मुख्य रूप से कुछ गौण रूप में राष्ट्रीय एकता के लिए सहायक होती है ।

भौगोलिक एकता

किसी भी राष्ट्र के निर्माण केलिए एक विशिष्ट भूभाग का होना आवश्यक है । भूमि के अभाव में राष्ट्रीयता का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता । भू भाग के ही आधार पर समस्त जन समूह के प्रति सहज स्नेहिल भाव उभरता है । डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी ने फंडमैंटल यूनिटी ऑफ इंडिया में राष्ट्रीयता के उदय के लिए भौगोलिक एकता को प्रमुखता दी है । उनके अनुसार स्थायी भूमि के अभाव में राष्ट्रीयता उसी प्रकार निरर्थक है जैसे कि शरीर के बिना कपड़े । दुनिया में कई ऐसी नस्लें पायी जाती हैं जो एक

निश्चित भू भाग में न बस पाने के कारण राष्ट्र से वंचित रह गई । उदाहरण केलिए जिप्सीयों की ओर देखा जाए तो ये दुनिया के अलग अलग राष्ट्रों में निवास कर रहे हैं ,पर उनका कोई अपना राष्ट्र नहीं है । जो जिस राष्ट्र में निवास कर रहा हो वही उसका राष्ट्र है । तो कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय जीवन को सदैव जागृत करने केलिए स्वदेश की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है । अपनी मातृभूमि के प्रति ममता की भावना तथा अमित श्रद्धा से ही राष्ट्रीय विचारों का जन्म होता है । देश के सभी प्राणी अपने भूमी के प्रति अपनत्व की भावना रखते हैं । इस लिए अपनी भूमि को मातृभूमि कि संज्ञा गी गयी है । एक देश की धरती पर रहनेवाले प्राणियों में धर्म,विचार, विश्वास तथा भाषा भिन्न हो सकते हैं परंतु मातृभूमि का संबंद्ध उन्हें एकसूत्र में बांधने का कार्य करता है ।

भाषा

भाषा को राष्ट्र निर्माण में एक प्रमुख साधन माना है । राष्ट्र की वाणी है भाषा । भाषा के माध्यम से उस देश के निवासी अपनी इच्छाओं को अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हैं । भाषा के माध्यम से ही मानव अपने सांस्कृतिक मूल्यों को पीढ़ी दर पीढ़ी तक जीवित रख सकता है । अतः राष्ट्र को प्रभावशाली बनाने का साधन है भाषा की एकता । एक भाषा– भाषी एक दूसरे के विचारों को भलीभाँति समझ सकते हैं तथा एक दूसरे के सुख दुख में सहयोगी बन सकते हैं । यहीं से एकानुभूति की भावना का प्रादुर्भाव होता है । बंग्लादेश इसका बहुत बड़ा उदाहरण है कि राष्ट्रों कि निर्माण में कई बार धर्म

से भी अधिक महत्वपूर्ण भाषा की भूमिका होती है । राष्ट्र के संबंध में भाषा को लेकर रैम्नेम्योर का कथन महत्वपूर्ण है कि "यदि समान्यतः भाषा से एक सामान्य साहित्य, महान विचारों की एक सामान्य प्रेरणा, गीतों और लोक कथाओं की एक सामान्य पैतृक संपत्ति का अर्थ लें , तब तो निस्संदेह भाषा का महत्व अन्य अनेक राष्ट्र के निर्माणक कारकों से अधिक है ।"[1] हमें यह भी ध्यान रखने की बात है कि भारत जैसे राष्ट्र में एक राजभाषा के सिद्धान्त के बावजूद कई भाषाएँ अपनी पूरी अस्मिता के साथ विद्यमान हैं ।

धर्म

धर्म ने युग युगांतर से जाति एवं समाज को प्रभावित किया है । भारत में राष्ट्रीयता के विकास एवं राष्ट्रीय एकता को दृढ़ करने के लिए धर्म एक शक्ति शाली तत्व है ? या नहीं यह तो विवादास्पद है । कहना चाहिए कि धार्मिक विश्वास रखनेवाले व्यक्ति परस्पर बंधुत्व के भाव में बंदित रहते हैं । लेकिन जब धर्म की भावना संकीर्ण होकर अन्य धर्मों के प्रति घृणा का समावेश हो जाता है तब धार्मिक भावना राष्ट्रीय एकता में सिद्ध होने लगती है । भारत में धार्मिक संघर्ष के आधार पर ही द्विराष्ट्र सिद्धान्त के अनुसार भारत और पाकिस्तान का बंटवारा हुआ था। हालंड, बेल्जियम, ब्रिटन, ईरान, इसराइल व इराक इसके स्पष्ट उदाहरण हैं जहाँ धर्म के आधार पर युद्ध होते रहते हैं । इसलिए हमें यह धारणा रखनी चाहिए कि प्रथम हम भारतीय हैं बाद में हिन्दू या मुसलमान ।

---

[1]जितेंद्र श्रीवास्तव, भारतीय राष्ट्रवाद और प्रेमचंद ,पृ .14

परंपरा

राष्ट्रीय एकता के निर्माण के लिए परंपरा एवं इतिहासबोध की बात महत्वपूर्ण है । परंपरा संस्कृति का वह भाग है जिसमें भूतकाल से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य तक एक निरंतरता बनी रहती है । यह ज़रूरी नहीं कि परंपरा जीवन के हर क्षेत्र में समान रूप से प्रभावी हो । संस्कृति की संज्ञा मानव की सीखे हुए व्यवहार– प्रकारों कोदी जाती है । वैसे तो संस्कृति का पूरा स्वरूप ही ऎतिहासिक सन्दर्भों से निर्मित होता है,किन्तु उसके ऐसे मूल्यों और व्यवहार प्रकारों को, जिनकी जड़ें इतिहास में बहुत गहरी है, परंपरा कहा जाता है । सभ्यता, दर्शन, इतिहास, धर्म, कला, परंपरा आदि के सम्मेलन से संस्कृति का निर्माण और विकास होता है । प्राचीन गौरवपूर्ण परम्पराएँ भी राष्ट्रीय संस्कृति का अंग होती हैं । इनकी गौरवगाथा से प्रेरित होकर भविष्य को उज्वल बनाने में सहयोग मिलता है । जिससे राष्ट्रीयता का रास्ता खोला जा सकता है ।

संस्कृति

राष्ट्र की राष्ट्रीयता के निर्माण में संस्कृति की भूमिका बड़ी होती है । निसंदेह भारत विभिन्नताओं का देश रहा है । प्रत्येक देश की अपनी एक संस्कृति होती है । देश में इतनी सारी संस्कृतियों के होते हुएभी उन सबके मूल में एकता होती हैं । अनेकता में एकता की भावना रहने पर भी सांस्कृतिक एकता ही राष्ट्रीय एकता की भूमि बन पाती है । इतिहास का रोचक सत्य है कि राष्ट्रके रूप में भारत का निर्माण न तो एक समान भाषा के आधार पर

हुआ और न ही इसके भू भाग पर एक राजनैतिक सत्ता के निरंतर अस्तित्व के कारण, बल्कि इसका आधार सदियों से विकसित हुई संस्कृति के कारण हुआ है । इतिहासकार सर विंसेंट स्मित का विचार है कि, "बिना किसी संदेह के भारत के पास अंतर्निहित मूलभूत एकता है जो राजनैतिक प्रभुता या भौगोलिक विगलन से ज़्यादा शक्तिशाली है । यह एकता जाती, धर्म, वंश, रंग, भाषा व रीति– रिवाज की तमाम विभिन्नता कोपार करती है । यह अंतर्निहित सांस्कृतिक एकता, हमारी राष्ट्रीय पहचान की सभ्यतामूलक आधार के साथ–साथ चरम जीवनमूल्य भी है ।

वास्तव में संस्कृति एक समूह की जीवनपद्धति की परिचायक है अर्थात संस्कृति का अस्तित्व समाज के अस्तित्व से संबद्ध है "संस्कृति किसी समाज में गहराई तक व्याप्त गुणों के समग्र रूप का नाम है ,जो उस समाज के सोचने, विचारने का कार्य करने,खाने,पीने,बोलने,नृत्य,गायन,साहित्य,काला, वास्तु आदि में परिलक्षित होती है"।[1]संस्कृति का वर्तमान रूप किसी समाज के दीर्घ काल तक अपनायी गयी पद्धतियों का परिणाम होता है । एक सामाजिक वर्ग के सदस्य के रूप में मानवों की सभी उपलब्धियाँ उसकी संस्कृति से प्रेरित कही जा सकती है । इसलिए मानव के विकास में परंपरागत संस्कारों का बड़ा हाथ रहता है । "'संस्कृति' शब्द आजकल अत्यंत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है । इस शब्द की व्याख्या धार्मिक, साहित्यिक एवं इतिहासवेत्ता विद्वानों ने अपने अपने

---

[1]सुभाष शर्मा, संस्कृति और समाज,भूमिका से

दृष्टिकोण के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार से की है । संस्कृत के धार्मिक विद्वानों का विचार है कि संस्कृति शब्द 'सम' उयसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से सुट्ट का आगम करके 'क्तन्' प्रत्यय लगाकर बना है जिसका शाब्दिक अर्थ है संशोधन करना, सुधारना, उत्तम बनाना,सुंदर या पूर्ण बनाना अथवा परिष्कार करना ।"[1] अंग्रेज़ी में संस्कृति के लिए (culture) शब्द व्यवहृत किया जाता है । यह कल्चर शब्द लैटिन भाषा के कुलचुरा तथा 'कोलियर' शब्द से निकला है अतः इसका अर्थ भी पैदा करना या सुधारना है।

डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकर का कथन है –"मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है उसी को संस्कृति कहते हैं । मनुष्य ने धर्म का जो विकास किया, दर्शन शास्त्र के रूप में जो चिंतन किया, साहित्य,संगीत और कला का जो सृजन किया, सामूहिक जीवन को हितकर और सुखी बनाने के लिए जिन प्रथाओं व सस्थाओं को विकसित किया उन सबका समावेश हम संस्कृति में करते हैं "।[2]

रामधारीसिंह दिनकर ने लिखा है "संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं । हम जिस समाज में पैदा हुए हैं अथवा जिस प्रकार से हम मिलकर जी रहे हैं उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति ही है । यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं यह भी हमारी संस्कृति का अंग बन

---

[1]रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय,पृ. 06

[2] सत्यकेतु विद्यालंकार, भारतीय संस्कृति का विकास, पृ .11

जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी संतानों के लिए छोड़ जाते हैं । इसलिए संस्कृति वह चीज़ मानी जाती है जो सारे जीवन में व्याप्त हुई है,जिसकी रचना विकास में अनेक सदियों के अनुभव का हाथ है । यहीं नहीं,बल्कि संस्कृति हमारा पीछा जन्म – जन्मांतर तक करती है।''[1]

महादेवी वर्मा के शब्दों में – "संस्कृति शब्द से हमें जिसका बोध होता है वह वस्तुतः ऐसी पद्धती है जो एक विशेष प्राकृतिक परिवेश में मानव निर्मित परिवेश संभव कर देती है और फिर दोनों परिवेशों की संगति में निरंतर स्वयं आविष्कृत होती रहती है । यह जीवन पद्धति न केवल बाह्य,स्थूल और पार्थिव है और न मात्र आंतरिक, सूक्ष्म और अपार्थिव । वस्तुतः उसकी ऐसी दोहरी स्थिति है,जिसमें मानुषी के सूक्ष्म विचार,कल्पना, भावना आदि का संस्कार उसकी चेष्टा, आचरण आदि बाह्याचार की परिष्कृति उसके अंतरजगत पर प्रभाव डालती है ।''[2]

मुक्तिबोध के अनुसार – "जीवन जैसा है उसे अधिक सुंदर एवं मंगलमय बनाने के इच्छा आरंभ से ही मनुष्य में रही है। यही इच्छा जब सामाजिक स्तर पर रूप लेती है तब यह संस्कृति कहलाती है । जिसके अंतर्गत कला,नीती,धर्म,

---

[1] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय ,पृ. 8

[2]महादेवी वर्मा, भारतीय संस्कृति के स्वर,पृ .84

साहित्य,संगीतआदि आते हैं । संस्कृति समाज की मूलदायिनी शक्ति है ,राजनौतिक शक्ति से भी अधिक । ''[1]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आलोक में संस्कृति की परिभाषा के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि संस्कृति एक समाज में पायी जानेवाली उच्चतम मूल्यों की वह चेतना है जो सामाजिक प्रथाओं, व्यक्तियों की चित्तवृत्तियों, भावनाओं,मनोवृत्तियों, आचरण के साथ साथ उसके द्वारा भौतिक पदार्थों को विशिष्ट स्वरूप दिये जाने में अभिव्यक्त होती है । यह जीवन जीने की विशिष्ट शैली है ।

'सभ्यता' ऐसे पद है जिससे संस्कृति को प्रायः जोड़ा जाता है । बाहरी तौर पर संस्कृति और सभ्यता में भले ही एकरूपता दिखाई पड़ती हो परंतु आंतरिक तौर पर दोनों मदें कुछ मूलभूत अंतर है, दोनों की अपनी अपनी विशिष्टताएं हैं ।

भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ

किसी भी देश की अपनी परंपरा अपना इतिहास होता है । और उस देश की संस्कृति उस देश की आत्मा होती है । भारतीय संस्कृति विश्व की सबसे पुरानी एवं समृद्ध संस्कृति मानी जाती है । इसे सभी संस्कृतयों की जननी कहा जाता है । "यहाँ पर द्रविड़,आर्य,शक, पठान आदि इतनी ही जातियाँ आईं और सभी ने अपनी अपनी संस्कृति से भारतीय संस्कृति को

---

[1] नेमिचन्द्र जैन (सं), मुक्तिबोध रचनावली भाग 4,पृ .151

प्रभावित किया, परंतु भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह समन्वय प्रधान है । इसी कारण आज तक यह अक्षुण्ण एवं एकरूपवती बनी हुई हैं । अन्य सभी संस्कृतियाँ यहाँ आकर अखंड स्रोत में ऐसी विलीन हो गई हैं कि आज उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं दिखाई देता । यही संस्कृति अपने इसी गुण के कारण अन्य संस्कृतियों का सम्मिश्रण होने पर भी मौलिक रूप में विद्यमान है, जबकि संसार की प्राचीन से प्राचीन संस्कृतियाँ या तो परिवर्तित हो गयीं या वे सदैव के लिए अतीत के गर्भ में समा गई । मिस्र,असीरिया, बेबीलोनिया आदि देशों की संस्कृतियों का यही हाल है कि उनका प्राचीन रूप नष्ट हो चुका है" [1]।पर भारत की प्राचीन सभयता एवं संस्कृति ने हजारों साल बीत जाने पर भी अपने अस्तित्व के मूल को सुरक्षित रखा है । यह कहानी है एकता और संश्लेषण, समन्वय और विकास का, पुरानी परम्पराओं और नए मूल्यों के समानीकरण एवं सामंजस्य की है ।

भारतीय संस्कृति की विशेषता के संदर्भ में जवहरलाल नेहरू के विचार है – "मानवजाति को भारतवासियों ने जो सबसे बड़ी चीज़ वरदान के रूप में दी है, वह यह है कि भारतवासी हमेशा ही अनेक जातियों के लोगों और अनेक प्रकार की विविधताओं के बीचएकता कायम करने की उनकी लियाकता और ताकत लाजवाब रही है ।"[2]

---

[1]सत्यकेतु विद्यालंकार, भारतीय संस्कृति का विकास, पृ .12

[2]रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 96

मैक्स मूलर ने भारतीय संस्कृति के अन्य संस्कृतियों पर प्रभाव के विषय में इसप्रकार लिखा है – "अगर में अपने आपसे यह पूछूं कि केवल यूनानी,रोमन और यहूदी भावनाओं एवं विचारों पर पलनेवाले हम यूरोपीय लोगों के आंतरिक जीवन को अधिक समृद्ध अधिक पूर्ण और अधिक विश्वसनीय सक्षेप में अधिक मानवीय बनाने का नुस्खा हमें किस जाती के साहित्य में मिलेगा, तो बिना किसी हिचकिचाहट से ऊँगली हिंदुस्तान की ओर उठेगी" । [1]

भारतीय संस्कृति की विशेषता के विषय के संदर्भ में बाबू गुलाब राय ने इस प्रकार विचार किया है – "हमारी संस्कृति प्रकृति की गोद में पाली हुयी आध्यात्मिक संस्कृति है जिसमें विनय और शील को प्रमुखता दी गयी है । सब में एक ही आत्मा के दर्शन करने का प्रयास किया गया है और सबके लिए सर्वभवन्तु सुखिनः सवैसंतु जनमया की सद्भावना की गई है ।''[2]

"प्राचीन काल से ही भारत में अनेक जातियों का आगमन होता रहा है और वे सभी जातियाँ भारतीय संस्कृति की गंगा में मिलकर उसी तरह एक में हो गयीं जैसे अनेक छोटी बड़ी नदियॉ गंगा में मिलकर गंगा ही हो जाती हैं । इस संस्कृति का सत्य के प्रति खुलेपन के आग्रह ने इसके अंतर्गत वैचारिक विविधताओं को ही निर्बाध ढंग से पनपने का अवसर प्रदान किया है । रुचि

---

[1]वहीं ,पृ .97

[2] वहीं ,पृ. 87

प्रवर्त्तियों की अनगिनत विभिन्नताओं को एक सर्वसमावेशी गंतव्य ने नियोजीत करने की अद्‌भुत क्षमता इस संस्कृति में रही है । ''[1]

कृष्णदत्त पालीवाल के अनुसार भारतीय संस्कृति की मूल्य बोधी दो धाराएँ परस्पर संघर्ष और सहयोग की शक्ति से निरंतर प्रवाहित होती रही जिससे मुख्य रूप से द्रविड़ संस्कृति और आर्यों की वैदिक संस्कृति का स्वरूप उभर आता है। अर्थात आर्य – अनार्य तत्वों के मेल से भारतीय संस्कृति मिश्र संस्कृति के रूप में विकसित हुई है । जिसे हजारी प्रसाद द्विवेदी मिश्र संस्कृति कहते हैं उनके अनुसार विशुद्‌ध आर्य संस्कृति जैसी चीज़ नहीं है, देश और जाति की विशुद्‌ध संस्कृति केवल बात की बात है । सब कुछ मिलावट है, सब कुछ में अविशुद्‌ध है । विशुद्‌ध आर्य संस्कृति जैसी चीज़ नहीं है । भारतीय संस्कृति की महानता के कारण है विभिन्न संस्कृतियतों का समन्वय और सम्मिश्रण संभव हो पाया है और भारत ने बिना किसी भेदभाव से उन सभी के साथ सहिष्णुता एवं प्रेम का भाव प्रदर्शित किया ।

अतः स्पष्ट है भारतीय संस्कृति विविधता में एकता का एक अनुपम उदाहरण है । इस अनुपम संस्कृति का अखंड अनवरत प्रवाह सदियों से चला आ रहा है ।इसका प्रवाह 'स्व' के सीमित दायरे से 'पर' तक पहुंचने की रही है । इसलिए भारतीय संस्कृति का मूलाधार 'वसुदैव कुटुम्बकम'पर आधारित है । इस तरह की संस्कृति को कई तरह के खतरों

---

[1] अंबिकादत्त शर्मा,भारतीयता के सामयिक अर्थ संदर्भ, पृ . 80

और चुनौतियों का सामना करनापड़ता है । आज भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव हावी हो गया है । सांस्कृतिक एकता को विकृत किया गया । साथ ही भूमंडलीकरण के इस दौर में संस्कृति उपभोक्ता संस्कृति में परिणत हो गयी है ।

उपनिवेशवाद

उपनिवेश का अर्थ है, ऐसा क्षेत्र जहाँ प्रभुत्वशाली शक्ति अपने स्पष्ट बल प्रयोग द्वारा या चुपके से उस क्षेत्र पर नियंत्रण करके अपनी आर्थिक, राजनीतिक शक्ति स्थापित करती है । इतिहास में प्रायः पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक उपनिवेश का काल रहा था । इस काल में यूरोप के जमातों ने विश्व के विभिन्न भागों में अपना शासन जमाया था। उपनिवेश के प्रारम्भिक दौर में वह व्यापार तक सीमित था लेकिन बाद में उनकी षड्यंत्र उपनिवेशितों की राजनीति,धर्म,संस्कृति सबको अधीन रखा । उपनिवेश की प्रक्रिया मुख्यतः होलैंड, स्पेन और पुर्तगाल द्वारा अमेरिकी, एशिया और आफ्रिका में केन्द्रित रही । इन उपनिवेशवादी शक्तियों ने कमजोर एवं आर्थिक रूप से पिछड़े हुए इन राज्यों पर अपना क्रूर एवं बर्बरतापूर्ण शासन कार्य अनेक युगों तक ज़ारी रखा । किन्तु उन्नीसवीं शती के शुरू होते ही उपनिवेशवादी शक्तियों के आधिपत्य से कानडा, अस्ट्रैलिया और अमेरिका स्वतंत्र हुए । दो विश्व युद्धों ने भी साम्राज्यवादी शक्तियों को इतना अधिक कमजोर किया कि वे पराधीन राष्ट्रों पर अपना साम्राज्यवादी नियंत्रण बनाए रखने में अयोग्य सिद्ध होने लगे । लगातार उठ रहे मुक्ति आंदोलनों ने बड़े

बड़े साम्राज्यों को नष्ट कर दिया । फलतः उपनिवेश या साम्राज्यवाद का अंत हो गया।

नवउपनिवेशवाद बनाम भूमंडलीकरण

वैश्वीकरण अथवा भूमंडलीकरण को नव उपनिवेशवाद के संकट के रूप में परिभाषित किया जा रहा है । यह वास्तव में विश्व के गरीब राष्ट्रों को आर्थिक एवं वैज्ञानिक सहायता प्रदान करके उन्हें विकास की ओर अग्रसर करने केलिए दुनिया के विकसित राष्ट्रों ने मिलकर बनाई गई योजना ही है । इसलिए विश्व राष्ट्रों का एक खुला मंच तैयार करना इसका लक्ष्य था । इस प्रक्रिया में सम्पूर्ण विश्व सिमटकर एक हो जाता है और देश की सीमाओं को भूलकर अंतराष्ट्रीय निगमों से तथा बहुराष्ट्रीय निगमों से भी व्यापारिक तौर पर संबंद्धता स्थापित करती है । अतः पूरी दुनिया को एक भूमंडलीय गाँव के रूप में मानने की अवधारणा ही हैभूमंडलीकरण । इसे मुक्त बाज़ार, पूँजीवाद का पर्याय माना जा सकता है । मैनेजर पांडेय की शब्दों में "भूमंडलीकरण शब्द नया है लेकिन वह जिस प्रक्रिया को व्यक्त करता है वह पुरानी है । कार्ल मार्क्स ने बुनियादी विशेषता यह बताई थी कि वह सारी दुनिया में अपना विस्तार करता है । यह प्रक्रिया यूरोप में पूँजीवाद के जन्म के साथ ही शुरू हो गयी थी । लेकिन इस प्रक्रिया की दो अवस्थाएँ है पहली अवस्था साम्राज्यवाद या उपनिवेशवाद की थी । जिसका सामना भारत ने ब्रिटिश के रूप में किया था । दूसरी अवस्था उपनिवेशवाद समाप्त हो जाने के बाद की ओर संभव हो गया कि दूसरे देशों में जाकर अपने उपनिवेश कायम

किये बिना ही अपने साम्राज्य का विस्तार कर सकें। इस दूसरी अवस्था का नाम हीभूमंडलीकरण है ।''[1]

भूमंडलीकरण मुख्यतः पूँजीवाद के हित में बनाई गयी अवधारणा ही है । इसके केंद्र में अमेरिका ही है ।जो बहुराष्ट्रीय कंपनियों के माद्यम से अविकसित देशों की बाज़ार में तब्दील किया जा रहा है ,और समस्त संसार को व्यापार की दृष्टि से देखती है । वे एक ऐसी विश्व व्यवस्था का निर्माण करना चाहती है जिसमें अबाद व्यापार संभव हो सके । भूमंडलीकरण जैसी शब्द से पहली नज़र में यह बोध होता है कि यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें अपने छोटे स्वार्थों से ऊपर उठ लोग सारे संसार की मंगल कामना में जुड़ जाएँगे । किन्तु इसके पीछे बड़ी और बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपना जाल फैला रही हैं, उनमें यह सर्वमंगल की अवधारणा व्यर्थ है ।"इससे निकलनेवाली सर्व जन हिताय सब जनसुखाय की ध्वनि के विपरीत यह व्यवस्था सारे संसार को कुछ सशक्त पूँजीवादी प्रतिष्ठानों यानी बहुराष्ट्रीय कंपनीयों और उनके संकेन्द्रण के सबसे सबल केंद्र अमेरिका के हितों की रक्षा का माध्यम बनी हुई है । संसार को एक करने की इसकी दृष्टि पूरी तरह एक आयामी है ।''[2] भूमंडलीकरण पूँजीपतियों की एक सोची समझी जाल है कि जिसमें फँसकर आम आदमी अपने विचारों को भी उनके हाथों में बिना कोई प्रश्न किए ही थमा देता है और यह एक ऐसी मायावी शक्ति का नाम है जो

---

[1]मैनेजर पांडे, आलोचना की समाजिकता, पृ .165

[2] सच्चिदानंद सिन्हा, भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ, भूमिका से

अपने विरोधियों से भी परोक्ष रूप से अपने पक्ष की बात करवा लेती है । इस विचार पर सहमति देते हुए प्रभाखेतान का कहना है " दुनिया को हर संस्कृति अपनी बचाव में भूमंडलीकरण पर सवाल उठाती है, इसे चुनौती देती है । मगर अंततः भूमंडलीकरण से प्रभावित होती है । पश्चिम सारी दुनिया को प्रभावित करना चाहता है । शायद इसीलिए भूमंडलीकरण को पश्चिमी संस्कृति के दिग्विजय का माध्यम माना जाता है ।''[1]

भारत में भूमंडलीकरण की शुरुआत 1986, नरसिंह राव सरकार के समय में गाट्ट समझौता से माना जाता है । इसके कारण भारत के स्वत्व को बनाए रखने वाले बहुत सारी तत्व नष्ट हो गए नहीं तो उन पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों का अधिकार जम गया । फलतः हमारे समक्ष अमेरिकी विचारों जीवन शैली को स्वीकारने के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं बचा है । उसने भारत के बड़े बड़े नगरों को ही नहीं, गांवों कोभी अमेरिका में तब्दील कर दिया । इतिहास की ओर देखें तो दुनिया के दो बड़े शक्तिशाली और साम्यवादी देश सोवियत संघ और चीन भी इसके चपेट में आने से अपने आप को नहीं बचा सके । इस प्रकार से इसने विश्व के लगभग सभी छोटे बड़े देशों को भी अपना घर बना लिया । परिणाम स्वरूप पूरा विश्व एक ही चक्की में पिसा जा रहा है । भूमंडलीकरण में बाजारवाद है, आतंकवाद है, अमानवीयता है, गंदी राजनीती है आदि अनगिनत समस्याएँ जन्म ले चुकी हैं ।

संस्कृति और भूमंडलीकरण

---

[1]प्रभा खेतान, भूमंडलीकरण, ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र, पृ .04

वर्तमान परिवेश की जटिलता ने सबसे ज़्यादा चोट संस्कृति पर की है । भूमंडलीकरण ने संस्कृति को इतना अधिक संकुचित कर दिया है कि पूरे विश्व को आज बाज़ार ने छीन लिया है । बाजा़रवाद ने प्रत्येक वस्तु को उपभोग के दायरे में खड़ा कर दिया । मुनाफा बाजा़रवाद के केंद्र में है । आज बहुराष्ट्रीय कंपनियाँही हमारी बाज़ार व्यवस्था को नियंत्रित नियमित करती हैं । वे भारत को एक भूमंडलीकृत कार्पोरेतीकृत, बाजारवादी देश बना देना चाहते हैं । ये बाजा़रवाद उपभोक्तवाद के माध्यम से काम करता है । उपभोक्तवाद का अर्थ है मनुष्य को भोगवादी बनाना । उपभोक्तवादी समाज में वस्तुओं का कोई उपयोगिता नहीं होता,सिर्फ उपभोग मूल्य होता है । उपभोग संस्कृति का नारा यह है कि उपभोक्ता जितना उपभोग करेंगे उन्हें उतना ही खुशी मिलेगी । इस चकाचौंध में पड़कर पूरी मानव जाती उपभोक्तवाद के पीछे दिगभ्रमित होती जा रही है वह बाजारवादी ताकतों की कटपुतली बनती जा रही है । इससे मनुष्य अधिकाधिक धन, यश, सुख और चैन पाना जीवन का परम लक्ष्य मानता है । अतः भूमंडलीकरण ने जिस नयी संस्कृति कोप्रस्तुत किया है, उसने नए मूल्य संकट को भी जन्म दिया है । मूल्यों को सुरक्षित रखनेवाला हमारा संस्कार भी 'उपभोग करो और फेंको' की विकृत मानसिकता से ग्रस्त हो गया है ।

आज भूमंडलीकरण से तात्पर्य एक तरह सांस्कृतिक साम्राज्यवाद ही है । यहाँ बहुराष्ट्रीय कंपनियों के ज़रिए उत्पाद ही नहीं देश की मूल संस्कृति का विस्तार भी होता है । ये अपने पूँजी और प्रचार तंत्र के द्वारा

हमारे अंदर पश्चिमी देशों की उपभोक्त्वादी संस्कृति को सर्वश्रेष्ठ मानकर हमारी अपनी राष्ट्रीय या आंचलिक संस्कृति के प्रति हीनभावना पैदा करती है । इस आयात या अप संस्कृति को हमारी संस्कृति पर थोपा जाता है । यही संस्कृति, बाद में धीरे धीरे लुप्त होने लगती है । इसे एक तरह का पुनः साम्राज्यवाद के रूप में देखा जा सकता है ।जिसकी अभिव्यक्ति तीसरी दुनिया के बाज़ारों, लोगों के रहन– सहन, खान– पान में साफ देखी जा सकती है । यह हमारी अस्मिताओं, भाषाओं और संस्कृति को भी नष्ट कर रहा है । इसप्रकार पूरी दुनिया को एक खास तरह की छदम संस्कृति यानी कुल मिलाकर एक संस्कृति की छतरी की नीचे लाने का काम कर रहा है । "भूमंडलीकरण द्वारा प्रचारित प्रसारीत की जा रही इस उपभोक्ता संस्कृति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा गैर पूँजीवादी समाजों की पारंपरिक जीवन शैली है जो विभिन्न समाजों में भिन्नभिन्न किस्म की है । इन समाजों की जीवन शैली, खाने पीने की आदतें, सोचने समझने का तरीका उनकी परंपरा वा संस्कृति और इन सबके आधार पर उनमें व्याप्त राष्ट्रीयता बोध इस उपभोकतवादी संस्कृति के प्रसार में बाधा उपस्थित करते हैं । इस लिए भूमंडलीकरण की विचारधारा संस्कृतियों की वैविध्य को मिटाकर सांस्कृतिक समरूपता स्थापित करने की प्रयास करती है ।''[1] फलतः राष्ट्रीयता कमजोर होती जा रही है । हमारी संस्कृति नष्ट हुई जा रही है इसके स्थान पर नशे की संस्कृति, कैबरे और डिस्को संस्कृति, हिप्पी संस्कृति जैसी बीमारियों को अवरोध किया है ।

---

[1]प्रमोद कुमार, भरतेन्दुयुगीन साहित्य में राष्ट्रीयता की अवधारणा,पृ. 98

इस अपसंस्कृतयों को झूंड़ संस्कृति के रूप में स्वीकारते हुऐ शम्भूनाथ का कहना है –" यह समूह या झुंड संस्कृति है, जिसने हज़ारों साल के इतिहास में पहली बार लोक संस्कृति और राष्ट्रीय संस्कृति पर इतना भारी आक्रमण किया है कि संस्कृति की अवधारणा ही बदल गई है – अब कृत्रिमता और विकृति ही संस्कृति है ।''[1] इस संस्कृति की निर्माता सत्ता पक्ष या उच्च वर्ग ही होता है – अभिजात वर्ग से जुड़ी संस्कृति का विरोध, अभिजात वर्ग कभी नहीं करता उसका तो पोषण करता है । इसलिए उच्च संस्कृति और निम्न संस्कृति का भेद करके हाशियेकृतों की संस्कृतियों को निम्न संस्कृति में फेंक देता है । इस प्रकार वैश्वीकरण की प्रक्रिया सांस्कृतिक वैविध्य को समाप्त कर रही है ।

भूमंडलीकरण ने भारतीय कला को भी भूमंडलीकृत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है । लोक कलाएं भी आज बाजारवाद के दबाव में पड़कर उनकी स्वाभाविकता नष्ट हो रही हैं । उसे मनोरंजन तक सीमित करने के लिए उन्हें पॉपुलर बनाया जा रहा है । लोक की शक्ति और सरलता का स्थान ऊपर चमक–दमक और ताम–झाम ने ले लिया है । तथा बाजारवादी संस्कृति एक ऐसी लोकप्रिय संस्कृति (पॉप कल्चर) का निर्माण करता है जो मुनाफा संस्कृति के अनुकूल है । दूसरा परिवर्तन भारतीय समाज की बुनियादी आस्था एवं आधार को लेकर है, इस कुसंस्कृति में पड़कर हमारा जीवन मूल्य, जीवन दृष्टि, जीवन शैली को भी झकझोर कर रख दिया है । इसका स्वाभाविक प्रभाव परिवार में भी पड़ती है ।

---

[1]शभुनाथ, संस्कृति की उत्तर कथा, पृ .178

राष्ट्र और भूमंडलीकरण

भूमंडलीकरण ने राष्ट्र की अवधारणा को काफी प्रभावित किया है । भूमंडलीकरण के प्रभाव स्वरूप राष्ट्र– राज्य की पारंपरिक शक्ति में गिरावट हुई है । अब राष्ट्र राज्यों के राजनीतिक और आर्थिक मामलों में निर्णय लेने की स्वायत्तता कम हुई है । अगर वह ऐसा करता है तो विश्व समाज में उसपर दबाव बढ जाता है । सरकारें अब स्वतंत्र नहीं हैं । अब नीतियाँ वैश्विक नियमों और परिस्थितियों के हिसाब से निर्धारित होती है । भूमंडलीकरण का सीधा एवं सपाट दर्शन यही है कि विकासशील देश अपने बाज़ार का विस्तार करके ही विश्व व्यापार के लाभ का हिस्सेदार बन सकते हैं । विकासशील देश विश्व व्यापार के मुनाफे के प्रलोभन में पूँजी निवेश को आमंत्रित करते हैं । इसके परिणाम स्वरूप विकासशील देशों में विकसित राष्ट्रों की पूँजीवादी बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ छा जाती हैं । ये बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अत्यन्त शक्तिशाली होती हैं, जो अपनी पूँजी और विश्व बिरादरी में अपने रसूख के फलस्वरूप विकासशील देशों की निर्णय प्रक्रिया को भी प्रभावित करती हैं । बहुराष्ट्रीय कंपनियों की अकूत पूँजी की शक्ति के समक्ष विकासशील देश असहाय व लाचार मालूम पड़ते हैं । इस प्रकारभूमंडलीकरण के प्रत्यक्ष प्रभाव के हलस्वरूप राज्य की शक्तियों और आर्थिक मुद्दों में निष्पक्ष कार्य करने की क्षमता में कमी आई है । ''[1]

---

[1]अमित कुमार सिंह, भारत में भूमंडलीकरण, पृ. 239

भूमंडलीकरण की प्रकृति ऐसी है कि वह राष्ट्र को राष्ट्र नहीं रहने देना चाहता बल्कि भौगोलिक सीमाएं तोड़कर अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में विलयन करना चाहता है । व्यक्ति को अपनी जड़ों से काटकर विश्व मानव में बदलने में विश्वास रखता है । उसकी राष्ट्रीय चेतना समाप्त कर अंतर्राष्ट्रीय चेतना में बदल देता है ।भूमंडलीकरण सूचना क्रांति से राष्ट्र की सीमाओं का उल्लंघन करता है जिससे विश्व ग्लोबल होता जा रहा है। राष्ट्रों की सीमा का अब कोई विशेष महत्व नहीं रह गया है ।भूमंडलीकरण का यह प्रचलित नारा है कि राष्ट्रों के मध्य सीमा समप्प्त कर प्रत्येक राष्ट्र –राज्य की विश्व व्यवस्था का एक अवश्य अंग बनाया जाएगा । ताकि विश्व व्यापार से एक अधिकतम लाभ उठाया जा सकें । भूमंडलीकरण के माध्यम से विकसित देशों ने या पूँजीवादी देशों ने कुछ ऐसा राजनैतिक व्यूह रचा है, जिसमें बाज़ार साधन होकर साध्य हो गया है । राष्ट्रीयता को सबसे बड़ा खतरा बाज़ार के द्वारा सांस्कृतिक मिश्रण की मिलन में अपनी नीतियों को मिलाकर समाज को आवेशित करना है । आज भाषा, कपड़ा, बोलचाल सबकुछ ग्लोबल है जिसे अलग कर पाना मुश्किल है । इस मिश्रण ने स्वदेशीपन के भाव को काफी हद तक निराश किया है और पश्चिम के प्रति आकर्षण का भाव बढ़ाया है ,वो बाज़ार की सफलता के कारण है । जिसमें स्थानीयता या देशीपन का भाव दबा और कुचलित सा हो गया है। जिसमें राष्ट्रीयता की भावना निरंतर छीजती चली जा रही है ।

राष्ट्र की बाज़ारवादी,नवउदारवादी नीतियों का परिणाम है कि देश में बेरोजगारी,महँगाई,आर्थिक असमानता बढ़ती जा रही है । भूमंडलीकरण की अनियंत्रित प्रक्रिया ने जिस सामाजिक, आर्थिक संतुलन को जन्म दिया है उसके खतरे आज हमारे सामने हैं।उसकी वैश्विक नीतियाँ पूरी तरह से जन विरोधी,राष्ट्रीयवादी,गरीबी विरोधी ही है । कमल नयन काबरा ने राज्य की इन नवऔपनिवेशीकृत नीतियों की अलोचना करते हुऐ सवाल उठाए हैं "इन गैर – जनतांत्रिक नीतियों में निहित अंतर विरोधों का बुनियाती कारण यह है कि भारत की अर्थव्यवथा आज भी बहुत हद तक अनौपचारिक तथा असंगढ़ित अर्थ व्यवस्था है,जिसमें अपवाद स्वरूप पाये जानेवाले समृद्धि के कुछ छोटे छोटे द्वीपों के अथवा सर्वत्र दरिद्रता और वंचना का अथाह समुद्र है और इस अर्थ व्यवस्था पर थोप दी गयी है । वह बाजारवादी व्यवस्था, जो कहने को स्व–चालित या स्व–नियंत्रित कही जाती है लेकिन राज्य द्वारा पूँजीपतियों के प्रति किए जानेवाले भारी पक्षपात और समर्थन के बल पर चलती है । सबसे बड़ा अंतर्विरोध यह है कि ये नीतियाँ जनतंत्र की कसम खाते हुये जनहित के नाम पर चलायी जा रही, लेकिन नितांत जन विरोधी तथा जनतंत्र विरोधी साबित हो रही हैं । इन नीतियों के कारण भारत एक स्वतंत्र और जनतान्त्रिक भारत बनाने के बजाय बाज़ारीकृत, भूमंडलीकृत और कॉरपोरेटीकृत भारत बन गया है ।''[1] समाज में जो नीतियों बानायी गयी है ये

[1] राकेश कुमार, उत्तर उपनिवेशवाद चुनौतियाँ और विकल्प,पृ. 70

सारी की सारी नीतियाँ उन्हें खुश करने केलिए तैयार की जा रहाहै जिसे पूँजी के अधिकार है । यह बाजारवाद की सिद्धांतिकी है कि जो शक्तिशाली होगा उसका सामाजिक,राजनीतिक वर्चस्व होगा,कमजोर को दबाये जाते हैं । जैसे कि कॉरपोरेट जगत की वर्चस्व के लिए उन्हें जो सुविधाएँ की जा रही हैं कि किसानों एवं आदिवासी विरोध प्रदर्शनों को पुलिस या सेना द्वारा दमनपूर्वक कुचला जा रहा है, आदिवासियों को विस्थापित किया जा रहा है तथा उन्हें आतंकवादी घोषित किया जा रहा है । किसानों की कीमती भूमि छीनकर उन्हें भूमिहीन बना जा रहा है, अपने प्राकृतिक संसाधनों को बेचा जा रहा है, जन कल्याण की कामों की उपेक्षा की जा रही है । ग्रामीण क्षेत्रों, लघु उद्योगों तथा आम आदमी को दी जानेवाली मामूली सुविधाएँ छीनी जा रही है । उन्हें ज़िंदगी की बुनियादी सुविधाओं से वंचित कर कॉर्पोरेट जगत के लिए सभी द्वार खोले जा रहे हैं । अतः भारतीय बहुराष्ट्रीय कंपनियों की कठपुतली बनकर रह गया है । राज्य ने हाशियेकृतों को फेंकते हुए उनके सरोकार और सपने ही बदल दिये हैं । भारत की पूरी जनता स्वतन्त्रता के समय जो सपना देखा था वह तो आगे चलकर टूट गया । इस लिए औपनिवेशिक समाजों की राष्ट्रीयता पर विचार करते हुए बेनेडिक्ट एडारासेन की मान्यता है कि "राष्ट्र कल्पित राजनीतिक समूह है जो बुनियादी तौर पर सीमित और संप्रभु है । राष्ट्र की कल्पना सीमित होती है । दुनिया में ऐसा कोई राष्ट्र नहीं है जो अपनेपन को चौदही में पूरी मानव जाती को समेट लो ।"[1]अतः भारत राष्ट्र के निर्माण की

---

[1] प्रमोद कुमार, राष्ट्रीयता की अवधारणा और भारतेन्दु युगीन साहित्य, पृ .16

प्रक्रिया को तब तक अधूरा मानता है जब तक अंतिम व्यक्ति को विकास की मुख्यधारा में शामिल कर दिया जाएँ ।

सांप्रदायिकता, फासीवाद औरभूमंडलीकरण

भारत एक बहुसांस्कृतिक देश है । इस देश में सांस्कृतिक अंतर्मिश्रण और धार्मिक सौहार्द की एक लंबी परंपरा है । सदियों के साहचर्या सह- अस्तित्व की वजहों से भारत के लोगों में एक दूसरे के प्रति समझ अधिक गहरी होती गयी है । कहा जा सकता है कि राष्ट्रीयता एक समय धर्म निरपेक्षता और संप्रदायवाद के तनाव में फंसी होकर भी विविधता से स्पंदित एक ठोस भारतीय सच्चाई थी । एक उदारवादी राष्ट्र के रूप में ही भारत अपने स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व की रक्षा कर सकता था, क्योंकि इसी हालात में सभी धर्मों और जातियों और जातीयताओं का मिल जुलकर एक राष्ट्र के छत्रछाया में साथ रहना संभव था । इसमें संदेह नहीं कि उस जमाने में लोग अतीत की कलह और जड़ता को भूलकर भविष्य की ओर देख रहे थे । वे भारतीय पुनर्निर्माण की तीव्र इच्छा में रहते थे । एक गहरी विश्व चिंता के साथ लोगों में धर्म, जाति और क्षेत्रीयता से ऊपर उठाकर सोचने की राष्ट्रीय प्रवृत्ति रही है । किन्तु भूमंडलीकरण ने ही राष्ट्र से ऊपर उठकर सोचने केलिए जनता को बाध्य किया।भूमंडलीकरण के युग में ही धर्म, जाति और जातीयता को सत्ता की राजनीती से कसकर जोड़ा गया । फलतःभारत में सह-विकास की भावना कमज़ोर हुई,घृणा की तूफान उठने लगे। इसलिए हिन्दू और मुसलमान को दो विरोधी कट्टर संप्रदायों के तौर पर आमने सामने खड़ा करने

की उनकी साजिश कामयाब हुई । वर्तमान भारत इसका ज्वलंत सबूत है । भारत में ही मात्र नहीं,पूरे विश्व में धार्मिक कट्टरता आज एक उभरती प्रवृत्ति बन गयी है, किन्तु विभिन्न सामाजिक–राजनीतिक परिवेशों में इसका अलग अलग रूप होते हैं । धार्मिक कट्टरता की एक सामान्य प्रवृत्ति यह यह होती है कि प्रायहः सभी मामलों में प्रकृति के लिहाज से यह फासीवादी हुआ करती है । भारत में हिंदुत्ववादी शक्तियाँ, पाकिस्तान में इस्लामीकरण के प्रयास, श्रीलंका में बौद्ध धर्म का सिंहलीकरण आदि सभी इस तथ्य को व्यक्त करते हैं कि बहुत सारे देश सांप्रदायिक एवं फासीवादी शक्तियों के जाल में फंस चुके हैं । ये उभरते हुये यथास्थितिवादी तत्व किसी देश में रह रहे सबसे ज़्यादा अलसंख्यकों के अस्तित्व को चुनौती देते हैं और उस देश या राष्ट्र के लिए खतरा उत्पन्न करते हैं । कट्टर पंथ की उभरती प्रवृत्ति की ओर देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में वे वर्चस्ववाली वर्ग के एकाधिपत्य को बनाए रखना चाहते हैं । हाल के वर्षों में भारत भी सांप्रदायिक कट्टरवादी और फासीवादी ताकतों के उभार का साक्षी रहा है । अपनी राष्ट्रीय पहचान भूलकर भारत के लोग सामुदायिक कूपमंडूकता की ओर बढ़ रहे हैं । और समाज में सामुदायिक द्वंद्व बढ गए हैं ।“यह एक तरह का सांस्कृतिक विभाजन है। यह विभाजन पश्चिमी सभ्यता में ओतप्रोत अंग्रेज़ीन्दा वर्गों और परंपरावादी समझ रखनेवाले आम लोगों के बीच बढ़ती दूरी का नतीजा है । आज के दौर में परमराओं से बंधी जनता अधिक मुखर है । इसने तर्क करनेवालों, सेकुलर व्यक्तियों,और अपनी विचारधारा रखनेवाली लोगों को हाशिये पर फेंक दिया

है ।''[1]समाज में जी रहे मानव में मानवता का नाश हो रहा है , हमारी संवेदनाएँ संकीर्ण हो गयी है,जनता में अराजकता फैल रहा है । ये सब इस वैश्वीकृत– कुसंस्कृति का प्रभाव से ही है ।

राष्ट्रवाद

राष्ट्र और राष्ट्रीयता की तरह राष्ट्रवाद भी एक आधुनिक अवधारणा ही है । 19 वींसदी से भारत में 'राष्ट्रवाद' शब्द नहीं था तो राष्ट्रीयता की भी प्रासंगिकता नहीं पड़ीं । लेकिन आज राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद पर लोग गहराई से विचार करने लगे । यह इसलिए कि हम जिसे राष्ट्रीयता मानते आ रहे हैं वह एक प्रकार से संकट पर है । किसी राष्ट्र में राष्ट्रीयता विकसित होने के बाद ही राष्ट्रवाद का जन्म होता है । दुनिया में जहाँ और जब भी राष्ट्रवाद उभरा है तो उच्छवर्ग ने ही उसे परिभाषित करने की कोशिश की । भारत में भी सम्पन्न और सवर्ण तबके ने अपने ढंग से राष्ट्रीयता को परिभाषित किया । उनके मूल्यों को निर्धारित किए । सर्वप्रथम राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद में अंतर ज़रूर है । राष्ट्रीयता का अर्थ एक समान होने की चेतना ही है, यह अपने आप में कोई निर्गुण, निराकार अवस्था नहीं हैं बल्कि सगुण साकार है । अपनी परंपरा में सांस्कृतिक एकता की कड़ी का एक ऐसा आदर्श भाव है जिसकी अंतिम परिणति देश के प्रति श्रुद्धा और प्रेम में हैं । किन्तु राष्ट्रवाद एक कठोर अवस्था है । यहाँ देश प्रेम के साथ साथ विरोध का भी

---

[1]शभुनाथ, भारतीय अस्मिता और हिन्दी, पृ. 215

भाव है । प्रारम्भ में भारतीय राष्ट्रवाद की भूमिका प्रगतिशील रही थी । इसकी प्रगतिशील भूमिका के कारण यह था कि इसने भारतीय जनता और साम्राज्यवादी ताकत के बीच मौजूद बुनियादी अंतर्विरोध को देखा और उसे हल करने की कोशिश की । 1947 के बाद स्थिति बदली । हमें जो आज़ादी मिली वह वास्तव में सत्ता का हस्तांतरण था । अन्ग्रेज़ी शासकों ने हिंदुस्तान के शासकों के हाथों में सत्ता सौंप दी । जनता की स्थिति में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं आया । बस भूमिकाओं की अदला बदली हुई है । बाद में जब नवउपनिवेशी शक्तियों ने सांस्कृतिक विभाजन की बात शुरू हुयी तब तो राष्ट्रवाद अपने उग्र रूप धारण करने लगा । वास्तव में यह आधुनिक राष्ट्रवाद फ्रांस के क्रांति के बाद विकसित हुआ जहां राष्ट्र– राज्य का उदय स्वतन्त्रता, समानता और बंधुत्व जैसे स्पष्ट राजनीतिक सिद्धांतों पर हुआ । राष्ट्रवाद पर सम्पूर्ण चिंतन राष्ट्र का एक राजनीतिक इकाई के रूप में मानने लगा । इसलिए कह सकते हैं कि राष्ट्रवाद वह ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसके तहत राष्ट्रीयताएं राजनीतिक इकाइयों के रूप में परिवर्तित होती हैं । आजकल जिसे राष्ट्रवाद कहा जाता है, वह एक अंध देश भक्ति या अंधराष्ट्रवाद ही है ।

राष्ट्रवाद में ‘वाद’ लगने से बना राष्ट्रवाद शब्द भौतिक सीमाओं के अलावा भावात्मक सीमाओं में भी बंधा हुआ प्रतीत होता है । भौतिक सीमा के अपेक्षाकृत उससे जुड़ा भावात्मक सीमाओं का बंधन अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी । वास्तव में राष्ट्रवाद शब्द अपने भीतर द्वंद्वात्मकता के ठोस आधार को लेकर चलताहै । राष्ट्रीयता जहाँ सांस्कृतिक भाव से प्रेरित होती है,

वहीं राष्ट्रवाद राजनैतिक भाव से । प्रो .ए. डी आशीवादम ने लिखा है "अनेक विचारक राष्ट्रवाद के बहुत बड़े प्रशंसक और भक्त है । वे इसमें अच्छाइयाँ ही पाते हैं । पर दूसरे लोगों का कहना है कि राष्ट्रवाद अपने वर्तमान रूप में अंतर्राष्ट्रीय शांति और सद्भावना की सबसे बड़ी शत्रु है। ''[1] अर्ताथ राष्ट्रवाद एक ऐसा बम है जो गलत हाथों में पद जाएँ तो स्थिति मानवता के खिलाफ हो सकती है । राष्ट्रवाद राष्ट्र की एकता अखंडता एवं अस्तित्व केलिए महत्वपूर्ण भावात्मक कारक है । इतिहास गवाह है कि 1857 से लेकर 1947 तक के भारतीय मुक्ति संग्राम की एक मुख्य प्रेरणा थी लेकिन इसका दुरुपयोग राजनेताओं और तानाशाही विचारों द्वारा किया जा रहा है । जहाँ राष्ट्र का स्वाभिमान सुरक्षित रखने के नाम पर मानवता की बलि चढ़ा दी जाती है । प्रथम विश्वयुद्ध के समय अंध राष्ट्रवाद का हिंसक खेल देखकर उन्होंने कहा "राष्ट्रीयता वर्तमान युग का सबसे बड़ा कोढ़ है ।''[2] वे समाज और राजनीति में पड़ने वाले हर तरह की संकीर्णता के विरुद्ध थे । उनके लिए राष्ट्रीय होने का अर्थ था सांप्रदायिकता, वर्ण व्यवस्था और ऊंच नीच के भेदभाव की जड़ खोदन के लिए तत्पर रहना । प्रेमचंद राष्ट्र एवं राष्ट्रवाद संबंद्धि मूल्यवान विचारों की पहले ही आलोचना करती थी । उनके राष्ट्र संबंधी चिंतन से बहुत कुछ सीखा जा सकता है । उन्होंने यह दिखाया कि आधुनिक किस्म का राष्ट्रवाद यूरोप की ईज़ाद है, लेकिन यह वरदान नहीं शाप है । वे कहते हैं "राष्ट्र एक मानसिकक प्रवृत्ति है । जब यह प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है तो किसी प्रांत या देश

---

[1]जितेंद्र श्रीवास्तव, प्रेमचन्द और राष्ट्रवाद,पृ .19

[2] वहीं पृ , 21

के निवासियों में भातृ भाव पैदा हो जाता है । प्राचीन काल का भारत केवल इसी अर्थ में एक था कि उसकी संस्कृति एक थी , परंतु राज सैकड़ों हजारों थे । उनमें बराबर लड़ाइयाँ होती रहती थीं । उनके स्वार्थ अलग थे । वर्तमाना राष्ट्र का विकास न हुआ था । वर्तमान राष्ट्र यूरोप की ईजाद है और राष्ट्रवाद वर्तमान युग का शाप ।''[1]

पहले भी कहा जा चुका है कि जब राष्ट्रीयता को अधिक प्रगतिशील बनाने के प्रयास में बुद्धि और तर्क का आधार लिया जाता है तो राष्ट्रवाद का स्वरूप सामने आता है । इसलिए आज की राष्ट्रीयता,जो महायुद्धों की मूल आधार–भित्ति रही है, वैयक्तिक स्वार्थ साधन का एक बृहत संस्करण है ऐसे में विकासोन्मुख चेतना का रूप बदल जाती है । मानवतावादी उदार दृष्टिकोण स्वार्थ और प्रतिस्पर्धात्मक रंगों में रंग जाता है । राष्ट्र–राष्ट्र के बीच शक्ति प्रदर्शन कीभावना जाग जाती है । ऐसे में युद्ध जैसे भयावह रूप मानवता केलिए खतरा सिद्ध होता है । रवीन्द्र नाथ टागोर ने अपने निबंध 'नैशनलिस्म' में स्पष्ट तौर पर राष्ट्रवाद को बुरा कहा है । इस संकीर्ण राष्ट्रवाद के विरोध में वे लिखते हैं कि राष्ट्रवाद जनित संकीर्णता यह मानव की प्राकृतिक स्वच्छंदता एवं आध्यात्मिक विकास के मार्ग में बाधा है । वे राष्ट्रवाद को युद्धोन्मादवर्धक एवं समाज विरोधी मानते हैं । क्योंकि राष्ट्रवाद के नाम पर राज्य शक्ति का अनियंत्रित प्रयोग अनेक अपराधों को जन्म देता है । व्यक्ति को राष्ट्र के प्रति समर्पित कर देना उन्हें कदापि स्वीकार नहीं था ।

---

[1] विस्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी , हिन्दी की साहित्यिक संस्कृति और उत्तर आधुनिकता , पृ 66

राष्ट्रवाद का संबंध मुख्यतः किसी समुदाय की आत्मगत अस्मिता के बोध से होता है , जो स्थानीय और सामुदायिक हितों को क्षति पहुंचाने वाली भावना है । कहना चाहिए कि भारत एक बहुजातीय,बहुधार्मिक और बहुसांस्कृतिक देश ही नहीं है यह भेदभाव, दमन और वर्चस्वों से भरा देश भी है । यह उतना नहीं है, जितना नक्शे में दिखता है । यानि की इन दिनों अस्मिताओं की समुदाय और क्षेत्रीय संस्कृति से कठोर सम्बद्ध वैश्वीकृत दुनिया की नई राजनीति है । ऎसी राजनीति आज प्रबल है । यह पूँजीवादी सत्ता हमें जातिवाद, सांप्रदायिकतावाद, क्षेत्रवाद,फासीवाद की ओर धकेल रही है । पहले किसान, श्रमिक, मध्यवर्ग या मनुष्य पहचान की श्रेणियाँ थी । अब ये गौण हो गयी हैं । देखा जाता है कि आज लोग हिन्दू है या मुसलमान । किस जाति के हैं या किस देश के हैं। समाज में जो सत्ताधारी या वर्चस्ववादी लोग हैं वे एक भाषा एक वर्ग एवं एक संस्कृति को महत्व देते हुए अपने के अनुरूप एक राष्ट्र या राष्ट्रीयता को बना रहे हैं । इसके तहत कहीं इतिहास का हिंदूकरण हो रहा है और कहीं अ–ब्राह्मणीकरण । उन वर्चस्ववादी नेताओं का नारा है कि सच्चा भारत बनने के लिए सच्चा हिन्दू ही बनना पड़ेगा । इससे इस पाखंड भरे प्रचार के ज़रिये जनता में यह विचार उभर आता है कि भारत में रहने वाले सभी हिन्दू हैं । भारत हिंदुओं का अपना राष्ट्र है। अगर भारतीयता और हिन्दुत्व में फर्क नहीं होता तो हिन्दुत्व अर्जित करने का प्रश्न नहीं उठता । इस प्रकार नारे उठानेवालों ने भारतीय दार्शनिक परंपरा में मौजूद विचारों की विविधता को संकुचित कर देते हैं । “जिस हिन्दुत्व को आज

राष्ट्रीयता के ऊपर थोपा जा रहा है, वह सामाजिक, मानवीय भावधारा से बिल्कुल कटा हुआ, एकाँकी और राजनीतिकृत हिन्दुत्व है । रुग्ण सामाजिक परिवर्तन का उत्पाद है । भारतीयता के भीतर एक प्रति भारतीयता का निर्माण हो रही है जो रूढ़ियों के पक्ष में भारतीयता की दुहाई देती है मगर जीवन शैली के स्तर पर पश्चिम की नकल करती है । यह भारतीयता भारत बोध से विच्छिन्न हो गई है।''[1]इस संकुचित राष्ट्रवाद में मुसलमान, दलित,स्त्री और किसान कहाँ खड़े हैं, हाशिये के लोगों का राष्ट्र कहाँ है यह बात तो महत्वूर्ण है । वास्तव में भारत जैसे देश को राष्ट्र के रूप में तभी ढाला जा सकता है जब सांस्कृतिक बहुलता को बराबर की स्वीकृति मिले । राष्ट्र सिर्फ बौगोलिक सीमाओं, प्राकृतिक सौंदर्य संपदाओं कुछ उच्च वर्ग की ऐतिहासिक पौराणिक शौर्य गाथाओं का ही नाम नहीं हैं राष्ट्र वे बहुसंख्यक भी बनाते हैं जो दलित हैं, अल्पसंख्यक हैं, जंगल, पहाड़ों और सीमांतों में रहते हैं । घरों,खेतों,कारखानों, में शोषित होते हैं और अपने जीने केलिए वर्चस्ववादियों से संघर्ष कर रहे हैं । समाज में हमारी आधी दुनिया स्त्रियाँ भी उतनी ही भागीदार हैं जिनकी आवाज़ हमने कभी उनर नहीं आने दी । इसलिए एंडरसन से प्रभावित होकर कुछ भारतीय विचारक कहते हैं – कहाँ है भारत राष्ट्र?कहाँ है हिन्दी जाति?इतनी बोलियाँ हैं इतनी भाषाएँ हैं ,इतनी तरह के आर्थिक संबंध है क्या जाति और राष्ट्र की धारणा काल्पनिक नहीं है ? कहना न होगा कि भारत के वंचित गरीब, किसान,श्रमिक लोग जो वैश्वीकरण, बाज़ार–अर्थवयवस्था के

[1]विस्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी,हिन्दी की साहित्यिक संस्कृति और उत्तर आधुनिकता , पृ 66

वर्चस्व, नए पूँजीवाद और कट्टरवाद धारा उत्पीड़ित है वे ही भारत की राष्ट्रीय एकता के मुख्य आधार है ।

सामुदायिक संप्रदाय के अलावा अंध राष्ट्रवादी नारों केलिए दूसरी बड़ी जगह स्थानीय राष्ट्रीय समुदाय है । भारत में कश्मीर जैसे इलाके हैं जहां इतिहास, राजनीति और अंतरराष्ट्रीय कूटनीति बुरी तरह से उलझी हुई है । इस विवाद से सभी तरह के रक्तपात, कटुता पूर्ण बयान, संदेह और कड़ुवाहट तो हुआ है,जो जीवन की दो धाराओं के बीच अपनी –अपनी बातों पर अटल और शायद कभी न सामाप्त होनेवाला संघर्ष है । इसमें कश्मीर संघर्ष का मैदान और प्रतीक बन गया है । यह भी नहीं राष्ट्र का संबंध में इस रुग्ण मनस्थिति का कुपरिणाम यह निकाला कि आज एक गाँव का प्रधान, अपने पड़ोसी गाँव का अहित करके हीं अपना हित करना चाहता है । उसकेलिए उसका अपना गाँव ही 'देश' है और पड़ोसी गाँव 'विदेश' है । वर्तमान व्यवस्था ने राष्ट्रीयता की भावना को उतना अधिक संकुचित कर दिया है कि हर परिवार एक राष्ट्र बन गया है, और पारिवारिक हित ही राष्ट्रीयता है । यही राष्ट्रवाद की रूप परिवर्तन ही आज सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और बाद में फासीवाद की ओर पहुँच गयी है । राष्ट्र के संदर्भ में इस नए राष्ट्रवाद ने जिसे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद कहा जा रहा है उसने राष्ट्रीयता की व्याख्या को उलट दिया है ।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

राष्ट्र के निर्माण में संस्कृति की भूमिका बड़ी होती है । जहाँ संस्कृति विहीन स्थिति होगी, वहाँ राष्ट्र की कल्पना बेमानी हैं । आजकल हमारी संस्कृति पर दो तरह की हमले हो रहे हैं । एक ओर देश के अंदर से उभरी हुई सांप्रदायिकता और दूसरी तरफ विदेशी साम्राज्यवाद के हमले से आम जनता की संस्कृति और उसकी परंपरा पर खतरा उत्पन्न हुआ है । आजकल सांप्रदायिकता सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का नया नाम लेकर उपस्थित हुआ है । यह सांप्रदाय या धर्म के खाने में संस्कृति की व्यापकता को समेटने की सुनियोजित कोशिश है । संस्कृति को भी धर्म और राजनीति की घटिया चाल से घसीटा जा रहा है ।

राष्ट्रीयता को नव पुनरुत्थानवादियों ने अंधों का हाथी बना दिया है । कुछ लोग इसका मूल ढूंढ– ढूंढकर सत्ता वर्ग की युगों पुरानी संस्कृति में पहुँच गए। ताकि राष्ट्रीयता का हिंदूकरण किया जाए । इन पुनरुत्थानवादियों के बीच राष्ट्रीयता,राष्ट्रीय नवजागरण जैसे शब्द अस्पृश्य है । इसका स्थान ले लिया हिन्दुत्व,हिन्दू राष्ट्र और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद जैसे उत्तेजक प्रबुद्धवादी नारों ने । यानि एक भूगोल, एक इतिहास औरएकधर्म । इन तीनों को एकीकृत करने केलिए ज़रूरी है कि राष्ट्रीय मिथकों को निरंतर संशोधित, संपादित और परिभाषित किया जाता रहे । देखें तो बाहरी शत्रु हमारी राष्ट्रीय संस्कृति पर हमला करते हैं तोभीतरी शत्रु हमें आपस में कमजोर करते हैं । जिस प्रकार सामंती युग में भौगोलिक और धार्मिक विजय के लिए निरंकुश नायक हमेशा युद्ध करते रहते थे उसी प्रकार 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' में सतत युद्धोन्माद

का वातावरण उत्पन्न करता है अतः आज संघपरिवार जैसे लोग सांप्रदाय या धर्म के नाम पर पुरानी राष्ट्रीय संस्कृति को सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के रूप में बदलकर संस्कृति का बुरी तरह इस्तेमाल कर रहे हैं । वे अपने आर्थिक हितों के लिए या सत्ता के लिए संस्कृति को हथियार बना रहे हैं । हिन्दुत्व के नाम पर वोट बैंक बनाना और तद्वारा राष्ट्र की सत्ता हासिल करना लक्ष्य है । यह भारतीय राष्ट्र और हिन्दू समाज को विभाजित करनेवाला है । इस कूट हिन्दुत्व के पीछे आध्यात्मिक पिपासा कम और लौकिक पिपासा एवं सत्ता मोह प्रबल है । डॉ .के एन पणिक्कर के अनुसार ''संघपरिवार ने ही भारत के क्रियात्मक राष्ट्रीयता के रूप में सांस्कृतिक राष्ट्रवादी विचारधारा की शुरुआत की । 'हिन्दू' और 'हिन्दुत्व' के संबंध में सावरकर की परिभाषा ने इसे सांस्कृतिक राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को ऊर्जा प्रदान किया । सावरकर के अनुसार मुसलमान और इसायियों की नस में हिन्दू खून समान्यतः कम है । उसे हम हिन्दू नाम से पुकार सकते न केवल हिन्दू खून बहाने से ही हम हिन्दू हैं, बल्कि इससे परे हमारी महान संस्कृति से हमारा सम्मान हमारी हिन्दू संस्कृति इस केलिए संस्कृति से अधिक अच्छा शब्द नहीं है, क्योंकि यह हमारे वंश के इतिहास में सबसे अधिक उत्कृष्ट और संरक्षण करने योग्य अंश का सूचक है । हम एक है क्योंकि हम एक राष्ट्र है, एक वंश है । हमारे लिए एक समान संस्कृति है ।''[1] यही अवधारणा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के केंद्र में है । इस सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का निष्कर्ष यह है कि भारत में हिन्दू बनकर ही रहा जा

---

[1]के एन पणिक्कर , बिफोर द नाइट फाल्स , पृ 38

सकता है । अगर दूसरे धर्मों के लोग यहाँ रहते हैं तो उन्हें संरक्षित समुदाय के रूप में रहना होगा । उनकी राय में भारत की आत्मा हिन्दुत्व में ही निवास करती है क्योंकि वह वर्चस्ववादी है । इस प्रकार हिन्दू राष्ट्र की परिकल्पना की नींव डालने में गोलवलकर और सावरकर की गहरी अहमियत है ।

सांस्कृतिक विविधता पर बाजारवादी भौतिक ताकत के बल पर समरूपता लादने से दुनिया सांस्कृतिक एकता के लक्ष्य से पहले से अधिक दूर हो जाए, राष्ट्रीय और सामुदायिक कट्टरवाद बढ़े । ये सामुदायिक कट्टरवाद दूसरी संस्कृतियों को समझने में बाधक का काम करता है । यह दूसरी संस्कृतियों को घृणा की दृष्टि से देखता है । यह धारणा होती है कि हमारी सभ्यता श्रेष्ठ है, हमारा धर्म श्रेष्ठ है,हमारी जातीयता श्रेष्ठ है । हम सही हैं, दूसरे गलत है और हर समुदाय को लगता है उसकी संस्कृति ही दुनिया के केंद्र में है । सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा कुछ इसी से निकली है हालाकि उसमें भारतीय संस्कृति को इतना संकीर्ण और एकांगी बना दिया है कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद हिन्दू राष्ट्रवाद का पर्याय बन गया है, जबकि भारतीय संस्कृति केवल हिन्दू संस्कृति नहीं है , यही साझी संस्कृति है । और इसका आधार व्यापक है । यह सांस्कृतिक एकता है जो किसी भी देश की जनता को एकजुट करने में सक्षम है और जिसमें इस देश को एक राष्ट्र के सूत्र में बाँध रखा है । समन्य ही भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है । टूटना इसका चरित्र नहीं । आस्था इसकी डगर है और विश्वास इसका पडाव । किन्तु

हाल के वर्षों में हिन्दुत्व को राजनीति से जोड़कर, हिन्दुत्व पर जितने अपमान जनक प्रहार किए गए हैं इन प्रहारों से भारत का विश्वास टूट रहा है ।

जो आज हिन्दुत्व और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के बारे में चिल्लाते रहते हैं वे राष्ट्र के बारे में भी वास्तव में अजनबी है । यह देखना चाहिए की ईसाई,इस्लाम, बौद्ध, जैन आदि धर्मों के समान हिन्दू धर्म किसी पैगंबर या व्यक्ति विशेष द्वारा स्थापित धर्म नहीं है बल्कि यह प्राचीन काल से चले आ रहे विभिन्न धर्मों, मतमतांतरों, आस्थाओं एवं विश्वासों का समुच्चय है । अनिवार्यतः सिंधु घाटी में और उसके आसपास के क्षेत्रों के निवासियों की भौगोलिक पहचान के रूप में संदर्भित किया जाता था । किन्तु आधुनिक हिन्दुत्व नियमित और संघटित धर्म का रूप है । दक्षिण भारत में औपनिवेशिक काल में प्रभावशाली ब्राह्मणों एवं दूसरी ऊंची जतियों की वृद्धि के फलस्वरूप इसका विकास हुआ है । इसप्रकार हिन्दुत्व का आधार ब्राह्मणवादी हिन्दुत्व है । स्टाईटेनक्रोन के अनुसार "हिन्दू शब्द एक आधुनिक शैली है यह एक राष्ट्रीय उपज है । जो राष्ट्रवाद भारत में उदित हुआ वह हिन्दू राष्ट्रवाद था ।''[1] यह विचार है कि भारतीय राष्ट्रवाद हिन्दू राष्ट्रवाद का पर्यायवाची है , इसका स्वर धार्मिक नहीं बल्कि राजनीतिक है । वर्तमान परिप्रेक्ष्य में हिन्दू राष्ट्रवादियों की अधिकांश राजनीती हिन्दुत्व को एक बदले हुये अर्थ में प्रस्तुत करती हैं । यह विचारधारा राष्ट्रीयता को हिन्दुत्व से जोड़कर वैश्विक परिप्रेक्ष्य में एक सांस्कृतिक विरासत के रूप में प्रतिष्ठित

---

[1]राम पुनियानी, धर्म सत्ता और हिंसा, पृ .32

करना चाहते हैं या देश के अन्य विविध समुदायों, वर्णों तथा पिछड़े हाशियों के ऊपर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। वे मानते हैं कि हिन्दुत्व हिन्दू अभिजात की राजनीति है । आमतौर पर हिंदूवाद बहुलतावादी परम्पराओं का मिलन है , जबकि हिन्दुत्व हिन्दू राष्ट्र बनाने का एक प्रयास है । हिंदुवाद जो सिद्धांततः सहिष्णुता और अहिंसा पर आधारित है वहीं हिंदुत्ववादी शक्तियाँ अपने कार्यों एवं प्रकृति को लेकर अनिवार्यतः फासीवादी होती है । यदि भारत में हिंदुवादी शक्तियों के उभार के पीछे की ओर देखे तो हम समझ सकते हैं कि हिंदुत्ववाती शक्तियों की बनावट आमतौर पर उच्च जातियों का नेतृत्व, वर्चस्व, नियंत्रण एवं अधिकार तथा खास तौर पर ब्राह्मणवादी वर्ण व्यवस्था को शोषित और दलित लोगों पर थोपने का प्रयास है । दूसरे शब्दों में हिन्दुत्ववादी शक्तियों के उभार के पीछे धार्मिक विचारधारा, खासकर धार्मिक प्रतीकों और नारों के माध्यम से सामाजिक–राजनीतिक, आर्थिक विचरधारा को प्रस्तुत करने की योजना रही है ।

इतिहास लेखन एवं इतिहास की पुनर्रचना भी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की एक सीढ़ी है । वे लोक अपने ढंग से इतिहास की व्याख्या करके सबको अपने अनुकूल बनाकर साधारण भोले भले जनता के मन में धर्मांधता का विष फैला देते हैं । इसके लिए वे पहले इतिहास को भारतीय संस्कृति के साथ जोड़ देते हैं और राष्ट्रीयता को सांप्रदायिकता के साथ ।“विदेशियों के आक्रमण के बाद राष्ट्र को नष्ट हो गए सत्ता और शासन को वापस लाना हिन्दू सांप्रदायिकों का लक्ष्य है । इसकेलिए उसने इतिहास की सांप्रदायिक व्याख्या

दी – प्राचीन भारतीय इतिहास और राष्ट्रीयता को वह अन्य संस्कृतियों से श्रेष्ठ और हिन्दुत्व माना है । हिंदुओं को इस प्रकार स्वयं इतिहास के साथ जोड़कर अपनी खो गयी राष्ट्रीयता के बारें में भावुक बनाकर उसके नाश के जिम्मेदार के खिलाफ विद्रोह करने की उत्तेजना प्रदान करते हैं । इस प्रकार 'आदर्श' और एक शत्रु को भी बनाते हैं ।''[1] इस प्रकार हिंदुओं का देश बन जाता है तथा इसकी नागरिकता पर वे विशेष दावा रखते हैं । इस व्याख्या के अनुसार हिन्दू एक अतीतजीवी जाति है और इसी प्रकार मौलिक निवासी । इसके साथ ही मुस्लिम और ईसाई बाहरी अथवा विदेशी बन जाते हैं । इस रणनीति में हिन्दुत्व को आगे बढ़ाने केलिए सांस्कृतिक प्रतीकों का सतर्क चयन करके जिनके साथ पौराणिकता और लोकतत्व भी जोड़े जाते हैं । इन प्रतीकों के द्वारा बनाई गयी अवधारणाएँ लोगों तक पहुंचाए जाने के पूर्व सांप्रदायिकता से आवृत कर दी जाती हैं । गऊ माता, गंगा माता, राम,कृष्ण, शिव इत्यादि कुछ प्रतीकों का उपयोग आम लोगों को संगठित करने केलिए किया जाता है । ये हिन्दू प्रतीक और अवधारणाएँ जब सांप्रदायिक संदेशों से युक्त होते हैं, तब सामाजिक रूप से विनाशकारी हो जाते हैं । जिससे घृणा पैदा की जाती है और हिन्दुत्व अपनी अकड़ मजबूत बनाता है । इसमें गाय माता अथवा गऊ माता एक ऐसा हिन्दू प्रतीक है कि गाय में 33 कोटी देवी देवताओं का वास रहता है । इसलिए गाय का प्रत्येक अंग पूजनीय है गो– सेवा करने से एकसाथ ये सारी देवतायें प्रसन्न होते हैं । इसके साथ जोड़कर कह सकता है

---

[1]के .एन पणिक्कर, बिफोर द नाइट फाल्स, पृ.89

कि बाबरी मस्जिद का ध्वंस और गुजरात नर- संहार भी सांप्रदायिक फासीवाद की नृशंसता को बेनकाब करनेवाली दुर्घटनाएँ थीं ।

कुल मिलाकर कहा जाए तो सांस्कृतिक राष्ट्रवाद अंध राष्ट्रवाद की उपज है और अनिवार्य रूप से इसका लक्ष्य है भारतीय समाज का फासीवादीकरण जो तनिक भी सहिष्णु नहीं है । संस्कृति को कुचलते हुए सांप्रदायिक फासीवाद और बाजारवाद ने भारतीय वातावरण में एक अभूतपूर्व सामाजिक अराजकता पैदा कर दी है , इससे मानवीय मूल्य बडे पैमाने पर तहस-नहस हुए हैं ।

साहित्य में राष्ट्रीयता

आधुनिक राष्ट्रीयता का प्रथम उत्थान हमें सन १८५७ के विद्रोह में मिलता है । अंग्रेज़ शासक के विरुद्ध हिन्दुस्तान की संगठित राष्ट्र भावना का वह प्रथम आह्वानथा । कहना न होगा कि अंग्रेजों के आने के समय तक अपनी सांस्कृतिक एकता के बावजूदभारत व्यावहारिक रूप में भिन्न भिन्न राज्यों में बँटा हुआ था । अब पहली बार प्रदेश अथवा धर्म संप्रदाय के संकुचित वृत्त से निकालकर राष्ट्रीयता ने समग्र देश को एकता का संदेश दिया था ।हिन्दी साहित्य में यह युग भारतेन्दु युग के नाम से प्रसिद्ध है । भारतेन्दु ही इस नवयुग के जन्मदाता हैं ।शुक्लजी के अनुसार भी भारतेंदु हरिश्चंद्र की वाणी का सबसे ऊंचा स्वर देश भक्ति का था। बहुत सी स्वतंत्र रचनाएँ भी उन्होंने लिखी जिनमें कहीं देश की अतीत गौरव गाथा का गर्व, कहीं वर्त्तमान अधोगति की क्षोभ भरी वेदना, कहीं भविष्य की भावना से जागी

चिंता आदि अनेक पुनीत भावों की संचार पाया जाता है'' भारतेंदु के समय तक सन 1856 का स्वतंत्र सग्राम तो विफल हो चूका था | परन्तु वह अपने पीछे एक राष्ट्रीय चेतना छोड़ गया था, जिसका प्रभाव उस युग के विचारवान व्यक्तियों पर भी पड़ा था ।इसलिए आधुनिक युग के इस राष्ट्रीय साहित्यों को व्यापक संदर्भों में जागरण का साहित्य कह सकते हैं।अंग्रेजों के आर्थिक शोषण से देश की दुर्दशा और दरिद्रता का व्यापक चित्र खींचकर आततायी आक्रमणकारी का सामने करने के लिए अपने गौरव पूर्ण इतिहास की याद कराकर ,संपूर्ण जनता को जागृत करने की कोशिश भी इस युग के रचनाकारों ने की है । 'हमारो उत्तम भारत देस' (राधाचरण गोस्वामी),और 'धन्यभूमि भारत सब रतननि की उपजावनि' (प्रेमघन) आदि पक्तियाँ इस तत्व को प्रकट करते हैं । देश भक्ति और राज भक्ति में एक प्रकार की समझौता इस युग में देखने पर भी देश के उत्कर्ष – अपकर्ष केलिए उत्तरदायी परिस्थितियों पर प्रकाश डालकर इन साहित्यकारों ने जन मानस में राष्ट्रीय भावना के बीजवपन का महत्वपूर्ण कार्य किया ।

भारतेन्दु युग के बाद के साहित्य में भी देश भक्ति पूर्ण रचनाओं का प्रणयन किया गया तथा पराधीनता को सबसे बड़ा अभिशाप बताकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए क्रान्ति का आह्वान देने का प्रयास किया गया । अतीत का गौरव गान करने के साथ अपने युग की विविध विषमताओं और आकांक्षाओं के प्रति भी ये सजग थे । स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग तथा विदेशी वस्तुओं के परिष्कार पर भी उन्होंने निरंतर बल दिया । इस संदर्भ में

छायावादी रचनाकारों की राष्ट्रीय– सांस्कृतिक संचेतना को नकारा नहीं जा सकता । "राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के उदय के साथ ही छायावादी आंदोलन तीव्र हुआ था, वह हिन्दी क्षेत्र की सामाजिक गतिशीलता की देन था । इसने निस्संदेह मनुष्य में 'उदात्त व्यक्ति' की सत्ता पैदा की । इसके अलावा, इसने आकांक्षा और यथार्थ की टकराहट से पैदा होनेवाली वेदना को निर्माणात्मक बनाने की शिक्षा दी । इस युग की वैयक्तिकता व्यक्तिवाद न थी, बल्कि छायावाद धार्मिक – जातीय संकीर्णताओं को चुनौती देते हुए सामाजिक उदारवाद लेकर आया था ।''[1] यह राष्ट्रीय– सांस्कृतिकधारा भारतेन्दु काल से प्रेरित होकर द्विवेदी काल, छायावाद को पार करती हुई तत्कालीन साहित्य में समकालीन प्रश्नों, स्वरों से संयुक्त होकर और भी उदार और वैविध्यपूर्ण हो गई । अब राष्ट्रीयता का अर्थ हिन्दुत्व की रक्षा न रह गया,अपितु इसका अर्थ हो गया लोक मानव की, लोक संवेदना से मुक्त साक्षात्कार और सुख – दुख की कथा– व्यवस्था की आत्मनुभूति से अभिव्यक्ति । वस्तुतः इस सदी में सम्पूर्ण भारत राष्ट्रीय आंदोलनों से उद्दीप्त हो उठा था । दलित अधिकारों की आवाज़ उठी । स्त्रीयाँघर से बाहर निकलकर शिक्षा, राजनीती और रोजगार के संसार में पुरुष वर्चस्व को चुनौती देने लगीं । आदिवासी हाशिये से अपनी आवाज़ उठाने लगे । शिक्षा के असर से नयी पीढ़ी एक सक्रिय बौद्धिक सत्ता बनी ।

---

[1]रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ .154

इस समय प्रेमचंद की रचनाए एक विशिष्ट विचारधारा को लेकर अग्रसर होती हैं कि पहली बार साहित्य में सामान्य व्यक्ति और कृषक वर्ग, कथानायक के रूप में उपस्थित हुआ है । राष्ट्रीयता एक अमूर्त विचारधारा है और संपूर राष्ट्र की एकता का प्रतीक है । इसके एकता में समान्य जनता की संख्या अधिक है, जो अपने युगीन सकटों से संघर्षरत रहता है और इसी जनता के विविध संकटों की अभिव्यक्ति प्रेमचंद अपने साहित्य में करते हैं । यह संकट कहीं कहीं उस जनता के राष्ट्र प्रेम में अवरोध बने हुए थे और तत्कालीन परिस्थितियों में सामंतवाद,साम्राज्यवाद,संप्रदायवाद,नारी समस्या,शोषण आदि प्रमुख अवरोधक थे । इन अवरोधों ,संकटों के विरूद्ध प्रेमचंद का साहित्य अपनी सशक्त विचारधारा को लेकर खडा होता है । उसका रूप उनके साहित्य में हुए देख सकते हैं । प्रेमचंद के बाद प्रेमचंद से भिन्न शैली में जीवन –संसार से जुड़ा नया श्रेष्ट साहित्य भी आया है । किन्तु इस साहित्य में वैयक्तिक अनुभव को केन्द्रीयता मिली । यत्र तत्र नाममात्र केलिए शोषितों का चित्रण साहित्य में चर्चा की है । इन रचनाओं का क्षेत्र तत्कालीन सामाजिक,राजनीतिक एवं आर्थिक स्थितियों से संबधित भी है । वैश्विक समस्याओं और गतिविधियों का पक्ष उसमें मौन है । इनमें रचनाकार अपने पूरे समाज को अंकित करने में असमर्थ हुए हैं ।

1947 में भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, पर उसी के साथ- साथ अपनी सांस्कृतिक दृष्टि खो गई| गांधीजी ने जो दृष्टि हमें दी थी , स्वतन्त्रता परवर्त्ति भारतीय नेतृत्व का उसे पहचानने की शक्ति

नहीं थी । परिणामतः सांस्कृतिक सृजनात्मकता से हीन भारतीय नेतृत्व ने पश्चिम का अंधा नकल कर पश्चिम की समस्त प्रणालियों को उसमें बिना सोचे यथावत आयातित कर लिया । सांस्कृतिक शून्यता बढ़ती गयी । सभ्यता संकटग्रस्त हो गयी है, परिणामतः आज का समाज उपभोक्ता समाज में बदल गया है जहाँ मनुष्य भी क्रय विक्रय का साधन बन गया है । जब मनुष्य भी संस्कृतिविहीन, आर्थिक प्राणी बन जाए तो मूल्यों, संवेदनाओं व मान्यताओं केलिए स्थान नहीं हैं । फलतः राष्ट्रीयता का लोप हो रहा है, हाशियेकृत वर्ग एक बार फिर भी संस्कृति के दबाव में पड गया । एक ओर बाहर की औपनिवेशिक संस्कृति है तो दूसरी ओर भीतर की सवर्ण वर्चस्ववादी संस्कृति का दबाव । इस साजिश को इक्कीसवीं सदी के साहित्यकार ने पहचान लिया है तथा वे साहित्य को नयी दिशा की ओर ले गए ।

अतः कहा जा सकता है कि साहित्य को समाज का दर्पण ही होना चाहिए । किन्तु अपने इतिहास में समाज में और कुछ हो रहा था, साहित्य किसी ओर दिशामें जा रहा था | इस काल के रचनाकार सामाजिक, राजनीतिक स्थितियों से तटस्थ दिखाई देते हैं । अपने समय की बड़ी से बड़ी घटनाओं के सामने वे चुप्पी रहते थे । यह सारा कार्य मुख्यधारा की संस्कृति और वर्चस्व को सुरक्षित रखने केलिए तैयार किया गया था । पूरा का पूरा धर्मग्रंथ या शास्त्र दलित और स्त्री विरोधी हैं । इस संदर्भ में दलितों की दयनीय स्थिति और मुख्यधारा कीविसंगतियों की ओर इशारा करते हुए डॉ.अंबेडकर ने कहा था “हमारे जीवन, कर्तव्य और संस्कृति की ओर हमारा

ध्यान नहीं हैं । तुम्हारे उपन्यास, कथाओं की सीता– लक्ष्मण रेखा पार करके आगे जा चुकी है । दुर्योधन के दरबार में द्रौपदी का वस्त्रहरण हो रहा है । शकुंतला को दुष्यंत अपना सही परिचय नहीं दे रहा है । इसलिए शकुंतला को वनवास हो रहा है । ऐसे स्थिति में मैंसाहित्यकारों से आह्वान करता हूँ कि वे विभिन्न साहित्यिक मूल्यों को रेखांकित करें । अपने लक्ष्य को मर्यादा में बाँधो, उसको ओर अधिक विशाल बनने दो । वाणी का विस्तार करो । अपनी लेखनी को केवल अपने प्रश्नों तक सीमित मत रखो उसे तेजस्वी बनाओ, जिससे फैला अंधकार दूर हो सकें । अपनी रचनाओं के द्वारा उपेक्षितों की वेदना को अपनी वेदना समझकर उनके जीवन को उज्वल बनाने की कोशिश करो । यही मानवता की सच्चाई है ।''[1] दलित, आदिवासी,स्त्री जैसे हाशियेकृतों के बिना न राष्ट्र भी पूर्ण है और न साहित्य भी है । उनकी भी संस्कृति है और उनका भी इतिहास ।

इक्कीसवीं सदी के साहित्य में नवराष्ट्रीयता

आज जिस परिवेश और पर्यावरण में हम जी रहे हैंवह जटिलताओं , का हीनहीं बल्कि चुनौतियों से भरा हुआ है । नवउपनिवेशवादकट्टर , सामुदयिकतावाद एवं फासीज़म का मौजूदा दौर ने निशिचत रूप से विशाल राष्ट्र के लिए घातक सिद्ध किया है । भूमंडलीकरण अपने साथ जो सांस्कृतिक साम्राज्यवाद ला रहा है उसका लक्ष्य सांस्कृतिक सुधार नहीं है । उसका लक्ष्य एक तरफ से सांस्कृतिक समतलीकरण हैदूसरी तरफ ,

---

[1]डॉ अंबेडकर , दलित साहित्य सम्मेलन पत्रिका , पृ 41

सामुदायिक कट्टरवाद को छुट्टे सांड की तरह खुला छोड़ना है। ये दोनों हमारी सांस्कृतिक विविधता को नष्ट करके पूँजीवादी संस्कृति को महत्व दिया है । इस नवपूँजीवादी संस्कृति ने राष्ट्रीयता की भावना को इक्कीसवीं सदी में एक नया रूप दिया है । अपने राष्ट्र पर पड़े हुए ये काले बादल बाजारवाद से शुरू होकर हिन्दू राष्ट्र तक पहुँच गए हैं। आज व्यक्ति की पहचान देश से नहीं बल्कि कहीं ज्यादा बाज़ार और कपनियों से है तो दूसरी ओर अपने अपने समुदाय से है । भारत एक बहुलतावादी देश हैपर इसे एक न मानने और , इसके स्थानीय और सामुदायिक टुकड़ों में देखने का पुराना मिजाज़ लौट रहा है । अतसंस्कृति को कुचलकर सा ंप्रदायिक फासीवाद और बाजारवाद ने भारतीय वातावरण में एक अभूतपूर्व सामाजिक अराजकता पैदा कर दी है । उसकी प्रतिक्रिया के स्वरूप संस्कृतियों के समक्ष अपनी अस्मिता को रक्षा का प्रश्न खडा हो जाता है । क्योंकि आज इस वैश्वीकृत दुनिया में पड़कर हाशियेकृतों तथा स्थानीय संस्कृतियों की अस्मिता दबा रहा है । इसलिए आज समस्या उस अस्मिता की है जिसे दलितोंअल्पसंख्यकों व ,स्त्रियों , शोषितों ने जो अपने लम्बे संघर्ष से अर्जित किया था और आज उदारवादी , फासीजम की एजंड,राष्ट्रवादीे के तहत उनसे छीनी जा रही है । भारतीय राष्ट्र की जो आमधारणा नवजागरण और स्वाधीनता आन्दोलन के दिनों में बनायीं गई थी उस पर ,वैश्वीकरण और सामुदायिक कट्टरवाददोनों के ही , बौद्धिक पैरोकार कर रहे हैं। इसलिए यह सवाल की प्रासंगिकता बढ़ जाती है की राष्ट्र किसका है उसका उत्तर है इक्कीसवीं सदी का सहित्य ,।

इक्कीसवीं सदी का साहित्य विविधता एवं बहुलता का साहित्य है । समाज के विभिन्न तबके में जो अभी तक हाशिये पर रहे हैं जिनकी ,संस्कृति एवं अस्मिता को निरंतर दबाया गया है या जिन्हें वर्चस्ववादी शक्तियों ने हाशिये पर धकेल दिया है वे आज महत्वपूर्ण हो गए हैं। समाज का वह वर्ग जो केंद्र से हाशिये पर धकेल दिया गया था अब परिधि से केंद्र की ओर अग्रसर हो रहा है इसलिए आज के साहित्य का मुख्य स्वर भी बहुस्वरता से भरा हुआ है । तत्कालीन साहित्यकारों ने अपने राष्ट्र पर पड़े हुए साजिश को सही अर्थ में समझ लिया है और उन्होनें जो कार्य इस दौर में शुरू किया है बड़ा महत्वपूर्ण है । उनको लगता है कि अपने राष्ट्र और समाज को तथा मूल संस्कृति को सुरक्षित रखने के लिए इस वर्चस्वादियों के विरोध में खड़ा होना बहुत ज़रूरी है । इसलिए इक्कीसवीं सदी का साहित्य भूमंडलीय ,फासीवाद संस्कृति को प्रतिरोध करते हुए अपने स्थानीय संस्कृतियों तथा दलितस्त्री ,आदिवासी , जैसे हाशियेकृतों की संस्कृतियों को केंद्र में स्थान देते हुए एक नयी राष्ट्रीयता को साहित्य के ज़रिए परिभाषित कर रहा है । यह एक नयी अवधारणा है । इसमें समाज की प्रत्येक इकाई के लिए प्रमुख स्थान है । जैसे की स्त्रीस्थानीय,आदिवासी,दलित, संस्कृतियों के केंद्र खुलने लगे हैं।

नवराष्ट्रीयता अर्थ एवं परिभाषा

एक देश को राष्ट्र के रूप में अस्तित्व बनाये रखने के लिए एक समान भाषा या इस क्षेत्र में एक ही राजनैतिक शासन का जारी रहना नहीं है बल्कि एक समान संस्कृति है,। यह सांस्कृतिक एकता जो किसी भी ,

जो किसी भी देश के लोगों को , बंधन से अधिक मूलभूत और टिकाऊ है एकजुट करने में सक्षम हैै । राष्ट्र एक सांस्कृतिक इकाई है और राष्ट्रीयता उस संस्कृति से ही उद्भूत हुआ करती है । किन्तु अभी तक साहित्य में जिस राष्ट्रीयता का चित्रण किया जा रहा था वह तो केवल मुख्यधारा राष्ट्रीयता थी , । उसमें न दलित है न अन्य हाशियेकृत न उनकी संस्कृति और अस्मिता ,। इस व्यवस्था की पुनर्व्याख्या करने की कोशिश है आज के साहित्य में ।

नवराष्ट्रीयता एक ,आधुनिक अवधारणा ही है जिसके मूल में ,राष्ट्र के प्रति एक चेतनात्मक अभिव्यक्ति है । एक सशक्त प्रतिरोध को लेकर साहित्य में उभर गयी यह अवधारणा भूमंडलीय संस्कृतिफासीवाद एवं, राष्ट्रवाद का प्रतिरोध करते हुए दलितहशियेकृतों एवं ,स्त्री,आदिवासी , अल्पसख्यकों की संस्कृतियों तथा उनकी अस्मिताओं को केंद्र में स्थान देते हुए विविधता की एक नवराष्ट्रीयता को परिभाषित कर रहे हैं। इसमें प्रत्येक इकाई के लिए स्थान है । अतनवराष्ट्रीयता सहिष्ःणुता एवं बहुस्वरता की राष्ट्रीयता है । पाश्चात्य विद्वान फ्रीडमान के अनुसार "Neo Nationalism is a form of nationalism that is unique in the sense that it realts to the process of globalization and more specifically the globalization of capital.Neo nationalism primary elaborates upon the world systems theory,by using the coreperiphery mode"[1].

[1]http:/-www.findwordsinfo/Altamira press books 2003

नवराष्ट्रीयता देशज राष्ट्रीयता का विकसित रूप है । नवजागरण के सन्दर्भ जो राष्ट्रीयता उदित हुई, उसकी दो धाराएँ थीं । एक धारा भारत की संस्कृति एवंभारतीयता की सारी विशेषताओं एवं प्रकृतिबोध से युक्त सहज स्वाभाविक सादगी से पूर्ण रही थी । दूसरी धारा पाश्चात्यीकरण से उद्भूत थी। बीच में आकर पाश्चात्यीकरण से निर्मित राष्ट्रीयता बहुत सशक्त होकर तेज़ी से फैल गयी और भारत को राष्ट्र बनाने में उसकी भूमिका बड़ी रही थी । तब एक पूर्वी देश को जिसप्रकार विकसित होना था उससे अलग होकर पाश्चात्य देशों के विकास के मार्ग को भारत ने भी स्वीकार किया । तब भूमंडलीकरण का जो अर्थतंत्र है उसकी गिरफ्त में संपूर्ण दुनिया फँस गई और एक संस्कृति की एक चेहरेवाली एक शक्ति की अधीनता की व्यापारी दुनिया रूपायित हुई । तब बहुलता तथा प्रत्येक राष्ट्र की अस्मिता नष्ट होने लगी । बौद्धिकता पर केन्द्रित जो विकास हुआ उससे सम्पूर्ण प्रकृति का नाश होने लगा । सारे रिश्ते यंत्रवत और व्यापर की परिभाषा में आने लगा । अनुभूति, आस्था,विश्वास, मूल्य आदि का महत्त्व कमज़ोर पड गया । तब जो देशज राष्ट्रीयता गांधीजी आदि के नेतृत्व में प्रवार्तित हुई वह उत्तराधुनिक युग में आकर नवऔपनिवेशिक स्थितियों का सामना करने केलिए पुनः सशक्त हो गयी । वह प्रकृतिबोध के आधार पर विकसित बहुलता की स्वीकृति में परिपुष्ट मानवीय अधिकारों को महत्त्व प्रदान करनेवाली भारतीय संस्कृति की राष्ट्रीयता है, वह है भारत की नवराष्ट्रीयता । यहाँ पूँजीवादी पाश्चात्य व्यवस्था से उत्पन्न उपभोग संस्कृति तथा तज्जन्य सारी घिनौनी प्रवर्तियाँ

जो राष्ट्र के विकास केलिए हानिकारक है उन सबका प्रतिरोध करती है । आधुनिकीकरण से जो केन्द्रीय स्वर रूपायित हुआ अर्थात जिस एकमुखीय संस्कृति का वर्चस्व कायम था वह हिलने लगा । उसके बदले में समानता अर्थात् वर्ग,वर्ण,जाति,धर्म, वंश,भाषा, कुल आदि भेदभावों से मुक्त प्रकृति केन्द्रित भारत की सृष्टि है लक्ष्य ।उसमें प्रत्येक संस्कृति की अस्मिता है, उसपर केन्द्रित है राष्ट्र का विकास, वह बहुस्वरता पर केन्द्रित राष्ट्रीय विकास देश के स्वतन्त्र विकास के हेतु बनता है । देश का सर्वतोन्मुख वह विकास नवराष्ट्रीय संस्कृति का लक्ष्य है । वह विकास वैज्ञानिक एवं अध्यात्मिक भी है । इसलिए यह गांधीजी के समीप नज़र आते हैं । देश की अस्मिता रूपायिती में देश की भाषा एवं भाषा समूहों का विकास एवं सुरक्षा बभी अनिवार्य है जो हमारी जातीय अस्मिता केलिए सही बुनियाद तैयार करता है । इसप्रकार नवऔपनिवेशिक मनोवृत्तियों का प्रतोरोधी स्वर बड़े पैमाने पर बुलंद है । निम्नलिखित विशेषताओं को नवराष्ट्रीयता के सन्दर्भ में साहित्य में परखा जा सकता है ।

भूमंडलीय संस्कृति का प्रतिरोध

वैश्वीकरण या भूमंडलीकरण की प्रक्रिया पूरी दुनिया में उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रचार कर रही है । विश्व के विभिन्न जमातों की भिन्न भिन्न संस्कृतियों को समाप्त कर उनके स्थान पर एक उपभोक्तावादी संस्कृति को आरोपित किया जा रहा है । इस उपभोक्तावादी संस्कृति को ही सार्वजनीय संस्कृति के रूप में प्रचारित किया जा रहा है। यही मुनाफवादी,

उपभोग प्रधानवादी भूमंडलीय संस्कृति आज सम्पूर्ण मानव के लिए विनाशकारी साबित हो रही है । इस संस्कृति ने मनुष्य को मनुष्य से दूर किया है और मनुष्य को पैसे से जोड़ दिया है । इसलिए हमारे मूल्य,हमारी परम्पराएँ हमारा पारंपरिक और सामाजिक संबंधों,का तानाबाना बदल रहा है । आज सारे चीज़ वस्तु मात्र है सब बिकाऊ है ,। परिणामस्वरूप हम अपने अतीत एवं परम्पराओं से कटते जा रहे हैं। हमारी संवेदनाओं की धार कुंद होती जा रही है । समृद्ध विविधता नष्ट होती जा रही है । सारे विश्व की संस्कृति एक होनी लगी है । इस प्रकार आज के कहानीकार सारी विश्व की संस्कृति को एक करने की इस साजिश के खिलाफ लोक संस्कृति की धुन बजाने की सार्थक चेष्टा करती है । इसके द्वारा प्रकृति की ओर लौटने का सन्देश भी देता है ।

पूँजीवाद का प्रतिरोध

जिसे नवउपनिवेशवाद या भूमंडलीकरण कहा जाता हैवह पूँजीवाद , का ही परिवर्तित चेहरा है। आज हर चीज़ पूँजी केन्द्रित हो गई और सब कहीं पूँजी का वर्चस्व है । जिससे नैतिकता स्थानीयता को भी नष्ट,राष्ट्रीयता , – भ्रष्ट कर रहा है । पूँजीवाद का परिणाम भी है उपभोक्तावाद । पूँजी अर्थव्यवस्था को जीवित और क्रियाशील बनाये रखने के लिए भोग या उपभोग ज़रूरी है । इसलिए कह सकते हैं कि आज का पूँजीवाद भोगवाद या उपभोक्तावाद पर टिका हुआ है । आज का पूँजीवाद तरह तरह के साधनों और उपायों से भोग और उपभोग की प्रवर्तियों को बढ़ावा देने का काम करता है ।

आज राष्ट्र अमेरिका या विश्ववित्तीय सस्थानों विश्व,बैंकोंविश्व व्यापार , संगठनों का चालित खिलौना बनकर रह गया है इसके पीछे पूँजीवाद का खेल ही है । यदि राष्ट्र पूँजी सेनियत्रित होने लगे तो उसके जो खतरे पैदा होगा उसका परिणाम ही आज भोग रहे हैं । यद्यपि औद्योगीकरण से पूँजी के केन्द्रीकरण ने जो ज़ोर पकड़ा और पूँजी का अधिकांश भाग प्रभुत्व वर्ग में ही सीमित रह गया है । सारा लाभ उनको प्राप्त होने लगा । इसलिए धनी धनी – होता जा रहा है और गरीब और अधिक गरीब । इसप्रकार पूँजीवादी व्यवस्था सामंती प्रवृत्ति का प्रत्यक्षतसंरक्षण करती है क्योंकि इसमें शोषण की प्रवृत्ति : पूँजीवाद से उत्पन्न धन लोलुपता ने मात्र आर्थिक मनुष्यों का निर्माण किया है इस वर्ग के पास न कोई मूल्य होता है और न कोई मानवीय संस्कृति । फलतफासीवाद की ओर धकेल रहा है । यही कारण ,क्षेत्रवाद ,हमें जातिवाद : है कि आज की हिन्दी कहानी इस प्रकरण पर अपनी प्रतिरोध व्यक्त करती है ।

साम्प्रदायिकता -फासीवाद का प्रतिरोध

आज वैश्वीकरण के इस दौर में हर देश अपनी जातीय परंपरा के लुप्त होने के आतंक में है और प्रत्येक देशीय संस्कृति वैभव का प्रदर्शन मात्र रह गयी है । फासीवाद हो या राष्ट्रवाद या साम्प्रदायिकता या क्षेत्रवाद सबके मूल में स्वार्थ की भावना और सत्ता प्राप्ति का मोह निहित है । अपनी संस्कृति

की अस्मिता के लिए प्रत्येक समुदाय षड्यंत्र चल रहे हैं । यह सामुदायिक कट्टरवाद दूसरी संस्कृतियों को समझने में बाधक होता है । हर व्यक्ति को अपने विशिष्ट समाज से भावानात्मक लगाव हो सकता हैऔर दूसरे समुदाय , आज हिन्दुत्व का जिस उत्तेजक रूप में : से विरोध उत्पन्न होता है । अत वह भारत के फासीवाद की ओर बढ़ने की सूचना देता है । ,पुनरुथान हुआ है फासीवाद सिर्फ धार्मिक कट्टरता की अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि इसका सम्बन्ध आज के वैश्विक पूँजीवाद से अनिवार्य रूप से है । इस पूँजीवाद के सबसे प्रतिक्रियावादी तबके की तानाशाही है फासीवाद । इसका सशक्त प्रतिरोध आजी की कहानियों में देख सकते हैं ।

स्थानीयता एवं संस्कृतियों का समर्थन

दुनिया में तेज़ी से बदलते सांस्कृतिकआर् ,राजनीतिक ,थिक घटनाक्रम के बीच भारत के लिए अपनी परम्पराओं और पहचानों को बचाकर रखना स्वाभाविक रूप से कठिन हो रहा है । इस भोगवादी संस्कृति ने समाज के भीतर इंसानियत जैसी शब्द को कृत्रिम बना दिया है । इस कारण अर्थ की महत्ता और मन का दायरा मनुष्य को इतना ज्यादा उद्वेलित कर चुका है कि भौगोलिक सीमाओं और अपने संस्कृति के प्रति कोरी भावुकता ने जन्म ले लिया है । जो धीरे धीरे राष्ट्रीयता को भी काफी प्रभावित करती है । आज पूँजीवाद द्वारा संचालित इस भूमंडलीकरण के कार्यक्रम में व्यक्ति की पहचान देश से नहीं पूँजी से होती है । उसका अस्तित्व पूँजी द्वारा निर्धारित होता है । लोग जब अपनी भारतीय पहचान भूलते जा रहे हैं और उनके सामुदायिक

अनुभव ही उनकी नयी पहचान रचते हैं ,'स्थानका महत्व बढ़ जाता है । '
,एक ऐसा मुद्दा है जो अपनी जड़ों की ओर लौटने 'स्थानीयता' वास्तव में स्थिति को समझने में मदद करता है । नवउपनिवेशवादी अपसंस्कृति का विरोध करनेवाली कहानी आज स्थानीयता पर बल देती है । सांस्कृतिक एकरूपतानवउपनिवेशन के विरोध में स्थानीय विमर्श सामने आए । , स्थानीयता को क्षतिग्रस्त करने के लिए नव उपनिवेशिक संस्कृति सबसे पहले हमारे स्मृतियों पर ही आक्रमण करती है । लोक गीतलोक ,लोक गीत , संस्कृति आदि हमारी स्मृतियों को सहेजने में सबसे ज्यादा ,परंपरा,कथा प्रभावकारी भूमिकाएँ निभाती है । आज की कहानियाँ दरअसल ऐसी स्मृतियों – को बचाने की कोशिश भी करती है । स्मृतियों को बचाना स्थानीयता के रू रस गंध को बचाना भीहै । स्मृतियों को सुरक्षित रखने के बहाने हम अपनी संस्कृति की ओरपृथ्वी की ओर लौटते हैं । स्थानीयता ,अपनी मिटटी की ओर, का बोध एक लोक बोध है । इसलिए आज मुख्यधारा संस्कृतियों का प्रतिरोध करते हुए सारे हाशियेकृतों की संस्कृति तथा उनकी अस्मिता को साहित्य के केंद्र में स्थान दिया गया है ।

लोक संस्कृति

लोक शब्द का अर्थ है सामान्य जन समूहजिसमें किसी भी भूभाग , ,विधिक शिक्षा,पर रहनेवाले वे समस्त लोग समाहित हैं जो नागरिक सभ्यता बाह्य सजावट तथा औपचारिकताओं से दूर अपनी परम्परागत आदिम मनोवृत्तियों से जुड़े हुए प्रकृति की गोद में अत्यधिक सरलस्वच्छद एवं ,सादा ,

स्वाभाविक जीवन जी रहे हैं । इसके अतिरिक्त समूची जनजातीयाँ भी इसमें अनुष्ठान एवं उसके विभिन्न ,उत्सव,आती है । इसी लोक से धार्मिक विश्वास क्रिया कलाप लोक संस्कृति का निर्माण करते हैं । समाज के सर्वथा उपेक्षित एवं हाशियेकृत वर्ग जो अपने पूर्व संचित परम्पराओं के प्रवाह में जीते आ रहे है । हमारी बृहद संस्कृति के निर्माण में लोक और उसकी संस्कृति का अहम योगदान हैं । लोक जीवन का प्राणाधार एवं लोक मानस का दर्पण लोक संस्कृति है । लोक संस्कृति वह जीती जिसके तह ,जागती वस्तु है–त लोक की आत्मा बोलती हैं । लोक जीवन की जैसी तरलतम नैसर्गिक अनुभूतिमयी अभिव्यजना का चित्रण लोक गीतों व लोककथाओं में मिलता हैवैसा अन्यत्र , दुर्लभ है । लोक गीतों और लोकनृत्यों ने हजारों वर्षो के हमारे इतिहास की रक्षा की है । और हमारी सहस्त्रों वर्षों तक कीअनुभूतियों इसमें सुरक्षित हैं । लोक संस्कृति में लोक मंगल के तत्व ही निहित है ।

स्त्री संस्कृति

भारतीय समाज और संस्कृति में नारी का स्थान मानवीय था । उन्हें देववन्दनीय का दर्जा प्राप्त था । धीरे धीरे पाश्चत्य – प्राण ,माँ ,सहचरी, आदर्शवादी रूप में परिवर्तन हुआ तथा उपभोक्तावादी अवधारणा को बल मिला । स्त्री सिर्फ कामना की वस्तु नहीं बल्कि एक व्यक्ति और अपने बारे में समाज से खुली बहस चाहती है । पुरुषसत्तान्मक संस्कृति ने ही स्त्री को हीनतर स्थिति में रखा है । स्त्रीसमाज एवं परिवार की आधारशिला है । ,

वहीं पत्नी के रूप में ,नारी जहाँ माता के रूप में त्यागमयी व वात्सल्यामयी है समर्पित एवं सहयोगिनी है तथा बहन के रूप में असीम स्नेह की प्रतिभा भी है । वरन समयानुसार वह गुरु वा सखा आदि के रूप में भी पुरुष की सहायता करती है । आज की नारी बराबरी के वैधानिक अधिकार पाकर भी जैसे वही सदियों पुरानी नारी है इसके विरोध में स्त्री अपने आवाज़ उठाने लगी है ; स्त्रियाँ अपनी पहचान स्वतन्त्रता और अधिकारों के बारे में सोचने लगी है । वे अपनी भीतर व्यक्ति सत् ता का अनुभव कर रही हैं । वे इसके प्रति सचेत हैं कि वे किसी भी याग से अधिक के रूप में देखी जा रही है । स्त्री न 'वस्तु' स्वयं गुलाम रहना चाहती है और न ही पुरुष को गुलाम बनाना चाहती है वह मानवीय अधिकार । इसलिए स्त्री की अस्मिता को केंद्र में लाने – चाहती है का श्रेय कर रहा है ।

दलित संस्कृति

भारत में सदियों से अनेक शोषित पीड़ित और अस्पृश्य जातियों ऐसा समूह रहा है जो समाज परिवर्तन की जटिल प्रक्रिया में शामिल होकर भी उसकी स्थिति ऐसी नहीं हो पायी कि वह राष्ट्र की मुख्यधारा में शामिल हो सके । इसके मूल में सवर्ण मानसिकता मौजूद है । पारंपरिक समाज व्यवस्था में उनकी अस्मिता और अधिकार के सारे रास्ते बंद है । धनसंस्कार और सम्मन,शिक्षा,धर्म , से वंचित यह वर्ग आज शिक्षित होकर अपनी हीनावस्था और अधिकारों के प्रति जागरूक दिखाई पड़ता है । अपनी स्थिति के प्रति उसके मन में न केवल त्रासद पीड़ा और व्यथा है

बल्कि व्यवस्था विरुद्ध एक गहरा आक्रोश और विद्रोह भी है । भूमण्डलीकरण के इस दौर में दलित स्वयं इस सवर्ण संस्कृति एवं जातिवादी संस्कृति पर सवाल उठाते हुए अपनी अलग संस्कृति की खोज में है । उनकी भाषाआचार , – विचार और रहन सहनरीति रिवाज़ सब सवर्णों से भिन्न है । सवर्णों की , तरह उनकी भी अलग पूजा पाठ देवी देवता और त्योहार है । इसलिए दलित अपनी अलग संस्कृति को बनाने का प्रयास करते हैं ।

इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानियों में नवराष्ट्रीयता

वर्तमान समय की हिन्दी कहानियों में विविधता है । ये हिन्दी मानस की नयी उथल पुथल का प्रतिबिम्ब है ।–वैश्वीकृत द्वरा सांस्कृतिक उन्मूलन के दौर में इतिहास के दबे अध्याय खुल रहे हैं और स्त्रियाँआदिवासी ,दलित , और स्थानीय समुदायों का जीवन मुखर रहे हैं। इसलिए आज की कहानियों का स्वर बहिष्कृत की कथा होगी –राष्ट्रवाद से बहिष्कृत हो या वैश्विकरण से । भूमंडलीकरण कह रहा है कि अपनी राष्ट्रीयता अपनी भाषा और अपनी, सांस्कृतिक विविधता के बारे में मत सोचो । इसके स्थान पर एक राष्ट्र एक , संस्कृति और भाषा पर विश्वास रखना है। सौभाग्य की बात है कि इस दशक के बहुसंख्यक कहानिकारों ने उसके प्रतिरोध के तेवर अपनाये हैं। प्रतिरोध कही जानीवाली भूमंडलीकरण की आंधी को रोकने काउस प्रवाह के साथ न , बहाने का जो साहस इन लेखकों ने दिखाया है वह भी सराहनीय है । क्योंकि रचना के क्षेत्र में साम्राज्यवादी अपसंस्कृति जितना ही अमानवीयसवेदनशून्य ,

रचना और रचनाकार अधिक ज़िम्मेदार होती है,होती गयी है। और एक बात यह है कि इस फासीवादी संस्कृति रचना कर्म को भी संकुचित कर रहा है । वैश्वीकरण का कुछ ऐसा असर है कि आज असहमति का अर्थ है शत्रुता । असहमति के साथ साहित्यिक संसार में सहयात्रा संभव नहीं है जो अपने , विरुद्ध आवाज़ उठाता है उनको ख़तम करना इस वर्चस्ववादियों की एजेंडा है । इसलिए इक्कीसवीं सदी के कहानी के क्षेत्र में युवा कथाकारों की एक सशक्त पीठी प्रतिरोध को लेकर उभर सामने आयी है गौरव करने की बात है । वे एक ऐसी नवराष्ट्रीयता का निर्माण करना चाहते हैं जिसमें जाति,सम्प्रदाय ,धर्म,सीमित भूभाग आदि की संकीर्णता के स्थान पर क्रमश : एक समग्र देश और उसके भीतर निवास करनेवाली समस्त जातियोंभि,न्न संस्कृतियों और रीति – रिवाजों के लोगों का संश्लिष्ट सामूहिक रूप का राष्ट्र ।

सांस्कृतिकराजनैतिक आदि जीवन के सभी क्षेत्रों ,आर्थिक,सामाजिक, पर हस्तक्षेप करके भारत को एक विविधोद्देशी व्यापार केंद्र तथा सामुदायिक टुकड़ बनानेवाले भूमंडलीकरण के बाज़ार तंत्र से सीधे टक्कर लेनेवाली कई कहानियाँ इस दशक में प्राप्त हैं इस नयी युवा पीढ़ी में अल्पना मिश्र ,कविता, कुणा,उर्मिला शिरीष ,प्रत्यक्षा,प्रभात रंजन ,संजय कुंदन,मनीषा कुलश्रेष्ठल सिंह आदि के साथ दर्जनों युवा रचनाकार समय को एक नए ढंग से परिभाषित कर रहे हैं। नवराष्ट्रीयता की मुख्य प्रवर्तियों के रूप में भूमंडलीय संस्कृति का विरोध–पूँजीवादी,सांप्रदायिकस्थानीयता का ,फासीवाद का प्रतिरोध ,

पृथ्वी बोध ,स्त्री संस्कृति की स्वीकृति,दलित संस्कृति ,लोकसंस्कृति,समर्थन आदि को देखा जा सकता है।

निष्कर्ष

संक्षेप में इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानी विविधता एवं बहुलता का साहित्य है । हाशियेकृतों को मुख्यधारा में लाने का एक बहुत बड़ा काम इन कहानिकारों ने किया है । आज समस्या उस सांस्कृतिक अस्मिता के प्रति है जिसे दलितअल्पसंख्यकों व अन्य शोषितों न ,स्त्रीयों ,े जो अपने लम्बे संघर्ष से आर्जित किया था और आज उदारवादीफासिसम की एजेंडे के ,राष्ट्रवादी, तहत उनसे छीनी जा रही है । राष्ट्र का स्वर सांस्कृतिक एकता है जबकि राज्य इस सांस्कृतिक एकता को गलत अर्थों में परिभाषित करके देश को : विभाजन की ओर ले जा रहा है । अतदुनिया सांस्कृतिक एकता के लक्ष्य से पहले से अधिक दूर हो गयी है । इसलिए भूमंडलीकरणफासीवाद ,बाजारवाद , के दौर में आज राष्ट्र की अंत की घोषणा की जाती रही हैं । अपनी राष्ट्रीय पहचान को भूलकर लोग सामुदायिक संकीर्णता की ओर बढ़ रहे है । इस वैश्वीकृत पूँजीवादी संस्कृति में पड़कर हाशियेकृतों तथा स्थानीय संस्कृतियों की अस्मिता दबा रहा है । जिस प्रकार अस्मिताओं की एकजुटता ने राष्ट्र को जन्म दिया था उसी प्रकार अस्मिताएँ आज सिकुड़ने लगी हैं तो राष्ट्रीय अस्मिता विखंडित होने लगी हैं । इन हाशियेकृतों एवं लुप्त होनेवाले समुदायों को पुन साहित्य के केंद्र में लौटाना आज के साहित्य के समक्ष चुनौती का : कार्य है । युगों तक हाशिये पर रहने के लिए विवश विविध वर्गों तथा उसकी

सांस्कृतिक अस्मिता को केंद्र रूप देने को आज के कहानिकारों को वैश्वीकृत

सांप्रदायिक फासीवाद को सशक्त,संस्कृतिप्रतिरोध करते हुए आपने इतिहासपरम्परा और स्थानीय संस्कृतियों की ओर लौटाने की आवश्यकता है , । इसलिए स्थानीयता का समर्थन इक्कीसवीं सदी क प्रमुख स्वर हैं । जहां ठेलों एवं – मेलों ,रिश्तों– परिवार,मान्यताएं ,हम अपने मूल्य परम्पराएँ उत्सवों से विमुख होते जा रहेहैं वहाँ आज की कहानी हर व्यक्ति के आत्म संस्कृति को जगाते हुए प्रत्येक इकाई को स्थान देते हुए साहित्य में एक नवराष्ट्रीयता को परिभाषित किया जा रहा है ।

दूसरा अध्याय

‘इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानियों में भूमंडलीय संस्कृति का प्रतिरोध एवं राष्ट्रीय अस्मिता’

नवराष्ट्रीयता के परिप्रेक्ष्य में इक्कीसवीं सदी की कहानियों पर यदि विचार किया जाए तो सबसे पहले भारत की अस्मिता को बनाए रखनेवाली अपनी बहुलता की संस्कृति को बचाने के लिए नव औपनिवेशिक ताकतों से सावधान रखना अनिवार्य है।इसलिए भूमंडलीकरण की व्यापारी संस्कृति में फँस जानेवाले भारत को इससे सतर्क रहना चाहिए।बाज़ार का जाल सर्वत्र छा गया है।हमारी संस्कृति को जड़ों से उखाड़कर फेंकने और एकमुखवाली संस्कृति में परिवर्तित करने की भूमंडल के बागडोर धारण करनेवालों की कोशिशों को पराजित करना है। इस के लिए प्रत्येक को अपनी संस्कृति की जड़ों की तलाश में सक्रिय होना है।

संस्कृति

मनुष्य द्वारा अर्जित सबसे मूल्यवान धरोहर है संस्कृति।यह प्रत्येक समाज की परंपरा से जुड़कर हमारी जीवन पद्धति बन जाती है।अतः हमारी समस्त क्रियाकलापों के पीछे संस्कृति कार्यरत है।संस्कृति मनुष्य को विवेक संपन्न व मानवीय बनाती है।मानवीय होने से तात्पर्य मनुष्य के सांस्कृतिक होने की दृष्टी में निहित है।सांस्कृतिक होने के क्रम में वह पशुत्व से उबरता है और पशु से अलग भी हो जाता है।कहा जा सकता है कि संस्कृति किसी भी देश या समाज के सामूहिक आचरण का प्रतीक है।शंभूनाथ ने अपनी पुस्तक संस्कृति की उत्तरकथा में यों व्यक्त किया है कि “किसी भी देश की जनता की संस्कृति उसी देश की जनता के आपसी लगाव, सहचरताऔर विकास की मुख्य धुरी है।इसके बिना न मनुष्य–मनुष्य के बीच संबध की

कल्पना की जा सकती है, न जीवन के अर्थ और शैली की।संस्कृति इतनी ज़रूरी है।"[1]

भारतीय संस्कृति विविध संस्कृतियों की समन्वयात्मक समष्टि है।इसका मूलाधार 'वसुधैव कुटुम्बकम' पर अधिष्ठित है।इन सबसे परे हमारी भारतीय संस्कृति अपने मूल्यों में, अपने विचारों में और अपनी परंपरा में सबसे ज्यादा ऊँची रही है क्योंकि यहाँ प्रेम, आदर्श, भाईचारा और आदर्श मुख्य थे और व्यक्ति गौण। किंतु समयांतर में विविध कारकों एवं कारणों ने इसके समक्ष नई चुनौतियाँ पैदा कीहैं, ऐसे ही समकालीन दौर में भूमंडलीकरण ने भारत को एक नए सांस्कृतिक चौराहे पर खडा कर दिया है।नव–साम्राज्यवाद, वैश्वीकरण, उदारीकरणऔर निजीकरण आदि जितने भी शब्द इसके साथ प्रयुक्त होने पर भी भूमंडलीकरण के अन्दर छिपे अमानवीय चेहरे को देखने पर उसे कभी भी 'संस्कृति' नाम नहीं दिया जा सकता हैं। अपनी संस्कृति से विमुख होकर और इस भूमंडलीकरण की चकाचौंध में भडकते–भडकते आज हम इतनी दूर चली गई है कि अब हमारी विविधता की अवधारणा कहीं से भी प्रासंगिक प्रतीत नहीं होता है।अतः इस व्यवस्था ने हमारे सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीयता बोध को संकुचित करके पूरे विश्व को एक गाँव में सीमित कर दिया है।यानी कि कुलमिलाकार एक संस्कृति की छतरी के नीचे लाने का काम किया गया है।इसप्रकार हमारी सांस्कृतिक विविधता को अस्वीकार करते हुए समूचे विश्व में सांस्कृतिक समरूपता लाने के प्रयास में भारत में परिवार,

---

[1] शंभूनाथ, संस्कृति की उत्तरकथा, पृ : 150

समाज, संस्कृति और राष्ट्र के समक्ष पुनर्परिभाषा का संकट उत्पन्न हो गया है।

भूमंडलीय संस्कृति

भूमंडलीकरण अपनी नीतियों द्वारा पूरी दुनिया पर एक ख़ास तरह की पूँजीवादी संस्कृति थोप रही है जहाँ अभी तक सांस्कृतिक विविधताओं की एक खुला मंच थी।भूमंडलीकरण के रूप में यह एक तरह का साम्राज्यवाद ही है जो अपनी संस्कृति एवं भाषा को दूसरों पर थोप रहा है।इस तरह की भूमंडलीकृत दुनिया में हमारी प्राचीन एवं पारंपरिक संस्कृतियों, साहित्यों, कलाओं और जीवनादर्शों का कोई स्थान नहीं है।जिससे सबकुछ उलट–पुलट हो रहा है।वास्तव में भूमंडलीकरण अथवा वैश्वीकरण एक व्यापक अर्थ देनेवाला शब्द है मगर बाज़ार से जुड़कर इसका अर्थ एक बिंदु पर केन्द्रित हो गया है।विश्वबन्धुत्व, सर्वमंगल की भावना जैसे सिद्धांत भूमंडलीकरण के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही बनाए गए थे।मगर आज जिसे हम भूमंडलीकरण या वैश्वीकरण कहते हैं वह बाज़ार के साथ जुड़कर पूँजी के वैश्वीकरण के अर्थ में संकुचित हो गया है।यहाँ भूमंडलीकरण, संस्कृति को एक उद्योग में परिणत कर रहा है और उपभोक्ता संस्कृति को बढ़ावा दे रहा है। इसका केन्द्रीय मूल्यबोध 'बाज़ारू लोकप्रियता' है।सुधीश पचौरी ने व्यक्त किया है कि "भूमंडलीयता में संस्कृति एक उद्योग है, उत्पाद है,पण्य है,ब्रांड है।केवल मानसिक पटल में रहने पनपनेवाली संस्कृति जब एक सांस्कृतिक उद्योग में

तब्दील हो जाए तो उसका उपभोग भी होता है।"[1]यह मुनाफावादी, उपभोग प्रधान भोगवादी अपसंस्कृति है, और आज यही संस्कृति संपूर्ण मानवजाति के लिए विनाशकारी साबित हो रही है।इसे समूह या झूंड संस्कृति (Mass Culture) भी कहा जा सकता है, जिसने हजारों साल के इतिहास में पहलीबार संस्कृति और राष्ट्रीय संस्कृति पर इतना भारी आक्रमण किया गया है कि संस्कृति का अर्थ ही बदल गया है। अब कृत्रिमता और विकृत की सस्कृति है। शंभूनाथ अपनी पुस्तक 'संस्कृति की उत्तरकथा में कहा है कि "समूह संस्कृति एक व्यावसायिक और संकीर्ण संस्कृति है, उसे कभी भी जनसंस्कृति या जनता की राष्ट्रीय संस्कृति नहीं कहा जा सकता।यह धारणा ही गलत है कि झुंड संस्कृति कभी भी किसी जनसमूह की अपनी संस्कृति है और जनता के हित से उसका कोई भी सबंध नहीं है। दरअसल झुंड संस्कृति, संस्कृतिहीनता की संस्कृति है वह व्यवसायिक–राजनैतिक हित में बनाई गई एक कृत्रिम सार्वभौमतावादी संस्कृति है।"[2]यह हमें संकीर्णता की ओर ले जाती है।इसलिए भूमंडलीय संस्कृति ने छोटी–छोटी अस्मिताओं को अलग करके देखने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है।अतः सांस्कृतिक विविधता पर बाज़ारवादी भौतिक ताकत के बल पर समरूपता लादने से दुनिया सांस्कृतिक एकता के लक्ष्य से पहले से अधिक दूर हो गयी, तो इस वैश्वीकृत दुनिया में पड़कर हाशियेकृतों तथा स्थानीय, पारंपरिक संस्कृतियों की अस्मिता दब रही है।इसके पीछे भूमंडलीकृत दुनिया की उपज असहिष्णुता एवं उदारता की कमी है।हम लोग

---

[1] सुधीश पचौरी, भूमंडलीकरण और उत्तर सांस्कृतिक विमर्श, पृ : 15

[2] शंभूनाथ, संस्कृति की उत्तरकथा, पृ : 177

भूलते ही जा रहे हैं कि बहुत दिनों तक साथ–साथ रहने के कारण, चाहे वो हिन्दू या मुसलमान, चाहे आदिवासी हो, पारसी और ईसाई रहे हों – इनके मोल–जोल से ही भारतीय संस्कृति का विकास हुआ था।जिसके स्थान पर आज एक ही संस्कृति को जनता पर आरोपित किया जा रहा है वह है पूँजीवादी या भूमंडलीकरण की संस्कृति।फलतः नया वैश्वीकरण सिर्फ व्यक्ति, धन और मुनाफों को ही अहम मानता है।

होना चाहिए था कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में सभी देशों की संस्कृति में आदान–प्रदान होता किंतु हुआ केवल अमेरिकी संस्कृति का थोपा जाना। पूरी दुनिया के बाज़ार, मॉल्स, इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों के उत्पादों से भरे हुए है।संगीत और नृत्य की दुनिया में देखे तो वहाँ भी तीव्र अमरीकी धुनें और शोर का हंगामा बरपाती नृत्य है।अब तो कारों–लक्ज़री कारों के ब्रांड्स का भी यही हाल है किसी भी रूप में किसी भी रंग में उपलब्ध है।इस बहुराष्ट्रीय बाज़ार के लुभावने उत्पादों से क्या खरीदना, क्या पहनना है यह हमारी इच्छा पर नहीं निर्भर है बल्कि इसे विज्ञापन तय करता है।आज उसका उद्देश्य हो गया है, आवश्यकता न होने पर भी वस्तु की तीव्र ललक जगा देना और उसकी प्राप्ति के लिएअदम्य लालसा जगाना।यह भी नहीं टी.वी, मोबाइल जैसे माध्यमों ने अश्लीलताकि नई अवधारणाएँ और एक नई नैतिकता विकसित कर उस सबकेलिए हमारा अनुकूलन कर रहे हैं।नई पीढ़ी पर इन सबका कुप्रभाव गहराई से पड रहा है।इसी से जुडा प्रश्न आतंकवाद और बच्चों, स्त्रियों पर होनेवाले बलात्कार ही है।जिसमें दो–चार साल की बच्चियों के साथ भी

सामूहिक बलात्कार हो रहा है।इसप्रकार भूमंडलीकरण की अंधी दौड़ में हमारे मूल्य, और संवेदनाएँ लुप्त होती जा रहे हैं।इससे हमारी सांस्कृतिक अस्मिता भी नष्ट हो रही है।

इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानी में भूमंडलीय संस्कृति के प्रतिरोध के विभिन्न आयाम

बाजारू संस्कृति का प्रतिरोध

हिंदी में कहानी साहित्य का विशेष महत्व है।कहानी कहने–सुनने की प्रवृत्ति बहुत पुरानी है।हिंदी कहानी का कथ्य आज इतना विराट और बहुआयामी हो चला है कि पिछली शती की तुलना में कहानी साहित्य बहुत आगे खडाहै। बदलते समय में साथ–साथ समस्याएँ भी बदल रही हैं।इस भूमंडलीकरण और बाजारीकरण के दौर में उत्पन्न सांस्कृतिक विरूपीकरण के प्रतिरोध का स्वर आज का मुख्य स्वर है।अब तक जितनी भी विदेशी संस्कृतियाँ, विभिन्न आक्रमणकारियों द्वारा भारत में लाई गई या थोपी गईं, वे हमारे जीवन परिवेश में पूरी तरह घुल–मिल गई थीं ।उन्हें हमने अच्छी तरह आत्मसात कर लिया, पूरी तरह बचा लिया।उनकी अलग पहचान भी न रह गई, वे भारतीय संस्कृति में विलीन होकर एकमेक हो गईं । किन्तु भूमंडलीकरण की संस्कृतिने हमारी निजता, सांस्कृतिक मूल्यों, पारंपरिक स्वरुप में बदलाव लाने के साथ–साथ पुरातन सभ्यता और संस्कृति के सब कुछ को हटाकर अपना स्थान ग्रहण कर लिया।अब पूरा विश्व एक एकल संस्कृति या पूँजीवादी संस्कृति में ढलता जा रहा है। इसका सशक्त ढंग से

आज के कहानीकार उदघाटित करते हैं।इसमें कोई शक नहीं है कि आज की कहानी अपने दौर को एक व्यापक कैनवास पर उकेर रही है और उसमें नयी पीढ़ी की बडी भूमिका है। उदयप्रकाश, कैलाश बनपासी, चंद्रकांता, जयनंदन, सुधा अरोड़ा, पंकज मित्र, वंदना राग, पंकज बिष्ट और हरनोट आदि इसमें उल्लेखनीय है।इसलिए आज बाज़ारवाद, उपभोक्तावाद,सांप्रदायिकता, फांसीवाद और बदलते मानवीय एवं सांस्कृतिक मूल्य उस सबका सशक्त आकलन इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानी में प्रस्तुत है।इस दौर में विश्व स्तर पर घटित होनेवाली घटनाओं की अनुगूँजेंभी हिंदी कहानी में सुनी जा सकती हैं ।जिससे एक नये सौन्दर्यबोध को कहानीकार गठितकरते हैं, जो राष्ट्रीय अस्मिता को बनाये रखने में सक्षम है।

इक्कीसवीं सदी पूँजीवाद व्यवस्था की उपज है।इस दुनिया में आज प्रौद्योगिकी और बाज़ारवाद का खेल है।यहाँ मनुष्य केवल क्रय विक्रय की वस्तू है। इसी कारण आज मानव, मानव न रहकर एक निर्जीव वस्तू बन गया है।स्वाभाविक बात है कि जब बाज़ारीकरण होगा तो मानवीयकरण पार्श्व में चला जाता है।इस चमकती बाज़ार का मतलब ही होता है धन कमाना।इसमें व्यवसाय पक्ष धन कमाता है और ग्राहकीय धन लुटाता है। वास्तव में शोषणकर्ता और शोषितों के बीच का आर्थिक आदान प्रदान ही बाज़ारवाद है। इसलिए बाज़ार की कोई नैतिकता नहीं होती, क्योंकि बाज़ार हमेशा ही मुनाफे के सिद्धांत पर काम करता है।इस सच्चाई की ओर संकेत करते हुए विष्णु नागर लिखते हैं – "भारत एक बाज़ार है। यहाँ कुछ भी बेचा जा सकता है और

कुछ भी खरीदा जा सकता है।जहरीले कचरे से लेकर हथियार तक, भावनाओं से लेकर विचार तक, विनम्रता से लेकर अक्खडपन तक।भारत एक बाज़ार है, जहाँ वैसे तो अब भी एक सरकार होती है, मगर वह भी सही सोचती है कि इस देश में इंसान नहीं बसते हैं, सिर्फ खरीददार बसते हैं और जो खरीददार नहीं है, वे इंसान भी कैसे हो सकते हैं और जो इंसान नहीं हो, वे भला भारत के नागरिक भी कैसे माने जा सकते हैं।"[1]इसलिए आज संपूर्ण विश्व पर यह धारणा पार कर गई है कि बाजारवादी होना समाज में अपनी प्रतिष्ठा का प्रतीक है, इज्जत है।

भूमंडलीकृत बाज़ारवाद के कारण उपभोक्तावाद को निश्चय ही बढ़ावा मिल रहा है।पूँजीवाद में उपभोक्ता वस्तुओं का अनियंत्रित उत्पादन होता है।उसकेलिए बाज़ार का विस्तार होता है।पहले बाज़ार का अपना आदर्श था, उपभोग का अपना आदर्श था।लेकिन वर्तमान "उपभोक्तावादी संस्कृति बाज़ार का ऐसा संगठन है हमारे उपभोग का स्वरूप हमारी आवश्यकताएँ नहीं, व्यावसायिक हित निर्धारित करते हैं।"[2]उपभोक्ता समाज की पहचान भी यहीं होती है कि वहाँ जीवन–मूल्यों, मानव–मूल्यों, आदर्शों, नैतिक सिद्धांतों का कोई अर्थ नहीं होता। सब कुछ धन केन्द्रित हो जाता है।इसमें ऐसी जीवनशैली और सभ्यता पेश हो रही हैं जो झुंड संस्कृति को तैयार करती है। एक ऐसी झुंड संस्कृति या अपसंस्कृति जिनके यहाँ न सोचने की क्षमता रहती है न संवेदनशीलता।शंभूनाथ के शब्दों में "उपभोक्तावादी समाज का आदर्श वह

---

[1] विष्णु नागर, भारत एक बाज़ार है, पृ : 28

[2] वर्तमान साहित्य, जून 2002, पृ : 294

व्यक्ति नहीं है जो सरल और ईमानदार है।वह है जो खूब झूठ कृत्रिमता और ढोंग जी सके।कुछ भी बेच सके और कुछ भी खरीद सके। कभी तर्क में ना जाए।"[1]उपभोक्तावाद हमें तृष्णाओं, इच्छाओं, कामनाओं के माया संसार में भटका रहा है।कामुकता, वासनाएँ इसी संस्कृति की देन है।लोग अब बाज़ार में केवल ज़रूरी चीजों के लिए नहीं जाते, वे उन चीजों के लिए जाते हैं जो चमकीली है और सुख का माया संसार रचते हैं। अतः ज़रूर कहा जा सकता है कि उपभोक्तावाद ने लोगों की आवश्यकता को बड़ा दिया है।शॉपिंग मॉल की संस्कृति ने इंसान की खरीदारी भूख को बढ़ा दिया है । जितनी खुशी पैसों से खरीदी जा सकती है, खरीदने को वो तैयार हैं ।वैसे ही बाज़ारी चीजों के उपभोग को ही जीवन का सुख माननेवाली पात्र है कविता द्वारा लिखित 'मेरी नाप के कपडे' की नायिका।वह स्वयं सोचती है "मुझे इन चीज़ों की कोई ख़ास ज़रूरत भी तो नहीं थी।"[2]किन्तु इतने कपडे लेने का तो सिर्फ इतना मतलब है कि सब ने देखे की अब मुझे कोई अभाव नहीं है और मैं अपने पैरों पर है।इस भोग लिप्सा पर पति प्रश्न करता है कि – "तुम्हारे पास कपडे नहीं थे? पहनने के लिए कपड़ों की कमी हो गयी थी ? मुझे देखो मैंने कितने दिनों से कोई नया कपड़ा नहीं लिया।मेरा तो मन भी नहीं होता।पैसा पहले जरूरी कामों पर खर्च हो, फिर कपडे–लत्ते।पहनने लायक कपडे होने पर भी कपडे खरीदना ऐय्याशी है और मुझे ऐय्याशों का शौक तो नहीं।सच पूछो तो शौक की बात तो दूर ऐय्याशी की हमारी हैसियत ही नहीं।इतनी छोटी आमदनी में हम आराम से

---

[1] शंभूनाथ, संस्कृति कि उत्तर कथा, पृ : 160

[2] कविता, मेरी नाप के कपडे, पृ : 127

खा–पी और जी ले रहे हैं, यही क्या कम है?"[1] उपभोक्ता संस्कृति की विशेषता है कि वह अनावश्यक वस्तुओं को भी मनुष्य के लिए आवश्यक बना देती है और इस तरह मनुष्य की सीमित आवश्यकताओं को सीमाहीन बना देती है।जिससे मनुष्य अधिकाधिक आराम देह और विलासी वस्तुओं का उपभोक्ता बन गया।संजय कुंदन की कहानी है "केएनटी की कार'। नायक एक पत्रकार है जो कार के प्रति अदम्य मोह के कारण बडी मुश्किल से पत्नी की जेवर वगैरह बेचकर एक सेकेण्ड हैंड कार खरीद लेता है।इससे उसे लगने लगा कि जीवन की दिशा बदल गई।उसका भी स्टेटस है, पहचान है।कार में बैठकर दफ्तर जाना एक स्टेटसकी बात है।इस स्टेटस से सफलता की भी पहचान महसूस होती है।वह कार का दीवाना बन गया।दफ्तर में तो कार से जाता है घर पर हो तब भी कार के अन्दर घुसा रहता है।उसे लगता है "मैं तो कभी–कभी सोचता हूँ कि मेरे पास कार नहीं होती तो मैं कैसे ज़िंदा रहता।"[2] अतः कार के बिना जीना उसे मुश्किल की बात हो गयी है। बाज़ारू संस्कृति ने गिनती चीज़ों की प्रदर्शन करके जनता के अपने जाल में फंसाया है, इसलिए लोग आज इस प्रदर्शनवाद में डूब गये हैं।

भूमंडलीकरण का असली अर्थ अमेरिका का विश्वव्यापी वर्चस्व है। अमेरिका अपना वर्चस्व एवं नीतियों को भूमंडलीकरण के ज़रिए सारे संसार में फैलाया जाता है । इन नीतियों का लाभ अधिकांशतः वहाँ की बड़ी बड़ी बहुद्देश्य कंपनियों को मिलता है।अतः इस प्रक्रिया को बढ़ाने से महती

---

[1] कविता, मेरी नाप के कपडे, पृ : 128

[2] संजय कुंदन, बॉस की पार्टी, केएनटी कार, पृ : 32

भूमिका निभानेवाली इकाई है ये कंपनियाँ।आज सारी दुनिया इनके हाथ में है। अतः दुनिया की सारी पूँजी, आद्योगिक क्षमता, निर्यात तकनीकी,ज्ञान का पूरा नियंत्रण आज इन कंपनियों के द्वारा ही है।आज सारी दुनिया में लगभग साठ हज़ार के करीब ऐसी बडी कंपनियाँ दुनिया के कोने–कोने में स्थित है।बाजारवाद के इस दौर में उपभोक्ताओं को अपने जाल में फँसाने का जो खेल खेला है उसके दुष्प्रभाव का सर्वाधिक असर भारत में देखने को मिलता है।तथा विदेशी कंपनियों की वजह से भारत की प्रभुसत्ता का खतरा बढ़ता जा रहा है।इस भूमंडलीकृत व्यवस्थाओं ने दुनिया को समृद्धि की राह पर कम, विनाश की राह पर अधिक धकेला है, क्योंकि वे सर्वसत्तावादी, वर्चस्ववादी आर्थिक संस्थाएँ हैं जिनका कोई विकल्प नहीं हैं।ये संस्थाएँ और साम्राज्यवादी देश विकासशील देशों को जो वित्तीय सहायता, ऋण सुविधाएँ उपलब्ध कराते हैं, उसके बदले में वे उनके प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करते हैं, वहाँ अपनी औद्योगिक प्रबंधकीय कंपनियाँ स्थापित कर उनका शोषण करते हैं।इससे बहुराष्ट्रीय कॉरपोरेट जगत कितना लाभ उठा रहा है, ये तो लोग पूरी तरह से अनभिज्ञ हैं। यह एक नई तरह की नवउपनिवेशवादी रणनीति है कि तीसरी दुनिया का पुनः उपनिवेशीकरण कैसे किया जाए। अतः आज के कहानीकार इस बात को लेकर अधिक चिंतित दिखाई देते हैं, अपनी कहानियों के ज़रिए सशक्त प्रतिरोध भी व्यक्त करते हैं। इस दौर में प्रदीप पंत की कहानी ‘हम होंगे कामयाब’ उल्लेखनीय है।कहानी में दो भिखारियों के संवाद के माध्यम से लेखक अमेरिकी कॉरपोरेट कल्चरकी घुसपैठ और भारतीय

संस्कृति में उसकी मजबूत दखल को अभिव्यक्त हुआ है।इन दो भिखारियों में एक तो बी.ए. पास था, लेकिन उसे नौकरी नही मिल पाई थी। कोई अन्य काम–धंधा भी नहीं कर पाया था धीरे–धीरे भीख मांगना उसका पेशा हो गया।उनको अखबार से यह खबर मिली है कि अमेरीकी सरकार ने घोषणा की है कि भारत ने उसके साथ जो परमाणु समझौता किया है, उससे परमाणु ऊर्जा की भारत की सभी जरूरतें पूरी हो जाएँगी। ये बात सुनकर दूसरी भिखारी का कहना है "ये अमेरीकी कितने अच्छे हैं, कितने परोपकारी। भारत की मदद करना चाहते हैं, परमाणु ऊर्जा देकर, कारखाने लगाकर भारत को आर्थिक महाशक्ति बनाना चाहते हैं।"[1]यह भिखारी, आम आदमी का प्रतीक है जो कॉरपरेट जगत के प्रति नजरअंदाज है।वे न समझते हैं कि जब अमेरीका से परमाणु ऊर्जा आने से अमरीकियों को यहाँआकर काम करने में कोई परेशानी नहीं होगी।बाद में कम्पनियाँ और बडे–बडे कारखाने भी लगाएंगी और हमारा देश झकझक अमरीकी कॉरपरेट कल्चरवाला बन जाएगा। वे मुनाफा कमाकर अपने देश ले जाएंगे।जिसप्रकार आज से ढाई सौ साल पहले एक प्राइवेट कंपनी ने अपने माल की बिक्री के लिए भारत को अपना गुलाम बनाया, उसीप्रकार आज के समय में बहुराष्ट्रीय कंपनियों को बिना सोच विचार किएव्यापार करने की छूट देने का सीधा अर्थ है पुनः देश को विकसित देशों की आर्थिक गुलामी के कुएँ में धकेलना।कहानी में यह स्पष्ट है कि "पर अंग्रेजों और अमरीकीयों में एक समानता ज़रूर है।हमारे बाप–दादा बताते थे कि वे हिन्दुस्तान में ईस्ट इंडिया कंपनी लेकर आए और तुम बताते हो कि ये अमरीकी कॉरपरेट कल्चर

[1] प्रदीप पंत, हम होंगे कामयाब, पृ : 27

लेकर आ रहे हैं। कहते हैं कि वे ईस्ट इंडिया कंपनी चलाते चलाते खुद ही सरकार बन गए थे, और जैसा कि तुम बता रहे हो, उससे लगता है कि कॉरपरेट कल्चर से सरकार चला रहे हैं।"[1]

पानी जीवन का आधार है। पानी के बिना जीना मानव एवं मानवेतर जीवजंतुओं के लिए मुश्किल की बात है।स्वस्थ जीवन और आयु के लिए शुद्ध जल को प्राणदायी और मौलिक माना जाता रहा है।किन्तु कुछ दशकों से इस शुद्ध पेय जल का व्यावसायिकरण हो रहा है।इसलिए लोग बोतल पानी पीने के लिए मजबूर किया जा रहा है और लोग मज़बूर हो रहे हैं।वास्तव में ये सब बहुराष्ट्रीय कंपनियों और हमारे शासकों के बीच की पूर्व–निश्चित योजना ही है। दुनिया में जहाँ कही भी पेयजल के समृद्ध स्त्रोत है तो कंपनियाँ उन्हें क्रय–विक्रय करने के प्रयास में लग गई हैं। विभिन्न तरीके की बाँध परियोजनाओं से शुरू होकर कंपनियों का अधिकार बोतल बंद पानी तक पहुँच गया है। इस निजीकरण की प्रक्रिया ने हमारे चारों ओर सूखते जलस्त्रोतों की संख्या और बढ़ा दिया है। जिससे रंग–बिरंग की बोतल पानियाँ बाज़ार में अधिक चमकने लगी।और आम जनता ये बोतल पानी खरीदने के लिए मजबूर हो गयी है। भारतीय संस्कृति के हर संसाधनों को बिक्री की वस्तू में परिवर्तित करनेवाली इस क्रूर संस्कृति का प्रदर्शन ही पंकज मित्र ने अपनी कहानी 'बिन पानी डॉट कॉम' में चित्रित किया है।कहानी में एक बूढा सुल्तान और नए सुल्तान, दोनों मिलकर व्यापार में लग जाता है। देखने की बात है

---

[1] प्रदीप पंत, हम होंगे कामयाब, पृ : 28

कि लेखक यहाँ बूढ़े सुल्तान को हमारी सरकार के रूप में और नए सुल्तान बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ के रूप में चित्रण किया है।वर्तमान संदर्भ में पूरी दुनिया के दरवाज़ा इन कंपनियों के लिए खोल दिया गया है, इसलिए पूरा अधिकार इनके हाथों में है।ये लोग जब पानी का व्यापार शुरू करते हैं तब अपनी वस्तू की अधिकाधिक बिक्री के लिए जगह–जगह पर विज्ञापन देते हैं कि "पानी ही तो जिन्दगी हैं,''आपकी जिन्दगी हमारे हाथ में है मेहरबानी करके कॉऑपरेटकरें,' आपकी जिंदगी अनमोल है तो फिर कीमत से क्यों घबराये, आपकीजिंदगी महँगी है या पानी।"[1] इसके उपरान्त कंपनी ने इंटरनेट पर अपनी वेबसाइट भी खोल रखी थी 'बिन पानी डॉट कॉम'।यह भी नहीं अपनी वस्तू का गुणगान भी इनके साथ प्रस्तुत हैं।प्रस्तुत कहानी के माध्यम से भारत की दुर्दशा पर लेखक अधिक ज़ोर देते हैं।पानी उपलब्ध होने पर भी बोतल पानी खरीदना आज की जीवनशैली बन गयी है।इसके पीछे ये साम्राज्यवादी शक्तियों का षड्यंत्र है।

बाज़ारू संस्कृति में किसान

पूँजीवाद, नवउदारीकरण की नीतियों का प्रभाव कृषि क्षेत्र पर भी पड़ा है। अर्थात कृषि क्षेत्र बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हाथ में है। गाँव की जल, जंगल, ज़मीन का दोहनकरके–करके उनका अगला पडाव कॉरपरेट खेती पर है। अपने माल की बिक्री करने की जाल में गाँवों को उपभोक्ता बनाना उनके एजेंडे में छिपा हुआ है। जिसके तहत उनका एकमात्र लक्ष्य गाँव की समृद्धि एवं संपन्नता नहीं बल्कि मुनाफा कमाना ही है।अनिता भारती की 'बीज बैंक'

[1] पंकज मित्र, बिन पानी डॉट कॉम, पृ : 86

कहानी बहुराष्ट्रीय कंपनी की इस साजिश को खुलकर रखती है।कहानी में बहुराष्ट्रीय कंपनी द्वारा विकसित बीज को कुसिया नामक गाँव के किसानों में बाँटता है। प्रारंभ में गाँव के नौजवान मोहन तथा गाँववासियाँ बहुराष्ट्रीय कंपनी की चाल को पहचानने में असफल रहे।किन्तु बाद में कंपनी का षड्यंत्र धीरे–धीरे खुलता है।बहुराष्ट्रीय कंपनी पहले किसानों को भरोसा दिलाती है और बाद में किसानों के सामने अपनी शर्तें रखती है।जो इसप्रकार है कि "हमारी कंपनी की कुछ शर्तें हैं जो सबको माननी होंगी।पहली तो यह है कि सभी लोग अपने खेतों में एक बार में सिर्फ एक ही फसल उगाएँगे और वह भी केवल हमारे बीजों से।दूसरी शर्त यह है कि अगले साल भी बीज हमारी कंपनी के ही होंगे।तीसरी शर्त, हमारे बीजों से फसल तैयार होने तक आप सबके देसी बीज हमारे पास जमा होंगे, ताकि हमें भरोसा रहे कि आपने हमारे ही बीजों से फसल बोई है।चौथी शर्त, तीन महीनों में बीजों की सारी कीमत एकमुश्त फौरन चुका दी जानी चाहिए।इस अंतिम शर्त को पूरा होने की गांरटी के लिए आप की ज़मीनों के कागज़ हमारे पास रहेंगे।"[1]किसान अच्छी फसल की उम्मीद में कंपनी की सभी शर्तों को मान लेता है। वे उनकी इस कूंटनीति से अवगत नहीं हैं कि यह उसकी ज़मीन हड़पकर मुनाफा कमाने की साजिश है।किसानों के डूबने और न डूबने से उनका कोई सरोकार नहीं, उसका एकमात्र दृष्टि मुनाफे पर है। लेकिन ये निरीह किसान बीज खरीदकर कंपनी के चंगुल में फंस जाते हैं। नायक मोहन के मित्र चंदू की आत्महत्या किसानों की आँखें खोलतीहैं। कंपनी से पहली बार उसको ही बीज मुफ्त में मिला था और उसका फसल भी

[1] अनीता भारती, बीज बैंक, कथा देश, नवंबर 2011 पृ : 44

अच्छा था "पर दूसरी बार ऐसा नहीं था। साथ ही यह बात बहुत कम लोग जानते थे कि इन बीजों के लिए ख़ास प्रकार की खाद और कीटनाशक अत्यंत महँगे दामों पर उसे सुपर्व बीज कंपनी की सहयोगी कंपनी 'ग्रो मोर' ने उपलब्ध कराईथी।इन अतिरिक्त चीजों की आवश्यकता की जानकारी उसे दूसरी बार बीज बोने के बाद मिली थी।गाँव के सारे देसी बीज कंपनी के पास जमे हुए थे।इसलिए चंदू के लिए कुछ उगा पाना भी नामुमकिन था।लाचारी में उसे कीमती बीज, कीटनाशक और खाद खरीदने के लिए अपने खेत और बैल गिरवी रखकर ऋण लेने पड़ते थे।"[1]अंत में उसे आत्महत्या करनी पडती है।कहानी में नये विदेशी बीजों के ज़रिए किसानों को लूटने का साजिश रच रही है।वह ऐसे बीज होते है, सिर्फ एक बार ही बोया जा सकता है। पूरी तरह किसान को फँसाकर अपना लक्ष्य प्राप्त करने में वे कामयाब होते हैं। कहानी के ज़रिएलेखिका अपने चारों ओर होनेवाले बहुराष्ट्रीय कंपनियों की इस कूटनीति को प्रस्तुत करते हुए जागृत करने का कार्य किया है।क्योंकि उनके द्वारा भारत में बिकनेवाले उत्पाद यहाँ के संस्कार, परंपरागत कृषि रीतियों, परिस्थिति, वातावरण और मौसम के लिए नहीं था।केवल एकमात्र लक्ष्य आर्थिक है।

सामंतवाद के विरूद्ध किसान संघर्ष में भूमिहीन किसान जनता के सामने जोज़मींदार थे, अब उनके स्थान पर कॉरपोरेट घराने हो गये हैं। उन्हें शोषण करने की नीति तथा संघर्ष का मॉडल आज बिलकुल बदल गया

---

[1] अनीता भारती, बीज बैंक, कथा देश, नवंबर 2011 पृ : 45

है।दरअसल बहुराष्ट्रीय कंपनियों के बड़ते शोषण में पड़े किसान आजकल इतना विवश हो चुका है कि अपनी आखों के नीचे बंजर हो रहे खेतों को देखकर कुछ भी नहीं कर सकते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि कंपनी एक न दिन जरूर उनका खेत भी हथिया ही लेगी जैसे कि अन्य किसानों से किया।देवेन्द्र सिंह की कहानी 'कंपनी बहादूर' में भी एक ऐसा पात्र है धनराज जो अपनी खेती के प्रति आत्मीय लगाव है और उसे वे धरतीमाता कहते हैं।वे भी इस कॉरपरेट कंपनी की गूढनीति के प्रति दुःखी है।ये कंपनी किसानों को मनमाना दाम देकर उनकी ज़मीन खरीदने का कार्य चल रहा है। वे सोचते हैं कि ज़मीन है अचल संपत्ति।न जरनेवाली, न भँसनेवाली।पैसा तो आदमी को उडा–पुडा के खतम कर देगा।किसानों का उद्धार के लिए नहीं संहार करने आई है यह कंपनी।इसलिए पिछले कुछ बरसों में लाखों किसान अल्फास खाकर, एल्ड्रिन पीकर या फाँसी लगाकर मर चुके हैं।उनका कहना है – "अँगरेज चले गये और उनके साथ ही कंपनी बहादूर की भी विदाई हो गई। मगर देखते हैं कि कंपनी तो फिर से वापस आ गई रे। वापस नहीं आई है।अंगरेज उसको यही छोड कर गये थे।इन सालों में वह लगातार बढ़ती और फैलती रही।अब इतना फैल गई है कि हमारे खेतों को भी छापने लगी।"[1]स्पष्ट है कि बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने खेती पर भी अपना कब्जा जमा लिया है।आज खेती के बदले बड़े बड़े कारखाने खुल गये है जिससे किसान को खेती छोडकर व्यापार की ओर जाना पड़ता है। खेती भी अपनी अंतिम सांसें ले रही है।हालाँकि कहानी में कंपनी के इस साम्राज्यवाद के खिलाफ आवाज़ उठाने की तैयारी भी हम देख सकते हैं, –

[1] देवेन्द्र सिंह, प्रतिरोध की कहानियाँ, कंपनी बहादूर, पृ : 251

“समझ लीजिए कि बनैला आप पर टूट पड़ा है। अब लडाई से बचने का कोई उपाय नहीं है।आप न लडेंगे, तब भी मरेंगे।और लडनेवाला कभी जीत भी सकता है। मगर जो लडेगा ही नहीं, उसका हारना और मरना तो ध्रुव है।मरना ही है तो लड़कर मरें।.....”[1] किन्तु दुःख कि बात यह है कि सरकार भी शत्रू के साथ जुड़ी हुई है जो रक्षक बनना है वह आज भक्षक बनकर हमारी संस्कृति की नींव को उलझाने की कोशिश कर रहा है इसके प्रति लडाई या प्रतिरोध ही है यह कहानी।

बाज़ार केन्द्रित अपसंस्कृति के चंकुल में पडकर मनुष्य अधिकाधिक स्वार्थी एवं लालची बनता जा रहा है।उसका अस्तित्व समाज व संस्कृति से नहीं बल्कि अर्थ से निर्धारित होता है।बाज़ारू संस्कृति की इस अंधी दौड़ ने कृषि संस्कृति को भी विनाश के कगार पर ला खड़ा दिया है।कृषि संस्कृति हमारी अर्थव्यवस्था उत्पादकता का प्रतीक हैं और किसान हमारे अन्नदाता हैं। किंतु बहुत ही चालाकी से बाज़ारवादी पूँजीवादी ताकतों ने किसानों को ऋण के जाल में उलझाकर हल विहीन, बैलविहीन करके मशीनीकरण की ओर चला गया। इसलिए बैल शहरों की मंडियों में बिकने लगे।पहले किसान मेहनत से ज़मीन को जीतता था।बैलों की घंटियों के संग–संग गीत गाता, आनंदित होता, धरती को उपजाऊ बनाता था। यह भी नहीं बैलों को अपना सगा भाई समझता था। प्रकृति और मानवेतर जीवों के साथ मनुष्य का गहरा रिश्ता कायम था किन्तु जब मनुष्य प्रकृति से अलग होकर

---

[1] देवेन्द्र सिंह, प्रतिरोध की कहानियाँ, कंपनी बहादूर, पृ : 25

स्वार्थी जीवन बिताने लगा है तब से मानव की विनाश भी शुरू हुआ।नष्ट होती हुई ग्राम्य संस्कृति की ओर ध्यान देनेवाली कहानी है कैलाश बनपासी की 'बाज़ार में रामधन'। कहानी में किसान रामधन से इंटरपास छोटा भाई किसी भी कीमत पर बैलों को बेचकर, किराये पर ट्रैक्टर खरीदने का निर्देश रखता है।किंतु रामधन उन्हें बेचकर मशीन संस्कृति की ओर जाने के लिए चाहता नहीं है। वे कहते हैं – "अब कैसे समझाता इस बात को कि बैल हमारे घर की इज्जत है .....घर की शोभा है और इससे बढ़कर हमारे पिता की धरोहर है।उस किसान का भी कोई मान है समाज में, जिसके घर एक जोड़ी बैल नहीं है ! कैसे समझाता कि हमारे साथ रहते रहते ये भी घर के सदस्य हो गये हैं।जो भी रूखा–सूखा, पेज–पसिया मिलता है, उसी में खुश रहते हैं।"[1]वास्तव में भाई मुन्ना आधुनिक युवा पीढी का प्रतीक है।उनमें सिर्फ बाज़ारू मानसिकता यानी की बेच–खरीद भाव ही मौजूद है ।किंतु रामधन के लिए बैल तो अपनी प्रतिष्ठा, परंपरा, सहृदयता का प्रतीक है।यहाँ केवल रामधन का दुःख नहीं है पूरे किसानों के मानसिक संघर्ष, एवं व्यवस्था के प्रति प्रतिरोध अभिव्यक्त किया गया है। कुछ साल पहले तक यह सिर्फ एक छोटा सा गाँव था।जहाँ किसान थे, उनके खेत थे, हल–बक्खर थे, उनके गाय–बैल थे, कुएँ और तालाब थे, उनके नीम और पीपल थे। पर उनके स्थान पर अब एक छोटा शहर है –शहर की सारी खूबियांलिए हुए।किंतु जिसमें परंपरागत चीज़ें तथा किसानों से संबधित आवश्यक वस्तुएँ समाप्त होती जा रही हैं।यहाँ अब वे चीजें आ रही हैं जो गाँव–देहातों को शहर का सुख और स्वाद देनेवाली हैं।शहर

[1] कैलाश बनपासी, बाज़ार में रामधन, पृ : 16

का सुख अपनी पूरी चालाकियों के साथ गाँव पर छा गया है, इसलिए गाँव की सामूहिकता और परस्पर आत्मीयता समाप्त होती जा रही है । बदलते परिवेश में सामूहिकता, सहिष्णुता सहकर संकुचित होकर हम आज अपने में सीमित हो गए हैं जिससे अपनी परंपरा, मौलिक चीज़ें, के प्रति कोई सम्मान व कीमत नहीं है।

कला का बाज़ारीकरण

लोक कलाएँ श्रमिक चेतना की सामूहिक एवं रागात्मक अभिव्यक्ति का प्रतिफल होती हैं।उसमें कहीं एक समाज की आत्मा निहित होती हैं । आज के इस हाहाकारी समय में भूमंडलीय संस्कृति के वर्चस्व ने हर तरह की हाशियेकृत संस्कृतियों को बर्बाद किया है।इसलिए अन्य संस्कृतियों के समान लोक–संस्कृति भी बाजारीकरण के दबाव में है।आज व्यावसायिक कलाकार बड़े पैमाने पर लोक–संस्कृतियों का दुरूपयोग कर रहे हैं।उनमें होनेवाले परिवर्तन सकारात्मक नहीं है।पूरी एक नकली संस्कृति को लोक कलाओं के नाम पर पैदा की गयी है। इसलिए भारतीय लोक कलाएँ तिरोहित होती जा रही हैं। मनोरंजन के साधनों की विद्रूपता ने लोक कलाकारों के अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है।फलतः उपेक्षित लोककलाकार धीरे–धीरे अपनी परंपरा से गायब होते जा रहे हैं। उनकी कुछ स्मृतियाँ ही परंपरा में शेष रह गयी हैं।ऐसे उपेक्षित कलाकारों के जीवन–संघर्ष को उकेरनेवाली कहानी है युवा लेखिका मनीषा कुलश्रेष्ठ की 'स्वाँग'।लोक कला के लिए जीवन समर्पित गफ्फार खाँ नामक एक बहुरूपिया कलाकार की कहानी है यह।वह

राष्ट्रपति से पुरस्कार प्राप्त कलाकार था।अब वह बूढ़ा और रोगग्रस्त है। अपने बूढ़ापे में भी उसने अपनी कला को जीवन से काटके देखने का प्रयत्न नहीं किया है, उनकी कला जीवन से जुड़ी है। जीवन के कण–कण से जुडी रहती थी।इसलिए राजस्थान की मेला में बहुरूपिया का स्वाँगरचता है।यह तो देशी–विदेशी टूरिस्टों को आकर्षित करने के लिए चलाया गया था।इसमें लोक कला की भी माँग थी।लोग सन्तुष्ट होकर उन्हें कुछ दे देते हैं।किंतु वहाँ कुछ युवतियाँ लोककला के नाम पर कामोत्तेजक कला प्रदर्शन कर रही थी।इस प्रदर्शन में बूढ़े गफ्फार खाँ का स्वाँग पीछे रह जाता है।अपनी कला का जो अपमान हो रहा है उसपर आक्रोश से वे कहते हैं – "ये साली काल बेलिया, खानाबदोश औरतें आज लोक कला के आकाश पर हैं और हम जैसे धूल चाट रहे हैं।"[1]स्पष्ट है कि आजकल युवा वर्ग में न कला के प्रति रागात्मकता और न कोई आत्मसमर्पण।इसलिए लोकगीत, लोकनृत्य, लोक नाट्य आदि अपनी ज़ड से विस्थापित होकर प्रदर्शन करने की चीज़ें बनते जा रहे हैं।किन्तु उनके पास नयी पीढ़ी से लड़ने की ताकत नहीं है।यह भी नहीं बाज़ार के अनुरूप लोगों में आस्वादन शैली भी बदल गयी है।इसप्रकार यह कहानी लोककला के उपर पड़ी हुई भूमंडलीय संस्कृति की साजिश के खिलाफ प्रतिरोध करने की सार्थक चेष्टा करती है। मेले, स्वाँग, बहुरूपिया, लोकगीत आदि जीवन की तरलता एवं सहजता की ओर हमें ले जाती है।किंतु लोकप्रिय संस्कृति ने इसको नष्ट किया है।

---

[1] मनीषा कुलश्रेष्ठ, स्वाँग, कठपुतलियाँ, पृ : 24

बाज़ारवाद से संबंधित बुनियादी सच यह है कि सारी चीज़ें वहाँ बेचने योग्य माल मात्र हैं।कला, साहित्य, संगीत आदि सभी मौलिक चीजें इसमें शामिल हैं।वे बाज़ार की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाए जा रहे हैं।सबसे आगे बढ़कर उसे फैशन की वस्तु में बदला जा रहे हैं।इसका सशक्त प्रतिरोध आज के कहानीकार करते आ रहे हैं।सुषमा मुनीन्द्र की कहानी 'फंडा यह है कि' में दिखाया गया है कि बाज़ारीकरण के इस युग में एक कलाकार कला को बिकाऊ बनाने के खिलाफ खड़ा हो जाता है क्योंकि बाजारीकृत इस जमाने में टिके रहने के लिए उसे संघर्ष करना पड़ता है।कहानी में चार युवक उनके पास मूर्ती बनवाने के लिए आते हैं। दुर्गा पूजा केलिए उन लोगों को दुर्गा का चेहरा बिल्कुल कैटरीना कैफ जैसा होना चाहिए। यह सुनकर मूर्तिकार चौंक जाता है।कला उसकेलिए एक बाज़ारू चीज़ नहीं है। मूर्तियाँ बनाना कोई व्यवसाय भी नहीं है बल्कि पुण्य साधना और उपासना है। लेकिन मूर्तिकार का बेटा इसके बिल्कुल उल्टा है। वह आज की बाजारू संस्कृति का प्रतीक है।उसके संबंध में मूर्ति बनाना पैसा कमाने का एक उपाय मात्र है इसलिए लोग जैसे डिमांड करेंगे मूर्तियाँ वैसे ही बननी चाहिए तब ही इस बाज़ार में टिक रह पायेगा। वह कहता है "बाबा अब मूर्तियाँ बनाना श्रद्धा, आस्था और तुम्हारी मानूँ तो पुण्य का काम नहीं रहा, बिजनेस बन गया है। .....जो बाज़ार की नब्ज पकड़ना जानता है वही बिजनेस कर पाता है। यह आजकल का फंडा है।"[1]स्पष्ट है कि बाज़ारोन्मुखित जनमानस सिर्फ ऐसे व्यवसायों में रुचि ले

[1] सुषमा मुनीन्द्र, फंडा यह है कि, पृ : 32

रहा है जहाँ खूब पैसा हो। हालाँकि इसके मूल में भौतिक और भोगवादी संस्कृति के प्रति हमारा आकर्षण ही जिम्मेदार दिखाई देता है।

धर्म का बाज़ारीकरण

धर्म किसी भी संस्कृति का प्रमुख तत्व होता है।धर्म से मनुष्य संस्कारसंपन्न होता है।शरीर, मन एवं आत्मा की शुद्धता के साथ ही धर्म विचार और व्यवहार को भी आदर्श बनाता है।किंतु पुँजीवाद ने धर्म को धंधे में बदल दिया है।धर्म का मकसद अब आत्मोद्धार नहीं, संस्थागत व्यवसाय के रूप में उसका विकास हुआ है।यह धर्म के परंपरागत रूप को बदलने का समय है।यानी कि धर्म ने अन्य उपभोक्ता वस्तुओं की तरह अपना एक बाज़ार बनाया है।पंखुरी सिन्हा की 'तीर्थयात्रा, अर्थशास्त्र और ईश्वरकहानी में इस स्थिति का खूब चित्रण है।तीर्थयात्रा के नाम पर लोगों को लूटने का चित्रण इसमें व्यक्त किया गया है। मुनाफा कमाने के लक्ष्य से स्थापित इन संस्थाओं द्वारा झूठे विश्वासों के आधार पर लोगों को अधिकाधिक लूटा जाता है। इसलिए भक्ति गीतों की भरमार देखी जा सकती है।फ़िल्मी गानों की तर्ज पर कीर्तन सुनकर हम यह नहीं निश्चय कर सकते हैं कि वह कीर्तन है या किसी फ़िल्मी गाना। "शहर किसी दूकान में देवी की वंदना का ही गीत बज रहा था। हालाँकि धुन एकदम फ़िल्मी थी।"[1]इसलिए अनेक व्यवसायी लोग तीर्थयात्रियों की प्रतीक्षा में है।उनका व्यवसाय धर्म के नाम पर ही संपन्न हो रहा है।धर्म के अंदर जितना भी नैतिक मूल्य था वह आज बिखरने लगा है।

---

[1] पंखुरी सिन्हा, तीर्थयात्रा अर्थशास्त्र और ईश्वर, पृ : 87

धर्म अब फास्ट फूड जैसा सामान है।धार्मिक आयोजन के लिए बकायदा दुकानें खुल गई हैं, पैसा फेंको – पुण्य कमाओं इसके पीछे का नारा है। फलतः सैकड़ों बाबा, स्वामी, गुरु और संप्रदाय भी पैदा हो गए हैं। "अब भक्ति अपने उपचारात्मक रूप में सामने आ गई है।वह अफीम नहीं, ब्रांड है जिसे लेकर आप उस तरह कुछ देर के लिए तुष्ट हो सकते हैं जिस तरह कोका–कोला, पेप्सी पीकर या मैक्डॉनाल्डखाकर तृप्ति का अनुभव करते है।वह एक ब्रांड है जिसका बाज़ार अनंत है।"[1]

आजकल समाज में जितने लोग हैं उतने ही बाबा हैं।इस बात पर व्यंग्य करते हुए सुधीश पचौरी ने लिखा है "इस तरह जितने लोग हैं उतने बाबा हैं।जितने बाबा हैं उतने मंच हैं और कट्टर चेले–चेलियाँ हैं।जितने मंच हैं उतने कथा प्रवचन हैं।सारे बाबा दृष्ट–पुष्ट दीखते हैं ।माया और मोह–मत्सर के खतरों के बारे में बताते–बताते वे खुद माया–मोह की मर्सिडीजों में चलने लगे हैं । जब ये बाबा चलते हैं तो सौ–सौ बड़ी कारों का काफिला चलता है।"[2] इस संदर्भ में नीरजा माधव की कहानी 'पथ–दंश' महत्वपूर्ण है। कहानी में बाबाओं की इस जीवन छवि को रेखांकित किया गया है।कहानी के पात्र मँगरू के काका रामबिहारी अचानक बाबा के रूप में बदल जाते हैं ।पूछने पर उनका कहना है –"..... वह गाँव में अब बहुत कम रहता है।कभी कभी आता है ..... बड़े ठाठ हो गये हैं उसके .... गरीब दुखियों की सेवा ..... जनता की सेवा ..... लोगों के बीच में प्रभु का सन्देश पहुँचाना .... बदले में जहाँ चाहो घूमो, फिरो,

---

[1] सुधीश पचौरी, उत्तर सांस्कृतिक विमर्श, पृ : 36

[2] सुधीश पचौरी, उत्तर सांस्कृतिक विमर्श, पृ : 36

खाओ, पियो .... सारा खर्च बैठे बैठाये मिलता रहता है। .... काम केलिए दर–दर ठोकर खाने से छुट्टी .... मान सम्मान अलग से।"[1] यही है आज की भक्ति का विश्व बाज़ार।

मीडिया में नवउपनिवेश का हस्तक्षेप

हम जानते हैं कि हम जिस समाज में रह रहे हैं उसमे मीडिया की और खास तौर पर इलेक्ट्रोणिक मीडिया की भूमिका कितनी जबरदस्त है । चौबीस घंटे न्यूज़ देनेवाले न्यूज़ चैनल न केवल जनमत तैयार करने में अहम भूमिका निभा रहे हैं बल्कि वे देश का राजनीतिक–सामाजिक–आर्थिक एजेंडा निर्धारित करने तक की हैसियत में आ गये हैं । बहुत सारे देशों में हुए परिवर्तन इसके प्रमाण हैं । इसलिए आज के मनुष्य के जीवन में संचार माध्यमों की भूमिका इतनी प्रभावी और महत्वपूर्ण हो चुकी है कि इसका कोई विकल्प नहीं सूझता । वैश्वीकरण एवं भूमंडलीकरण के इस दौर में मीडिया की भूमिका इतनी शक्तिशाली हो गई है कि उसके अर्थ भी परिवर्तीत हो गए हैं । क्योंकि भूमंडलीकरण केवल एक दर्शन, विचारधारा, मूल्य एवं तकनीक का पर्याय नहीं है बल्कि यह एक सुनियोजित संस्कृति का संवाहक भी है ।मीडिया का सरोकार सामाजिक–आर्थिक–सांस्कृतिक एवं राजनीतिक घटनाओं से होता है ।यही कारण है कि भूमंडलीकरण के प्रभावों से मीडिया भी अछूता नहीं रह सका है । नतीजा यह हुआ कि आज का मीडिया जनसंचार माध्यम की भूमिका से विमुख हो गया है।कुक्कुरमुत्तों की तरह जो खबरिया चैनल उग आए

[1] सुधीश पचौरी, उत्तर सांस्कृतिक विमर्श, पृ : 37

है उनके बीच सनसनी फैलानी की होड लग गई है । इसलिए इन चैनलों को अपने एजेंडे पर चलने के बजाय बाज़ार के एजेंडे पर चलने केलिए बाध्य कर देता है । यों तो सर्वमान्य तथ्य है कि पूँजीवादी व्यवस्था में टेलिविज़न न्यूज़ का निर्माण एवं वितरण एक उद्योग है, एक कारोबार है ।जाहिर है कि इस उद्योग का भी अपना एक आर्थिक आधार होगा और कुछ सुनिश्चित लक्ष्य भी ।इनमें सर्वोपरि है टेलिविज़न न्यूज़ प्रदान करनेवाले उपक्रम को इस ढंग से चलाया जाना जिससे वह लाभकारी हो ।उनके सामने जनता के दुःख–दर्द नहीं अपने उत्पादों को ज़्यादा से ज़्यादा लोगों तक पहुँचाने की चिंता होती है । इसलिए चैनलों पर खबरों को ग्लैमराइज किया जाता है ताकि ज़्यादा से ज्यादा विज्ञापन मिल सके । टी. आर. पी. आज के बाज़ार द्वारा बनाया गया ऐसा शब्द है जिसपर मीडिया कुर्बान हो गया है । इसने बाज़ार के औजार के रूप में काम करके टेलिविजन न्यूज़ को उपभोग की सामग्री बना दिया है ।सच्चाई, संवेदना और मानवीयता से इनका कुछ भी लेना–देना नहीं हैं ।हम जैसे लोग अज्ञानतावश टी.आर.पी. के मायाजाल में फँसकर नागरिक या दर्शक से उपभोक्ता बन गये हैं । अर्थात भूमंडलीकरण के इस बाज़ारवादी दौर में आम आदमी एक उत्पाद की तरह बाज़ार में खड़ा है ।

पीडा, अवसाद और त्रासदी को नया मीडिया किसप्रकार उपभोक्ता वस्तु की तरह बेचता है, इसका बडा यथार्थ चित्रण पंकज मित्र की 'आज, कल, परसों तक' कहानी में है । एक निम्नमध्यवर्गीय किसान बैंक का कर्ज न चुका पाने के कारण आत्महत्या कर लेता है । उसका बडा बेटा

जिस फैक्टरी में काम करता था उसमें कई महीनों से तनख्वाह नहीं मिली थी, वह भी उसी दिन फैक्टरी के सामने आत्महत्या कर लेता है । छोटे भाई को उसने एक साईबर कैफे खुलवा दिया था ।उसे सेक्स रैकेट चलाने के आरोप में पकड़ा जाता है । इन सब बातों को जोडकर खबरिया चैनल एक नई मसालेदार स्टोरी गढ़ता है कि "जैसे कि लोगों को शक था कि रणवीर (बडे भाई) की रणवीर (बडे भाई) की पत्नी और उसके बाप के बीच है । अवैध संबध लेकिन हमारे खोजी रिपोर्टरों ने सूँघ ली असली दास्तान–दरअसल, रणवीर की पत्नी के अवैध संबंध थे छोटे भाई तेजप्रताप के साथ..... तेजप्रताप चलाता था नोएडा में सेक्स रैकेट और रणवीर की पत्नी की भी रही होगी भागीदारी इसमें ।यही बात नागवार गुजरी रणवीर को और उसने खुद को जलाकर कर ली खुदखुशी.... कि और अब बचे बाप को अपने रास्ते से हटाने केलिए उसी औरत ने जहर देकर मारा डाला ।"[1]इसप्रकार कर्ज में डूबे किसान की आत्महत्या और देशी उद्योगों की बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा निगलने की वैश्विक नीति के कारण आत्मदाह करनेवाले उसकी बेटी की कहानी को मीडिया किसप्रकार पैसा कमाने का ज़रिया बनाता है, यह कहानी में स्पष्ट किया गया है । जनसंचार माध्यमों के पीछे होनेवाले नए विश्व पूँजीवाद के कुटिल तंत्र के यथार्थ को प्रस्तुत करते हुए अपना प्रतिरोध व्यक्त किया गया है ।आजकल मीडिया का सबसे बडा लक्ष्य ज़्यादा से ज्यादा लोगों को उपभोक्ता बनाना है और कई बार अपने लाभ केलिए दर्शकों की रुचियों को आकार देने केलिए भी टी.वी. न्यूज़ को रोचक ढंग से परिवर्तन कर लेता है

[1] पंकज मित्र, आज, कल, परसों तक, हुडक्लूल्लू, पृ :19

।इस मुनाफाखोरी लक्ष्य की प्राप्ति केलिए मीडिया न केवल सामाजिक सरोकारों से विमुख हुआ है, बल्कि अपनी एथिक्स को भी वे भूल जाते हैं । भूमंडलीकरण के दौर में यह खतरा अपने विराट रूप में सामने आ रहा है।इसकी चकाचौंध में पडकर हमने अपनी संस्कृति को खो दिया है । अपने मूल्यों को बाज़ार की चमक दमक में फेंक दिया गया है ।इसलिए दर्शक एकदम चैनल की ओर आकर्षित करने केलिए ये अपराध, हिंसा, अवैध संबंध, जैसे विषयों को उठाते हैं या बनाते हैं जिससे मीडिया सनसनी पैदा करती है।यह हमारी संस्कृति के गिरावट की स्पष्ट झलक है ।

साईबर दुनिया में खोयी हुई मानवीय संवेदनाएँ

इक्कीसवीं सदीके आगमन से करीब डेढ़ दशक पहले भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने तकनीकी करिश्मों, वीडियो, इंटरनेट के संजाल और व्यापार नीतियों के रास्ते में हमारी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अवधारणाओं को काफी प्रभावित करना शुरू किया था । ये सारे साधनों ने पूरी दुनिया को अपने कब्जे में रख दिया है ।फास्ट फूड, फ़ास्ट म्यूसिक, भोगवादी मनोरंजन के संसाधनों एवं फास्ट लाईफ ने हमारी जीवन शैली पर ही नहीं, हमारी विचारधारा और सांस्कृतिक चेतना पर खासा असर डाला । इनके साथ ही आज लोग अधिक समय बिताते हैं । इसलिए समाज एवं संस्कृति में जो स्वीकृत था वह महत्वपूर्ण न रहा, फालतू पडने लगा । बाज़ारवादी ये ताकतें मनुष्य को सामाजिक प्राणी नहीं, बल्कि एक बाज़ारवादी प्राणी मानती हैं ।बच्चे भी आज इन परिस्थितियों का शिकार होते आ रहे हैं । उनका बचपन

खेल के मैदानों एवं तरलता से निकालकर बंद कमरे में डाल दिया गया है । इसलिए मीडिया के मोहक वीडियो, चमत्कारी खेल एवं कार्टून आज इसके दोस्त है । वारगेम, ब्लूवेल जैसे मनोरंजक खेल बच्चों में एक तरह के नशे की आदत डाल रहे हैं जो उन्हें हिंसा केलिए भी उत्प्रेरित कर रहा है ।इसप्रकार कंप्यूटर की दुनिया में असंख्य गेम, कार्यक्रम, फिल्में हैं जो इसकी समूची जीवन एवं बौद्धिक विकास को बदल रहे हैं ।इसका प्रतिफलन हमारे समाज में दिखाई पडने लगा है।सबसे बडी चौकाने की बात यह है कि कंप्यूटर, टी.वी, मोबाईल की प्रभाव वो बच्चों प्रकृति एवं पर्यावरण से भी दूर रखा ।ताकि फल, फूल, पेड़, पौधे, पर्वत और नदी जैसे मौलिक चीज़ें इनकी समझ से दूर है जो कभी भी असली रूप में उन्होंने नहीं देखा है । इस चुनौती को लेकर लिखी गयी कहानी है अवधेश प्रीत की 'कौतुक कथा' जो संस्कृति से दूर होती हमारी आधुनिक शिक्षा प्रणाली पर भी प्रहार करते हैं ।कहानी में बच्चे फूल,नदी और पेड़ के संबधित अधिक जानकारी केलिए पूछने पर उन्हें समझाने केलिए यहाँ अध्यापक गण भी अशक्त होकर दिखाई देते हैं ।बात नगराधीश तक भी पहुँच जाती है ।उन्होंने विद्वानों के नेतृत्व में एक बैठक बुलायी । वे भी उत्तर ढूँढ़ने केलिए परेशान हो जाते हैं ।क्योंकि ये सारी चीज़ें उनकी स्मृति से फीक गयी हैं । अंत में गूगिल में सेरच करने पर जवाब तो इसप्रकार मिलता है कि "हर कंप्यूटर की एक सीमा है .... यह सिर्फ उतना ही बताता है जितना हम इसमें फीड किया जाता है । लेकिन ज्ञान की सीमा नहीं है .... क्योंकि मानव मस्तिष्क जिज्ञासु है .... ।यह जिज्ञासा सिर्फ तब तक ठीक है, जब तक कि

वह राज–काज सत्ता और सिंहासन के प्रति जिज्ञासु न हो..... इसलिए इस ज्ञान को बांधों .... कैद कर लो..... स्मृतियों से बाहर कर दो उसे,....ताकि मुनाफा सिर्फ वह सोचे जो कि कंप्यूटर सोचता हैं, कंप्यूटर का कंट्रोल हमेशा हाथ में रखो ।"[1] प्रस्तुत कहानी का संदर्भ भविष्य में होनेवाली दुरवस्था का संकेत है ।भोगमय जीवन की सुख लोलुपता में हम अपने प्रकृति से, मिट्टी से, और अपने आत्मीय संबंधों से भी अलग होकर तकनीकी युग में जी रहे हैं ।जिससे मानवीय संवेदनाओं का बेतरह ह्रास हो रहा है इसका प्रतिरोध है आज के कहानीकार कर रहे हैं ।

हरेक टेक्नोलजी का आविष्कार इंसान ने अपनी सुविधा केलिए किया था किन्तु स्थिति अब यह हो गई कि ये साधन हमारी दिनचर्या को भी नियत्रित करने लगे हैं ।अन्य संचार माध्यमों की तरह टेलिविजन भी पहले से हमारी ज़िन्दगी का एक हिस्सा बन गया है ।इस संस्कृति ने सांस्कृतिक मूल्यों के साथ–साथ पारिवारिक संबधों की आत्मीयता को भी छिन्न–भिन्न कर दिया है । प्रारंभ में इसकी विषय वस्तू राष्ट्रीय होती थी किन्तु अब वह राष्ट्र की सीमाओं को तोडकर अंतर्राष्ट्रीय बन गयी है । इसकी चकाचौंध में घर के लोग सबकुछ भूल रहे हैं । भारतीय संस्कृति से दूर रखकर पाश्चात्य विचारों एवं संस्कृति को प्रस्तुत करने में ये माध्यम गौरवकी अनुभूति कर रहे हैं ।आज टेलिविजन ही घर में सबसे ज़्यादा बोलता है । हर रंग में और भाषा में बोलता है और हर वक्त बोलता रहता है ।पूरा परिवार इसके जादूई आकर्षण से

---

[1] अवधेश प्रीत, कौतूक कथा, पृ :19

बँधा है ।कैलाश बनपासी की कहानी 'प्रतीक्षा' में भी पारिवारिक असंतुलन का मुख्य कारण टी. वी तथा उसके पीछे के बाज़ार ही है । इस कहानी का नायक भरतलाल मण्डावी याने बि. एल. मण्डावी सरकारी नौकर है । एक निम्नमध्यवर्गीय परिवार है उसका । किंतु बाज़ारीकृत दुनिया के प्रभाव ने निम्नवर्ग को भी छोडा नहीं है । ट्रेन में यात्रा करते समय उन्होंने एक अंधा पिता और बेटी के बीच की आत्मीयता से भरे संवाद को सुनकर तय कर लिया कि उनका घर भी ऐसी आत्मीयता से भरा परिवार बन जाए । घर को दफ्तर नहीं बनाना चाहिए । इस खुशी के साथ वह घर आया । घर आकर उन्होंने देखा कि सारा परिवार मग्न होकर टी.वी देख रहा है ।कोई मण्डावी की ओर देखते भी नहीं है । "वे खड़े थे और समझना चाह रहे थे कि क्या करें। .... टी. वी पर कुछ बज रहा था।बज क्या रहा था, आधुनिकतम वाद्य यंत्रों का मिला–जुला शोर था–ढाँक–ढाँक–ढाँक ।यह संगीत तेज होता गया, कमरे में भर गया फिर मण्डावी के दिल–दिमाग में बजने लगा – ढाँक–ढाँक जैसे पुल से कोई सूपर फास्ट ट्रेन गुजर रही हो – धड–धड–धड–धड ... ! मण्डावी जी को लगा, उनका मस्तिष्क अपनी संवेदना खोता जा रहा है, संवेदना के बारीक तंतु निष्क्रिय होने लगे हैं और अन्तरीक्ष के विराट शून्य में पहुँच गया हैं कि वे कोमा में जा रहा हैं .... फिर कि वे मर रहे हैं .... ।उन्होंने चीखना चाहा, लेकिन गले से आवाज़ नहीं निकली ।"[1] स्पष्ट है कि टी.वी संस्कृति ने किसप्रकार पारिवारिक संबधों को बदल दिया है । वास्तव में घर में टी.वी, अपने साथ एक संपूर्ण बाज़ार संस्कृति को लेकर आया है जिसकी चकाचौंध में

[1] कैलाश बनपासी, बाज़ार में रामधन संग्रह, प्रतीक्षा पृ : 19

एक परिवार के अंदर सदस्य परस्पर अपरिचित हैं, अब घर का मालिक मनुष्य नहीं बल्कि टी.वी, मोबाइल, कंप्यूटर जैसे मुख्य समाचार हैजिसने घर में खलनायक का स्थान ले लिया है और परिवार की परिभाषा को बदल कर रखा है ।इसलिए कहानीकार प्रतिरोध के साथ उन तमाम परिवारों की प्रतीक्षा को व्यक्त करते हैं जो दृश्य माध्यमों के मायाजाल से मुक्ति प्राप्त करके जीवन को उस पूर्णता के साथ, आत्मीयता के साथ जीने केलिए लालायित है । जैसे कि मण्डावी प्रतीक्षा करते हैं ।

आजकल जो कहानियाँ लिखी जा रही है उनकी सबसे बडी चिंता बाज़ारवाद, उपभोक्तावादी वह संस्कृति है जो काली छाया की तरह मनुष्य पर मंडरा रही है ।पहले भी कहा जा चुका है कि इलेक्ट्रोनिक मीडिया ने मनुष्य जीवन में बडी गहराई तक प्रवेश पा लिया है उसके चलते जीवन और जीवनमूल्य तेजी से बदल रहे हैं ।इसका मुख्य कारण दृश्य–श्रव्य संचार माध्यमों का अधिक प्रभाव ही है ।अश्लीलता और हिंसा का निर्बाध प्रसारण इसी तरह चलता रहता है कि हम अपनी जडों से कट गये और एक क्रूर एवं बर्बर समाज में तब्दीली हो गयी है ।ऐसी बात नहीं है कि इन माध्यमों से अच्छे कार्यक्रम उपलब्ध नहीं है, लेकिन आज ज़्यादा से ज़्यादा हिंसा से भरी हुई बातें ही अधिक लोकप्रिय हैं । यह छोटा परदा हमारे लोगों की मानसिकता को बदलने का मुख्य कारण बन चुका है । उन्हें क्रूर, कामुक एवं हिंसक बना रहा है ।इन सबका नियंत्रण बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हाथ में हैं या भारतीय पूँजीपतियों के हाथ में ।

विज्ञापन की संस्कृति

बाज़ार केलिए कारगर हथियार है मीडिया।मीडिया में सब कहीं विज्ञापन का खेल है।अतः वर्तमान दुनिया विज्ञापन की है।अयथार्थ को यथार्थ बना देना इसका बड़ा काम है।इसके लिए फ़िल्मी और खेल जगत के प्रतिभावान लोगों का इस्तेमाल करता है।जिससे वस्तुओं की जानकारी देकर उपयोग की लालसा बढ़ाते हुए उपभोक्ता का निर्माण करना सबसे बड़ा षड्यंत्र है।सुधीश पचौरी ने ठीक ही लिखा है कि "विज्ञापन मूलतः एक कार्पोरेट कला है जो ब्रांड का निर्माण करती है।"[1]विज्ञापन का प्रभाव इतनी गहराई से जनता पर थोपा जा रहा है कि हम उसे रोक नहीं पा रहे।इसप्रकार यह भोगवादी संस्कृति सुबह से शाम तक तरह–तरह के विज्ञापनों के माध्यम से यह तय करने लगी है कि कौन से कपडे,फोन, पाउडर, तेल और क्रीम का इस्तेमाल करना ही है।और किस ब्रांड की चीज़ खरीदनी ही है । भूमंडलीकृत भारत एक ऐसे समाज के रूप में विकसित हो रहा है, जहाँ बाज़ारवाद भारतीयों की एक नई जीवन शैली बनकर उभरा है तो उसने हमारी संस्कृति को छिन्न–भिन्न कर दिया है।

उपभोक्तावादी संस्कृति का सृजन विज्ञापन के माध्यम से ही होता रहता है, विज्ञापन को उपभोक्तावाद का सबसे सशक्त माद्यम कह सकते हैं। अपनी चीज़ की बिक्री के लिए कंपनियों ने किसी न किसी तरीके को अपनाया है जिसमें मानवीयता और अमानवीयता की बात नहीं हैं ।मुनाफा

---

[1] सुधीश पचौरी, साइबर स्पेस और मीडिया, पृ : 69

कमाना ही है उनका एकमात्र लक्ष्य ।एस. आर. हरनोट की कहानी है 'मोबाईल'।प्रस्तुत कहानी में अपनी माल की बेच केलिए एक गरीब बच्ची का प्रयोग करता है।अतः कह सकते हैं कि भिखारिणी बच्ची की स्थिति एक मोबाईल कंपनी का विज्ञापन सामग्री के रूप में हो गई है।जैसे कि ये बच्चे भीख मांग कर ही अपनी माँ–बाप की देखरेख करते हैं। इस अवसर पर एक कंपनी के लोग अपने मोबाईल के विज्ञापन के लिए उसे तय करते हैं।माँ–बाप को एक बार ही इतने पैसे मिल गए जितने बच्ची ने आज तक की मेहनत से भी न कमाए थे।घरवाले सोचते हैं –"अब बच्ची के हाथ में न कोई कटोरा होता और न कोई भगवान।न मैली फ्राक से उसका बदन ही ढका रहता।वह बिल्कुल नंगी होती।उसे नंगे बदन पर कंपनी के बताए रास्तों पर चलती रहती। शाम होती तो कंपनीवाले उसके बदन से अपने विज्ञापन उतार देते और वही पुरानी फ्राक पहनाकर उसे घर भेज देते।"[1]वास्तव में कहानी इस बात की ओर इशारा करती है कि पूँजीवादी संस्कृति ने भीख माँगकर जीवन बितानेवाली लडकी के भोलापन एवं गरीबी से फायदा उठाने का प्रयास किया है जिससे उन्हें ज़्यादा लापता प्राप्त सकते हैं इसका प्रतिरोध करते हुए लेखक कहते हैं कि "उस मोबाईल कंपनी ने पहाड़ों के दूरदराज इलाकों तक पहुँचने की जद्दोजहद में अब भोले–भाले लोगों और उनके बच्चों का पुरजोर इस्तेमाल करना शुरू कर

[1] एस. आर. हरनोट, मोबाईल, जीनकाठी तथा अन्य कहानियाँ, पृ : 39

दिया था। लेकिन लोगों के पास यह सोचने का समय ही नहीं था कि वह घुसपैठ, बाज़ार को उनकी बहु–बेटियों के कमरों तक ले जा रही है।"[1]

विज्ञापन में स्त्री का वस्तूकरण

भूमंडलीकृत संस्कृति में हर माल बिकाऊ बना जिनमें स्त्री सर्वाधिक बिकाऊ माल के रूप में सामने आयी।बाज़ार में स्त्री एक भोगवस्तू मात्र है। स्त्री को एक 'वस्तू' तक सीमित कर रखने की पुरुषसत्तात्मक मानसिकता आज भी है।बाज़ार की शक्तियाँ महिलाओं का शोषण इतनी चालाकी से कर रही हैं कि स्वयं महिलाओं को भी यह आभास नहीं हो पाता कि वे बाज़ार की कुटिल चाल की शिकार बन रही हैं और धन के आकर्षण में अपनी स्वतंत्रता, सम्मान और गरिमा खो देती हैं।क्योंकि ये ग्लैमर का बाज़ार अपनी शर्तों से संचालित होता है, स्त्री देह को बाज़ारवाद के उपयोग केलिए धकेल रहा है।पूँजी और बाज़ारवाद के इस रिश्तों में नैतिक–अनैतिक कुछ नहीं होता है।व्यापार में सब कुछ जायज़ है। नज़र कमाई और मुनाफे पर होती है। बाज़ार में पैसा–व्यापार और भोगवादी जीवनपद्धती होती है। जब औरत की देह व्यापर में होती है तो मीडिया की पूँजी होती है – "भूमंडलीकरण के सफल सामाजिक प्रतीक के रूप में इन महिलाओं के अतिरिक्त उन आकर्षक महिलाओं को भी प्रस्तुत किया जाता है जो पेज थ्री की चमक–दमक सनसनी एवं कमाई होती हैं। बाज़ार उनकी मोहक एवं रूमानी छवि को बेचकर लाभ

[1]एस. आर. हरनोट, मोबाईल, जीनकाठी तथा अन्य कहानियाँ, पृ : 40

कमा रहा है, अर्थात उनका महत्व, योगदान या छवि की मार्केट वेल्यू है।"[1] स्त्री को केवल देह के रूप में देखने की इस मानसिकता के प्रति सुधीश पचौरी भी व्यंग्य करते हैं – "विज्ञापनों, गीतों, फिल्मों, सीरियलों आदि तमाम सांस्कृतिक रूपों में स्त्री की देह का आखेट किया जाता है।देह में दिल नहीं, देह में मौजूद 'लिबिडो' इसका निशान होता है।कैमेरे की नज़र स्त्री की देह पर इसलिए मचलती है, ताकि दर्शक (पुरुष) को स्त्री(सेक्स) नए ढंग से दिखाई जा सके। स्त्री के सेक्स केन्द्रों को हमारे फ़िल्मी गीतों में जिस कलात्मक छल के साथ 'सक्रिय' किया जाता है, वह स्त्री देह को समूचे समाज का क्रीडा–स्थल बना देना चाहता है।"[2] स्पष्ट है कि बदलते सांस्कृतिक संदर्भ में स्त्री केवल सौंदर्य–आस्वादन की वस्तू है।

बाज़ार और मीडिया की सहयोग से सौंदर्य–प्रतियोगिताओं का आयोजन कर स्त्री–देह का व्यापार करने की साजिश आज जोशों पर है।पंखुरी सिन्हा की कहानी 'समान्तर रेखाओं का आकर्षण' में एक ऐसी प्रतियोगिताओं के यथार्थ को ही दर्शाता है – "जो भी हो, ऐसी प्रतियोगिताओं में सचमूच हड्डियाँ शरीक नहीं की जाती। हड्डियों का वजन, आकार–प्रकार, डील–डौल कुछ भी बदला नहीं जा सकता, ऐसी प्रतियोगिताएँ हड्डियों के ऊपर माँस, नसा और चमड़े के नियंत्रण से जीती या हारी जाती है।"[3]विज्ञापनों में पड़कर आज की नारी, मन की सुन्दरता की अपेक्षा बाहरी सौंदर्य को ही प्रमुख स्थान

---

[1] अमित कुमार सिंह, भूमंडलीकरण और भारत, पृ : 182

[2] अमित कुमार सिंह, भूमंडलीकरण और भारत, पृ : 182

[3] पंशुरी सिन्हा, समांतर रेखाओं का आकर्षण, पृ : 8

मानते हैं। क्योंकि विज्ञापन संस्कृति में मुनाफा के लिए माँसल सौन्दर्य की आवश्यकता है।कहानी कहती है "हड्डियों के ऊपर लगी माँस पेशियों के बेहतर और बेहतर आकार देने केलिए, हड्डियों और माँसपेशियों के बीच के सुराखों, धमनियों और शिराओं के इर्द–गिर्द जमी चर्बी की फालतू परतों को निकाल बाहर करने केलिए।प्रतियोगिता की यही शर्त थी कि जो सबसे अधिक चर्बी घटा सकेगा, वह विजयी होगा। विक्टर।"[1] भूमंडलीकृत संस्कृति में स्त्री भोक्ता और भोज्या दोनों है। प्रभाखेतान के अनुसार "मीडिया की सहायता से स्त्री अपनी देह के हर हिस्से का, अंग–प्रत्यंग का प्रदर्शन करती है।गाड़ी, फ्रिज, शैंपू–साबून, क्रीम–पाउडर, टायर, पान–पराग मसाले, कपडे जूते, ट्रक, मोटारसाईकिल, लोहा–लक्कड़ तक सभी चीजों को बेचने में मीडिया स्त्री का इस्तेमाल करता है।मीडिया अब उपभोक्ता वस्तुओं को बेचनेवाली स्त्री, मसाला फिल्मों में काम करनेवाली स्त्री, टीवी के छोटे पर्दे पर दिखलाई पड़ने वाली स्त्री की अलग–अलग रूपों में सेक्स अपील परोसता है।"[2]यही आज की वास्तविकता है। यहाँ बाज़ार तक केलिए स्त्री देह की कामुक छवियाँ और सौंदर्य उत्पाद सबसे अधिक मुनाफे का व्यापार है और पुरुष वर्चस्व बनाए रखने का षडयंत्र भी है।मॉडलिंग, सौंदर्य प्रतियोगिताएँ, आदि के रूप में स्त्री की चेतना का फैलाव तो हुआ है किंतु इसके पीछे का नये–नये षड्यंत्र अधिकाधिक गुलामी की ओर ले जाते हैं।अतः महिलाएँ जितनी स्वतंत्र हैं उतनी ही परतंत्र होती जा रही हैं।

---

[1] पंशुरी सिन्हा, समांतर रेखाओं का आकर्षण, पृ : 8

[2] प्रभाखेतान, बाज़ार के बीच के खिलाफ, पृ : 114

पारंपरिक उद्योगों का पतन

आज जिसप्रकार भारत के कृषि क्षेत्र में नवउदारीकरण, बाज़ारीकरण की प्रक्रिया तेज़ी हो रही है वैसे ही पारंपरिक पेशे और उससे जुडे समूहों की भी बर्बादी हो रही है।उनका अस्तित्व भी खतरे में पड गया है। उपभोक्तावाद से सबसे ज़्यादा फायदा बहुराष्ट्रीय कंपनियों को होता है।यह कॉरपोरेट कंपनियाँ भारत को पूरी तरह से लूट रही हैं, लेकिन लोग इससे नज़रअंदाज है।कॉरपोरेट जगत की चकाचौंध में आदमी अपने को भूलकर आगे बढ़ रहा है।विदेशी या ब्रैंड प्रोडक्ट को खरीदना आज की व्यक्ति की हैसियत की बात बन गयी है।यह सामाजिक मान्यता भी प्रदान करता है।इसमें नवीन पीढ़ी का मन अधिक उचड गया है, किंतु उनके द्वारा बिछाये गये जाल में फँसकर स्टाटस की वजह से पुरानी पीढ़ी को भी उसकी ओर लाने का प्रयास किया जा रहा है।ऐसी एक कहानी है सुभाष पंत की 'स्टिच इन टाइम'।प्रस्तुत कहानी में पिताजी का बर्तडे पार्टी में अपनी कमीज़ की जगह मल्टीनेशनल की शर्ट पहनने केलिए मज़बूर किया गया है।पिताजी हमेशा जहाँ अपनी कमीज की सिलायी करता है वहाँ आज माल्टीब्रांड की एक शॉरूम ऑपन किया है।पिताजी की दृष्टि में बेटी ब्रेंडड कपडे पहनने की वकालत करके उन कंपनियों का प्रसार करनेवाली है इसलिए प्रतिरोध के रूप में अपने कमीज को ही पार्टी में पहनने केलिए वे चाहते हैं–"जैसे ही महात्मागाँधीकी तरह जिन्होंने मानचेस्टर कीमिलों से आए कपड़ों से मरते जुलाहे को ज़िंदा रहने केलिए खादी और चर्खे

को आज़ादी का प्रतीक बनाया जाता था और सबसे बड़ी बात है कि अपने जन्म दिन पर मुझे अपने इच्छानुसार कपडे पहनने का अधिकार है।"[1]

आजकल लोग स्वदेशी चीज़ोंसे ही ज्यादा विदेशी चीज़े पसंद करते हैं।जिससे पाश्चात्य संस्कृति की ओर जाने कीअहम ललक दिखाई पड़ती है।इसके प्रति प्रतिरोध व्यक्त करती हैं यह कहानी।

भारत में आज जिसप्रकार छोटे शहरों, गाँवों तक बड़े–बड़े शॉपिंग माल्स तथा बाज़ार उभर रहे हैं उसके पीछे पूँजीवाद की बाज़ारवादी नीतियाँ हैं जो कि हम पश्चिमी जीवनशैली की नक़ल कर तथा ज्यादात्तर धन अपनी भोगलिप्सा केलिए खर्च करें। जैसे जैसे पश्चिमसंस्कृति ने हमारी जीवन दृष्टि एवं जीवनशैली को बदल दिया है वैसे ही हम अधिकाधिक पश्चिमीकृत, अमरीकृत बनने की चाह में हैं। इसलिए कोककोला, पिज़ा, बर्गर, पेप्सी आदि का उपयोग हम गर्व के साथ करने लगे हैं।ताकि उपभोक्तावाद से जुडी हुई नये–नये बाज़ारवादी वाणिज्य व्यवस्था का विकास शीघ्र हो रहा है।जिससे पूरी दुनिया में कुटीर व्यवसायों में कर्मरत करोड़ों लोग बेरोजगार हो गये।इन बड़े–बड़े मकानों के सामने छोटी दूकानों को सिर झुकाना पड़ता है जिससे हमारी परंपरागत उद्योग तथा उनमें आश्रित लोग को दुसरा रास्ता खोजना पड़ता है।ममता कालिया की एक प्रमुख कहानी है 'काके दी हट्टी'।कहानी के केंद्र में एक कॉलोनी है।वहाँ नायक काके की एक छोटी से दूकान है। काके लोगों को उनके नाम से नहीं नंबरों से ही जानता है।नाम सिर्फ उनकी पुस्तक में लिखे

[1] सुभाष पंत, स्टिच इन टाइम, पृ :15

जाते हैं जो फोन से सामान माँगते हैंतो जल्दी उनकी चीज़ों को घर पहुँचा देता है किंतु वह जानता है कि कुछ दिनों में उसकी दूकान के सामने ए.बी.सी. सूपर स्टोर खुलने की तैयारी चल रही है।अण्डर ग्राउंड फूड बाज़ार बनाया गया है।कोई काके से पूछता है तो कहता है की 'सूपर स्टोर को धूल ने मेरी हट्टी का तो भट्ठा बैठा देना है हम छोटे दूकानदारों को जीने देना भी है कि नहीं'।कॉलोनी के सारे लोग काके की दूकान को अनदेखा करते हुए एबीसी सूपर स्टोर की ओर जाने लगे।इसके वातानुकूलित हाल में जाकर खरीदारी करना सबको अच्छा लगने लगा। चॉकलेट, पोटैटो चिप्स और कोला के चाव ने बच्चे को भी वहाँकी ओर आकृष्ट कर दिया। सारे लोग हँसते–खेलते, मन भरकर बाहर निकलते थे। किंतु एबीसी स्टोर की पार्किंग के लिए ज़्यादा जगह कीज़रूरत महसूस होने पर अन्य दूकानों के साथ काके दी की दूकान को भी वहाँ से हटाने का निर्देश दिया गया ताकि उन्हें अच्छा मुआवजा भी मिलने वाला है। लेकिन इसकेलिए वे तैयार नहीं थे तो एबीसी में एक सेक्शन का इंचार्ज बनाने का वादा भी देता है।यह भी नहीं काके दी को चारों ओर से समझाया गया कि 'सूपर स्टोर तो चलना ही चलना है इससे जितना ऐंठ सको, ऐंठ लो और किसी और धंधे में घुस जाओं'।उसकी पत्नी का कथन आज की बाज़ारवादी जगत का सच्चा दस्तावेज है – "तुम तो नये ज़माने के हो। मेरी बात समझो।दूकान चलाने के ढंग अब बदल गये हैं।छोटा–सा पीसीओ भी हो तो लोग उसमें वीडियो गेम खेलना चाहते हैं, कोला पीना चाहते हैं।अब शॉप का मतलब सिर्फ शॉप नहीं एंटरटेनमेंट शॉप हो गया है।आज नहीं तो कल ये बंद

होना ही था।"[1]स्पष्ट है कि ये लोग समझतें है कि बड़ी मछलियों के सामने छोटी मछलियों का अस्तित्व खतरनेवाले है।किंतु काके दी ने जो किया वह तो इस बाज़ारवादी मकानों केलिए एक चुनौती है। "अगले दिन कॉलनी के जो लोग सुबह की सैर पर निकले, उन्होंने देखा बी–51 की गैरेज में दो मेज़ों पर दूध के क्रेट और डबलरोटी की कतारें लगी हुई हैं।गैरेज के फाटक पर एक स्लेट लटकी हुई थी जिस पर रंगीन चौक से लिखा हुआ था 'काके दी हट्टी'।"[2]

बढती बेरोज़गारी

ग्राम और कृषि विकास के अभाव में आज बढ़ती हुई बेरोज़गारी हमारे सम्मुख अधिक चिंता का विषय है।जिस काम को पहले मनुष्य करते थे, उसे अब मशीनें एवं कंप्यूटर करने लगे हैं, जिससे बेरोज़गारी का संकट भी पैदा हुआ है।बेरोज़गारी की भीषण समस्या इसी पूँजीवाद, उत्तरपूँजीवाद की देन है जहाँ एक पूरी व्यवस्था को कुछ विशेषज्ञ लोग ही चलाते हैं।अतः भूमंडलीकरण बेरोज़गारी को बढावा देनेवाली व्यवस्था है जो असमानता पर आधारित है।लेकिन इस माहौल से गुजरने वाले युवाओं में अपराध व आंतकवाद की ओर बढने की प्रेरणा भी आजकल देखने को मिलती है। इस संदर्भ में कुणाल सिंह जी ने 'शोकगीत' कहानी में एक ऐसा युवा का चित्रण किया है जिसे बिना किसी ठोस वजह के एक साथ तीन महीने का वेतन देकर नौकरी से निकाल दिया गया है। निजीकरण के कॉरपोरेट होती दुनिया में जब भी चाहे कंपनियाँ बिना कोई कारण से नौकरी से निकाल सकती हैं। इसपर

[1] ममता कालिया, काके दी हट्टी, पृ :15

[2] ममता कालिया, काके दी हट्टी, पृ :15

अपना प्रतिरोध जाहिर करते हुए लेखक लिखते हैं, "बिलकुल ठीक फरमाया आपने, पैसा होना चाहिए।आजकल तो रूपये के सारे खेल हैं जनाब।गरीबों के लिए कोई ठौर नहीं।आजकल कहीं भी जाइए कॉन्ट्रैक्ट बेसिस पर ही नौकरी मिल रही है।हर साल नया एग्रेमेंड और नौकरी का नवीनीकरण।जब तक उनकी मर्जी आपसे काम ले रहे हैं और जब ज़रूरत नहीं, पिछडे लात मारकर निकाल देते हैं ।ऐसी नौकरियों में आदमी के अंदर अनिश्चितता की एक आशंका हमेशा घर किए रहती है।"[1]यह समस्या लोगों को इस रस्ते की ओर चलती है किसी न किसी प्रकार अपनी नौकरी को बचाना ही है।इसलिए उसका अपने सारे संबंधों को छोडकर पूरे समय ऑफिस में मशीन की तरह काम करना पड़ता है।फलतः संवेदनहीन होते एक रोबॉटके समान अपना जीवन तब्दील करता है।अपने परिवार, समाज एवं अपने के बारे में भी सोचने केलिए उसके पास न तो समय है और न ही स्थितियाँ।दुसरे पक्ष में देखे तो बेरोजगार युवा अपनी ऊर्जा गलत कामों में इस्तेमाल करने केलिए भी मज़बूर हो जाता है।चाहे वह आतंकवाद हो या अंधराष्ट्रवाद हो।

भूमंडलीकरण एक प्रकार का नवसाम्राज्यवाद ही है जिसमें अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कंपनीयाँ अपने लाभ केलिए नए–नए बाज़ार विकासशील देशों में स्थापित कर रही हैं जिससे पुराने सभी राष्ट्रीय उद्योग लुप्त हो गए हैं या हर दिन लुप्त होते जा रहे हैं।उनका स्थान विदेशी कंपनियों ने ले लिया है।उन्होंने भारत को लूट कर देश को खतरे के कगार पर खड़ा कर दिया

[1] कुणाल सिंह, शोकगीत, पृ : 14

था।आज जनता को स्थानीय उद्योगों के विनाश के कारण बेरोजगारी के साथ–साथ गरीबी से भी विवश हुए हैं।जयनंदन की कहानी 'घर फूँक तमाशा' में इसका सटीक प्रतिरोध लेखक यों करते हैं कि बेरोजगारी पिता से पुत्र का सवाल है "कारखाने बंद क्यों हो रहे हैं और रूपया का मूल्य रोज–ब–रोज घटता क्यों जा रहा हैं? पिता कहते है कि इसका जवाब अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्वबैंक और अमेरिका के सिवा इस देश में किसी के पास नहीं है।"[1]

बाजारीकरण से त्रस्त परिस्थिति

भारतीय संस्कृति में प्रकृति और मनुष्य के साथ रागात्मक संबंध है। प्रकृति की हर वस्तु जैसे आकाश, समुद्र, पशु–पक्षी, पेड़–पौधे सभी मनुष्य के संवेदनाजन्य मन से जुड़े हैं ।किन्तु आज की उपभोक्तावादी संस्कृति में न केवल प्रकृति और मनुष्य के संबंध में दूरी पैदा कर रही है बल्कि प्रकृति को क्षयोन्मुख भी बना रही है।विकास एवं प्रकृति के नाम पर जो काम चल रहे हैं, उनमें से कई, परिस्थिति पर कुठाराघात कर रहे हैं। इसके दुष्परिणाम बाढ़, अकाल के रूप में हम भुगते आ रहे हैं।इसप्रकार के प्राकृतिक संसाधनों की लूट खसोट ने धरती को पूरी तरह उजाड़ दिया है।क्योंकि लालची मनुष्य प्रकृति को केवल जीवन की आवश्यकता के रूप में, मात्र एक वस्तु के रूप में देखता है।अतः लोग हमेशा यह बात भूल जाते हैं कि प्रकृति हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग है। इसलिए आज की कहानी में प्रकृति को लेकर काफी चिंतायें पहले से अधिक काफी सशक्त रूप से उभरकर आने लगी हैं,

---

[1] जयनंदन, घर फूँक तमाशा, पृ : 22

भोगवादी संस्कृति के चंगुल में पड़कर खुद के पैरों पर कुल्हाडी मारनेवाली भारतीय जनता को अज्ञानता के कुहरे से राष्ट्रीयता के आलोक में जागृत करना ही इनका लक्ष्य है।मृदुला गर्ग की 'इक्कीसवीं सदी का पेड' में हम देखते हैं कि जंगलों का काटना, पशु–पक्षियों की अनेक जातियों का विलुप्त होना जिससे नष्ट होते हमारे जैवमंडल के प्रति एक आत्मीय लगाव पैदा करने का कार्य इसप्रकार है कि –"आजकल पेड़ों की हालत गंभीर हैदियों जैसी हो गई है। रोडी–पत्थर, डालकर सडकें बनाई जाती हैं तो किनारे खड़े पेडों के चारों तरफ माकल कच्चा दायरा नहीं छोड़ा जाता जड़ों से रोडी यूँ साट–साट कर बिछाई जाती है की तन फैलाने की क्या कहें साँस तक लेना दूभर हो जाता है।ऐसे पेड इसी कारण ज़रा–सी आँधी बरसात में भी गिर जाते हैं।"[1]

मुनाफावादी संस्कृति में प्रकृति के साथ मनुष्य के सहअस्तित्व के प्रेममूलक रिश्तों को तोड़ दिया है।हम पहले प्रकृति पूजक थे।नदियों, पेडों, पशु–पक्षियों की पूजा करते थे, जिसके पीछे प्रकृति के प्रति संरक्षक का आत्मीय लगाव निहित था, हमारे लिए पेड़ पवित्र हैं, वंदनीय हैं किंतु पूँजीवादी बाज़ारवादी व्यक्ति केलिए वह केवल मूल्यवान लकड़ी है।इसलिए आज के कहानीकार अपनी समृद्ध संस्कृति यानी कि प्रकृती की ओर वापस जाने का आव्हान देते रहते हैं। यही है आज की सारी सांस्कृतिक गड़बड़ियों का समाधान।राजेश जैन की कहानी 'मन मोबाईल' इस बड़ी यथार्थ को प्रस्तुत करती है कि परिष्कृत समाज में कुछ लोग लॉफिंग क्लब जाकर एक साथ

[1] मृदुला गर्ग, इक्कीसवी सदी का पेड़, पृ : 90

तालियाँ बजाकर भूल गयी हँसी को वापस लाने का प्रयत्न करते समय नायक 'मैं' किनारे फूलों, और पक्षियों को प्यार करके, पेड़ के तने में कां लगाकर बातें करते अनिवर्चनीय आनंदअनुभव करता है। "वह प्रकृति के हर वृक्षों से, पंछियों से बातें करता है।उस पार्क में गुलमोहर के तीन पेड़ हैं। वह तीन पेड़ इसके मित्र हैं।अचेतन वस्तु भी उसे चेतन महसूस होती है।और उसके अन्दर की सूक्ष्म तरगें इससे संवाद स्थापित करने में सफल हो जाती हैं।उसे याद आता है, वैज्ञानिक बोस की थ्योरी की कि वनस्पतियों में संवेदना होती है ।मनुष्यों की तरह पाँच इन्द्रियाँ भले ही उनमें न हों, पर कुछेक इन्द्रियाँ है उनमें ।"[1]इसप्रकार प्रकृति के साथ सहअस्तित्व स्थापित करते हुए अपने सिर पर मँडराती हुई कुसंस्कृति के प्रतिरोध करने की साजिश इन कहानियों का मुख्य स्वर है।

मूल्यों की गिरावट

भूमंडलीकरण के असर में आज दुनिया बदल गयी है।पूँजी पर आधारित इस नयी संस्कृति ने हमारी गतिशील संस्कृति को ध्वस्त कर दिया है।इसमें पडकर मनुष्य आत्म–संकुचित हो गया है, संवेदनाएँ लुप्त होती जा रही है। इस होड़ में उसके पास अपने सहजीवियों के प्रति सहानुभूति दिखाने केलिए भी समय नहीं है।अपने लक्ष्य तक पहुँचने की कोशिश में मानवीय मूल्यों और संबंधों में भी बदलाव आया है।मूल्यों और संबंधों को सुरक्षित रखना हमारी संस्कृति है।यह संस्कृति नई पीढ़ी की कल्पना और निश्चलता

[1] राजेश जैन, मन मोबाईल, नया ज्ञानोदय 2003, पृ : 102

को लील कर उसे जड़और संवेदनहीन बना रही है जहाँ स्थिति को समझने और अपनी बुद्धि से निर्णय लेने का विवेक ही लुप्त हो गया है। भूमंडलीकरण से ग्रस्त आदमी कहाँ तक गिर सकता है, नैतिक मूल्य किस हद तक नकारा जा सकता है इसका सही दस्तावेज़ 'संजय कुंदन' की बॉस की पार्टी' नामक कहानी में मिलता है।कहानी का नायक देवेश है जो किसी मल्टीनेशनल कंपनी में काम करनेवाला है। जीवन में पहली बार उसके भीतर यह सवाल उठा रहा था कि "हँसी आती कहाँ से और कैसे? ज़िन्दगी की सबसे स्वाभाविक क्रिया उसकेलिए चुनौती बन गयी थी।ऐसा लग रहा था की वह दुसरे ग्रह का प्राणी हो जो इंसान बनने की कवायद में जुटा है।"[1]हँसी केवल मनुष्य की विशेषता है लेकिन ग्लोबल होता मनुष्य में ये सारी संवेदनाएँ क्षीण हो गयी हैं, पशु न तो रोबोट जैसा बना गया है।अपने आप को स्थापित करने की दौड़ में उसे दफ्तर में कोई दोस्ती भी नहीं बन पाती क्योंकि कोई उसका लाभ उठायेगा।इसी स्थिति में फंस गया है आज मनुष्य।लेकिन पहले वह ऐसा नहीं था। हर समय अपनी हँसी बिखेरकर चलनेवाला था। स्कूल में एक टीचर उसे हँसमुख लाल कहकर पुकारते थे। किन्तु समय के बदलाव ने उसकी हँसी को छीन लिया है।नतीजा यह हुआ कि उनके पास असीम धन तो आया है लेकिन उनके नैतिक–मानव मूल्य नहीं है।अतः मनुष्य अनेक सुख–सुविधाएँ प्राप्त करने पर भी वे इससे सुखी नहीं है।व्यक्ति की मानसिकता यांत्रिकता के दबाओं से बुरी तरह ग्रस्त हो रही है।

---

[1] संजन कुंदन, बॉस की पार्टी, पृ.: 106

बदलते पारिवारिक संबंध

भारतीय संस्कृति की जड़ हमेशा पारिवारिक संबंधों में प्रयुक्त मूल्य रही है।पर आज समय बदल गया है नूतन परिस्थितियाँ, परिवर्तित परिवेश व नयी आवश्यकताएँ आदि ने परिवार के पारस्परिक आत्मीय संबंधों को परिवर्तित कर दिया है।इस परिवर्तन की प्रक्रिया इतनी तेज़ है कि वर्तमान युग के मूल्य पिछले युग के जीवन मूल्यों से बिल्कुल अलग दिखाई देते हैं। अर्थात् आज रिश्तों में पहली जैसी ऊष्मता नहीं रही।मानवीय रिश्तों का आर्थिकीकरण हुआ है।आज पैसा ही सर्वमान्य हो गया है। इसी उपभोक्तावादी मानसिकता के प्रसार के चलते हमारे अर्जित संस्कारों, मूल्यों का विघटन हुआ है।आज मानवीय संबंधों पर देखने पर यंत्रीकरण और अमानवीयता की स्पष्ट झलक दिखाई देती है।मानवीय जीवन में प्रेम, स्त्री–पुरुष, पिता–पुत्र, पति–पत्नी माँ–बाप के मध्य स्थापित निर्मल संबंधों को नयी जीवन शैली ने झकझोरदिया है।गीतांजलि प्रसाद अपनी पुस्तक 'दग्रेट इंडियन फेमिली' में परिवारों की विसंगतियों की ओर ध्यान करती हैं। वे कहती हैं –परिवार जबरदस्त दबाव के शिकार हो रहे हैं।कामकाजी माँ, अति व्यावसायिक पिता, कॉल सेंटर में काम करनेवाले बच्चे ..... परिवार में साहचर्य केलिए कोई समय शेष नहीं रह गया है।ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अकेला, अपनी दुनिया में जी रहा है।परिवार में निजता और अकेलापन के कारण परिवार का अर्थ पुनर्परिभाषित हो रहा है।"[1]दांपत्य जीवन समाज व राष्ट्र का

[1] अमितकुमार सिंह, भूमंडलीकरण और भारत परिदृश्य और विकल्प, पृ :106

मूलाधार है। वह श्रेष्ठता एवं पवित्रता की माँग करती है। वह मुल्यापेक्षी संसक्तियों से जुडी गई है। किंतु औद्योगिक समाज के तनाव और वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं की टकराहट से पति–पत्नी का संबंध अस्थायी बनता जा रहा है। अब लोग परिवार से ज़्यादा नौकरियों को समय दे रहे हैं उनमें रिश्ते टूटने के स्थान पर नौकरियाँ खोने का भय कहीं अधिक है।व्यस्त जीवन में पडकर कभी–कभी अपने कर्तव्यों को पूरा करने केलिए पति को किसी निजी एजेंसी से सौंप देना पड़ता है।ऐसा एक पात्र है जयनंदन द्वारा लिखित कहानी 'किराये पर सबकुछ' का अभिराम केडिया। जो अपने हॉलसेल मेडिकल शॉप से देर रात में आने पर यांत्रिक ढंग से खाने–पीने के बाद बस एक ही काम करते थे, रात में पत्नी के साथ सोने का। क्योंकि अब वैश्वीकरण के साथ बाज़ार सीधे हमारे घरों में घुसा चला रहा है इसलिए घर का सारा कामबहुउद्देशीय सेवा केंद्र (मल्टीपरपस सर्वीसेज सेंटर) एजेंसी के द्वारा संपन्न होने लगा था। किसी भी कार्य केलिए कॉल करने पर जल्दी ही ये लोग पहुँच जाते हैं।अपने इकलौते बेटे को अस्पताल में जाते समय भी पति के निर्देशानुसार पत्नी प्रेरणा को मल्टीपरपस की सहायता लेनी पड़ती है।अब उनके परिवार के बीच के संवाद और सूचनाओं के आदान प्रदान भी एजेंसी के द्वारा हो रहा है। अपने भाई की शादी के समय भी पति के स्थान पर मल्टीपरपस के लडके के साथ चलाना पड़ता है।अंत में जन्मदायिनी माँ की मृत्यु होने पर भी व्यस्ततावश अभिराम केडिया मरणोपरांत के सारे कार्यक्रम उस एजेंसीको सौंप देता है।इस कहानी में नायक अपनी माँ से, पत्नी से और

बच्चे के स्नेह से विमुख होकर अपनी अस्मिता को नष्ट करते हुए एक संवेदनहीन मशीन की तरह जी रहा है।वह आज की कुसंस्कृति की कठपुतली है। अपने नन्ने बच्चे भी पिता के लाड–प्यार से अभाग्य है।इसका प्रतिरोध करते हुए लेखक संवेदनहीन मनुष्य को याद दिलाते हैं कि "चाहे कितनी भी भौतिक सुविधाओं सेभरा हो आदमी, लेकिन प्यार–दुलार और जज्बात का हाशिया जीवन में बना ही रहता है।"[1]स्नेह ही सारे जीवन मूल्यों का आधार है। इसके बिना मनुष्य जो कुछ हासिल करने पर भी न के बराबर है ।

संबंधों में दरार पडना उपभोक्तावादी सम्मान की सामान्य विशेषता है जो आजकल भारतीय परिवेश में पति–पत्नी के मध्य व्यापक स्तर पर में देखी जा सकती है।संबंध भी युगबोध से प्रभावित हो रहा है इसलिए तलाक अब इतनी आम बात हो गए है कि आज उन्हें किसी तरह के सामाजिक कलंक के रूप में नहीं माना जाता।किन्तु कभी–कभी तलाक को स्वीकार करने केलिए विवश हो जाता है क्योंकि आज के दौर में सबसे अधिक शोषण वैवाहिक संबंधों में मौजूद है। 'मेरिटल रेप केसिस'इसी का एक हिस्सा है।इसी कारण बहुत सी महिलाएँ विवाह संस्था को चुनौती देने की कोशिश कर रही हैं।फिर भी आज की परिवार में माता–पिता बेटी की सुरक्षा विवाह में ढूँढता है। परिवार में जहाँ स्त्री को लक्ष्मी या देवी माना जाता है वहाँ आज संस्था या क्षेत्र जो कुछ भी हो औरत को उपभोग वस्तू से ज़्यादा अहमियत ही नहीं दी जाती है।उपभोक्तावादी संस्कृति की भोगने और बाद में फेंकनीवाली एजेंडा का चरम

---

[1] जयनंदन, भितरघात, किराये पर सबकुछ, पृ :103

रूप हम उदयप्रकाश की कहानी 'मैंगोसिल' में देख सकते हैं। कहानी में शोभा की शादी रमाशंकर से हुई थी। उनके साथ रहते–रहते कई प्रकार के कठिन शोषण की शिकार बन गयी है।उसका पति इतना क्रूर आदमी था कि अपनी पत्नी शोभा केलिए दलाल ढूँढता था।इससे उसे कुछ उपहार भी प्राप्त हुआ था।हर रात शोभा के संबंध में नरक से भी भयावह और यंत्रणादायकथा।किसी नौकर की तरह सेवा करने पर भी पति उसे भोगने की वस्तू मात्र समझता था।उसके रात जो दुर्व्यवहार किया जाता है वह बात शोभा की ज़िन्दगी में नरक कीयातना लेकर उतरी। "वह रात शोभा कीज़िन्दगी में नरक की यातना लेकर उतरी।बिल्डर और दरोगा ने शोभा के साथ अप्राकृतिक काम किया और बिल्डर ने उसके रेक्टम में बियर की बोतल घुसेड दी।दरोगा ने हँसते हुए पूछा– ये क्या कर रहे हो? तो बिल्डर ने कहा था अरे यार पीछे ड्रिल करके ज़श बोर बड़ा कर लेने दो, तभी तो निचे मोटर फिट होगा। साला मेरा बीस हौर्सपवरका जेनूइन क्रांप्टनका मोटर फिट है। असहनीय दर्द के बीच बेहोशी टूटने के बाद शोभा में जब अपने कपडे पहनने और अपनी देह में लिपटा खून और वीर्य धोने के लिए उठना चाहा तो उसने पाया कि रमाकांत उसके ऊपर चढ़ा हुआ है।"[1]चौकाने की बात है कि उसका पति भी इस नीच प्रवृत्ति में शामिल हुआ था।यहाँ भोग्य वस्तु के प्रति किसी प्रकार का लगाव, अपनत्व दिखाने की बात नहीं क्योंकि आज की क्रूर संस्कृति की एजेंडा में ये चीज़ें नहीं हैं।इसलिए उपभोगवाद में किसी प्रकार की संवेदना, भावुकता का कोई स्थान नहीं है।व्यक्ति अपने यौन सुख की प्राप्ति के लिए जिन साधनों का प्रयोग करता

[1] उदयप्रकाश, मैंगोसिल, पृ : 87

है, इसमें नैतिकता अथवा अनैतिकता जैसे सवाल समाप्त हो चुके हैं।फिर भी शोभा कहानी में मरना नहीं चाहती है।पति के हाथों से बचने केलिए सारे बंधनों को छोड़कर बिल्डर के ड्राइवर चंद्रकांता के साथ भाग जाती है।यह उसके द्वारा किया गया सशक्त प्रतिरोध है।जीवन के अंत तक स्वयं ही अपनी नियति मानकर अमानवीयता को सहने के लिए वह तैयार नहीं है।आज पति–पत्नी या दापंत्य जीवन की संकल्पना में पवित्रता का अर्थ फीका हो गया है।वह अस्थायी रूप में चल रहा है।

प्रेम के बदलते मूल्य

भूमंडलीकरण के इस दौर में स्त्री–पुरुष के संबधों का आधार पैसा या संपत्ती बनकर रह गया है। भूमंडलीकरण के माध्यम से बाज़ारवाद व उपभोक्तावाद ने जिन नए मूल्यों व प्रतिमानों को जन्म दिया है वे व्यक्ति की पारंपरिक मूल्यों के बारे में एक असुरक्षा बोध को जन्म दिया है जो कि स्त्री–पुरुष संबंधों पर दरार उत्पन्न करते हैं।देखा जा सकता है कि आज मनुष्य की हर लालसा का बाज़ारीकरणहो रहा है यहाँ तक कि आपसी रिश्ते भी मुनाफे में बदलने लगे हैं। प्रेम, करुणा, सहानुभूति जैसे मूल्यों की कीमत आज इन्हीं वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं की टकराहट में सूखती जा रही है।यही संस्कृति इच्छाएँ बढ़ाती है और समझौते करने पर मज़बूर करती है पर इसे ही आज की पीढ़ी सही मानती है।'विश्व बाज़ार का ऊँट' नामक कहानी जयनंदन द्वारा लिखित है। कहानी का नायक सकलदीप की बेटी गोल्डी प्रेम को उपयोगितावादी दृष्टि से देखनेवाली है इसलिए कि वह इसे 'एडवेंचर' मानती

है। उनकी दृष्टि में आदर्श, सच्चाई, ईमानदारी, नैतिकता जैसी चीजें 'लोअर क्लास इमोसंस' है।वह कहती है – "डैड, मैं सुस्त चाल से रेंगना नहीं, उड़ना चाहती हूँ। .....आई वांट टू एचीव आल दोज लक्जरियस लिविंग इन माई लाइफ..... यू नो हिज आर इन्ज्वॉइड बाई हायर क्लास फेमिली।....."[1]सकलदीप को भले ही लगता हो कि जुम्मा–जुम्मा आठ दिन की यह लडकी प्रेम की सार्वकालिक मान्यता का घोर मज़ाक उड़ा रही है पर इस अर्थव्यवस्था ने आज सचमुच प्रेम को किराये का मकान तो बना ही दिया हैजिसे जब चाहो बदल लो। और उसे लग रहा था, जैसे किसी अनमोल फल–फूल से लादे एक वृक्ष को फालतू कहकर कटते हुए देख रहा हो।"सार्वभौम मूल्यों एवं चारित्रिक विशेषताओं का ऐसा विकृत निषेध।क्या अब बुरे और अच्छे का निहितार्थ उल्टा हो गया है। तुम्हें सुनकर और महसूस कर मुझे डर लगाने लगा है।तुम एक सर्वमान्य आम रास्ता छोड़कर ऐसी मायावी सुरंग में जाने को उतावली हो जहाँ भडकाव ही भडकाव है।अपनी सीमा सामर्थ्य की पहचान नहीं करनेवाले लोग कभी सुखी नहीं रहते।"[2] यहाँ सकलदेव का विद्वेष नये अमानवीय मूल्यों एवं विकृत सांस्कृतिक समाज के प्रति भी है।इस बदलते प्रेम की अवधारणा एवं संबंधों को अखिलेश जी की 'हाकिम कथा' नामक कहानी में भी प्रस्तुत कर दिया गया है।कहानी की नायिकाअपर्णा पहले परीक्षित को पसंद नहीं करता था कि वह पैसा, पावर आदि को जीवन में सबसे प्रमुख स्थान देती है।बाद में जब परीक्षित आई.पी.एस परीक्षा में उत्तीर्ण

---

[1] जयनंदन, विश्व बाज़ार का ऊँट, पृ : 327

[2] जयनंदन, विश्व बाज़ार का ऊँट, पृ : 327

होता है तो अपर्णा उसको पसंद करने लगी है।वह सोचती है कि "सुन्दरता की दृष्टि से उसकी लम्बाई परीक्षित से बहुत ज़्यादा है, इसलिए वह दबेगा। आई.पी.एस. पति दबेगा।"[1] इससे अपर्णा के असली चरित्र का पता चलता है।प्रेम जैसे पवित्र संबंध को धन और दौलत की दृष्टि से देखने–परखनेवाली अपर्णा को रिश्तों से ज़्यादा स्टेटस ही महत्वपूर्ण है। कार, बंगला, फ़ार्म हाउस,नौकर शोफर आदि चीजें ही है प्रेम का आधार।

वृद्ध : अब बोझ

आज की अपसंस्कृति से विकृत जीवन–शैली वास्तव में हर बात को उससे होनेवाले लाभ और हानी के पैमाने पर रखती है। वृद्ध भी इसी परख का शिकार हो गया है। अगर घर का वृद्ध व्यक्ति किसी तरह से परिवार के लिए लाभप्रद लगता है तो कुछ हद तक उसकी देखभाल भी हो जाती है और एक सीमा तक मान सम्मान भी उसे मिलते रहते हैं, वरना उसे 'आउट ऑफ़ डेट' घोषित करके व्यर्थ वस्तुओं की श्रेणी में डालते हैं।धन का थोडा सा अभाव भी आज हमारी रातों की नींद को हराम कर देता है, किन्तु बड़े–बुजुर्गों के आशीर्वाद, लाड–प्यार और बहुमूल्य अनुभवों की पूँजी हमारी मुट्ठी से रेत की तरह फिसलती जा रही है – इसकी चिंता किसी को नहीं।इन भावनाओं का आज की व्यस्त जिन्दगी में न कोई अस्तित्व रह गया है, न कोई ज़रूरत ही रही।भूमंडलीकृत समाज की देन नए परिवार में 'बुजुर्गों का हाशियाकरण' नई सामाजिक प्रवृत्ति है। डॉ. मोहनन के अनुसार "हमारी

---

[1] अखिलेश, हाकिम कथा, पृ : 24

संस्कृति में माँ एक संस्कार है।सभी मानवीय संबंध के साथ हमारा संस्कार जुडा हुआ है।अपने इन महान एवं श्रेष्ठ संस्कार की महिमा को समझे बिना आधुनिक शिक्षा संपन्न नई पीढ़ी विदेशी संस्कार के पीछे भागी जा रही है।यह दरअसल सांस्कृतिक अज्ञता का सबसे बड़ा उदाहरण है।"[1]

भूमंडलीकरण के फलस्वरूप एक अच्छे जीवन की लालसा ने युवाओं का आकर्षण अब महानगरों व बड़े शहरों की ओर कर दिया।आगे बढ़ने की इस ललक में पड़कर हमारी मान्यताएँ, हमारे पारिवारिक और सामजिक संबंधों का ताना–बाना बदल रहा है।अपने अतीत एवं परंपराओं से हम कटते जा रहे हैं ।अपने घर परिवार, रिश्तों, उत्सवों, त्योहारों से विमुख होते जा रहे हैं। ये सारी चीज़ें हमारे भीतर अब कोई स्पंदन पैदा नहीं करती।हमारी संवेदनाओं की धारा कुंद होती जा रही है।ऐसे ही बाज़ारवादी मायालोक में फंसे हुए लोगों की कहानी है जयनंदन की 'अठतल्ले से गिर गये रेवत बाबू'।कहानी में रेवत बाबू दो पुत्रों के पिता थे ।वे एक सामान्य मज़दूर थे।छोटी नौकरी की सीमा में रहकर वे बच्चों को डॉक्टर और इंजीनियर बनाने के लिए बड़ी–से–बड़ी आवश्यकता को भी तिरस्कृत करते रहे। इसलिए जब बेटों ने बना–बनाया घर बेचकर सुखी और सम्भ्रान्त फ्लैट कल्चर की ओर जाने का प्रस्ताव रखा तो एक मूक दर्शक बनने के लिए वे तैयार नहीं होते हैं। वे पूछते हैं – "तुम दोनों ने इसी घर में अपनी पढ़ाई पूरी की और इसी में रहकर खूब कबड्डी खेली और पतंग उठाये, क्या पढने में या ताकत में किसी से पीछे रह गये?

---

[1] डॉ. मोहनन, आलोचना के आयाम, पृ : 61

गाँव में हमारे पूर्वज पीढ़ी–दर–पीढ़ी इस कुएँ का ही पानी पीते रहे और आज भी पी रहे है इससे ऐसा नहीं कि वंश आगे नहीं बढा।इस मकान में रहते हुए आज तक सत्ताईस वर्षों से हम भी कुएँ के पानी पर ही आश्रित रहे, क्या तुम लोगों के दिमाग और स्वास्थ्य पर कोई फर्क पडा ? बेटों कुआँ तो कुदरत का खजाना है .....। जाड़े में इसका पानी गरम होता है और गर्मी में ठंडा।"[1] किन्तु बच्चों ने पहले ही यह तय कर किया था कि इस छोटे निचले तबके के शोरगुल और झंझटों से निकलकर स्टेटस के अनुसार किसी फ़्लैट में जाना ही है।पहले तो यह सुनकर वे बहुत दुःखी हुए, क्योंकि अपने सत्ताईस वर्षों की स्मृतियाँ तो इस घर में सँजोई हुई हैं।उनकी स्वर्गीय पत्नी की स्मृतियाँ इस घर की एक–एक इँट की जोड़ाई में शामिल थीं जिनसे वे अक्सर अनिवर्चनीय संवाद कर लेते थे।यही नहीं उनकी वेदना अपनी गाय और बकरी के प्रति भी है, जिन्हें उन्होंने एक अर्सेसे पाल रखी थी।वास्तव में इन दोनों को उस वक्त लाया था जब पढनेवाले बच्चों को दूध की जरूरत थी।आज इनका कोई मूल्य नहीं है। सारी चीजें बाज़ारीकृतसमाज में भोगने फेंकने केलिए हैं। इसलिए अपने बच्चों केलिए रेवत बाबूजी को अन्य संस्कृति में जीना पड़ता है। मगर जब घर बेचकर फ़्लैट में रहने लगे तो रेवत बाबू को महसूस होने लगा कि जितनी आज़ादी घर के अल्शेसियन कुत्ते को हैं उतनी उनकोनहीं।उस बुजुर्ग की पसंद नापसंद की अब कोई कीमत नहीं।अपने बच्चों पर भी अपनी कोई नसीहत, कोई संस्कार या मूल्य थोपना वे चाहते नहीं थे। चूँकी अक्सर यह थोपना ही नयी पीढ़ी की नज़र में बुजुर्गों को विलेन बना देता है।

---

[1] जयनंदन, अठतल्ले से गिर गये रेवतबाबू, पृ : 55

बाज़ार पर आधारित इस संस्कृति में जो बाज़ार के खिलाफ खड़े होते हैं, उसे वहाँ से बाहर कर दिया जाता है।तब उनके पास सिर्फ एक ही विकल्प बचता है अपनी अस्मिता की रक्षा केलिए अपनी जड़ों की ओर लौटना, अपनी जो पुरानी सार्थक परंपरा एवं अतीत है उसकी ओर लौटना। यह वापसी एक प्रकार का प्रतिरोध है।वृद्ध पहले जैसे सारे दुःख सहनकर कोठरी में बंद करना चाहता नहीं है । अपना प्रतिरोध जाहिर करने केलिए किसी न किसी रास्ता ढूँढतेहैं । प्रस्तुत कहानी में भी अपने अतीत की ओर लौटने का संकेत मिलता है।वृद्ध लोग समय के स्वभाव को पहचानकर वक्त से समझौता करना सीख गए हैं।कहीं बड़ी उम्र के लोग अकेलापन के साथी स्वयं चुन लेते हैं, लेकिन कविता की 'उलटबांसी' कहानी में बेटी माँ के अकेलापन को भरने केलिए उनका साथ ढूँढ लेती है।क्योंकि बच्चे अपनी-अपनी समस्याओं में उलझकर व्यस्त देखते हैं, ऐसे में बुजुर्गों केलिए उनके पास न समय है और न शायद इच्छा।इसलिए सत्तर बरस की विधवा माँ को विवाह एक विकल्प के रूप में सामने आया है।अपनेअकेलापन में एक साथीकीज़रूरत उसे महसूस हुआ है।आज वह बिल्कुल अकेली है इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए बेटी कहती है –"अगर माँ शादी कर रही है तो वह अपने अकेलापन से ऊबकर, देह की भूख से हारकर नहीं भैया।फिर सिर उठाकर जी न सकने की बात कहाँ से आयी ? जो स्वप्न हम सबने पाले, माँ ने सबका अपना पूरा किया।हमारे हर निर्णय में वह हमारे साथ खडी रही, और जब वह बिल्कुल अकेली पडगयी है हमसे कोई शिकायत न करते हुए उन्होंने बस एक छोटी-सी इच्छा जाहिर है और

हम सब इसी में उबले हुए हैं।कितने दिन और जी सकेगी माँ .... दस साल, पंद्रह ... इससे हद से हद बीस साल।इतने दिन अगर वह खुशी–खुशी जिए, हमें भी रह–रहकर यह चिन्ता न हो कि वह अकेली होगी तो इसमें बुरा क्या है।"[1]क्योंकि बच्चों को माँ के सुख से अधिक चिंता अपनी कथित बदनामी की है।उनके अकेलापन की पीडा को समझनेवाला कोई नहीं है।बच्चे के अनुसार वृद्धावस्था तीर्थयात्रा करने और भक्ति में मन रमाने का समय है इस अनहोनी बात को सुनकर पिता की आत्मा भी दुःखी होगी।इससे बढ़कर समाज के सामने यह बडी बुरी बात है।किंतु इसके जवाब में बेटी ने जो उत्तर दिया है वह तो कहानी के समक्ष एक नई दिशा या नयी आवाज़ है जो अब तक कहीं नहीं सुनाई देती।उनका कहना है–"आत्मा होती है या नहीं, मुझे पतानहीं, अगर होती है तो वह यह देखकर भी कम दुःखीनहीं हुई होगी कि माँ के खून–पसीने से पाले हुए बच्चों ने उससे एकबारगी कैसे किनारा कर लिया । सिर्फ यादों के सहारे जिंदगी नहीं बिताई जा सकती।पिता की आत्मा को शायद शांति ही मिले कि अब माँ चैन से है, सुखी संतुष्ट है।कोई है उसके सुख–दुःख की परवाह करने वाला.....।"[2]

मिटती पुरानी स्मृतियाँ एवं इतिहास

हमारी संस्कृति को समृद्ध करनेवाले कारकों में सबसे महत्वपूर्ण रहा है हमारे बहुलतावादीचरित्र।इसकी अभिव्यक्ति भाषाओं, वास्तुकला, कृषि कर्म के तौर तरीकों, वेशभूषा, खान–पान, शिल्प, महलों आदि की विविधता

[1] कविता, उलटबाँसी, पृ :16

[2] कविता, उलटबाँसी, पृ :16

के रूप में होती है।किन्तु भूमंडलीकरण के दौर में यह खतरा अपने विराट रूप में सामने आ रहा है कि विकास के नाम पर या तो एक शहर को अधिक आधुनिक और सुविधा संपन्न बनाने के लिए एक उजाड अतीत की बलि देनी पडती है। अतः विकास की ओड में पल रही संपन्नता की चाह से परास्त होकर अपने इतिहास की जड़ों तहस नहस हो गया हैं ।ये सारी परंपरा अपनी समूची स्मृतियों के साथ खत्म होने की कगार पर है। हरेक मूर्ति या कला को अपनी कहानी कहने के लिए होगा।अपने अतीत की स्मृतियाँ उनके हाथों में ही सुरक्षित हैं जो हज़ारों साल के इतिहास में निर्मित परंपराएँ थी। आज किलाएँ भी भूमंडलीकरण के प्रभाव से अछूत नहीं है।भालचंद्र जोशी की कहानी 'किला समय' में स्पष्ट करती है कि भूमंडलीकरण कैसे अपने इतिहास को विस्मृति की ओर ढकेलते हैं – "किला अपनी समूची स्मृतियों के साथ खत्म हो जाएगा।दीवार के ऊपर एक चरखी और लौहे का एक बड़ा हुक टँगा है, नदी किनारे का कंवट किस्साग्गेई के अंदाज में बताता है कि यह फाँसी दिये जाने की जगह थी। किसी ज़माने में क्रांतिकारियों को यहीं लटकाया जाता था। अनेक क्रांतिकारी हँसते–हँसते इसी हुक पर फाँसी से लटक गये।अब वह हुक दिखाई नहीं देता है, उस पर शीतल पेय का एक बड़ा होर्डिंग लटक रहा है, जिस पर कोई फिल्म अभिनेता हँसते हुए शीतल पेय पीने का आग्रह करते हुए बता रहा है कि उसका दिल इसी शीतल पेय को अधिकाधिक माँगता है....ये दिल माँगे मोर।"[1]स्पष्ट है कि हम जिसे अपने मौलिक इतिहास के रूप में माननेवाली कुछ चीज़ें हैं जो अवशेष हो रही है।इस मुनाफावादी समाज में

[1] भालचंद्र जोशी, किला समय,पालवा , पृ : 36

उसका कोई मूल्य नहीं है। इतना ही नहीं कहानी के माध्यम से लेखक जनता को अवगत कराते हैं कि "एक दिन जब किला पूरी तरह ढह जाएगा तो कैसे लोग यकीन करेंगे कि यहाँ कोई किला था? यकीन करेंगें क्योंकि तब यह पुरातत्व विभाग की फाइलों में बचा रहेगा या फिर किसी अमेच्योर आर्टिस्ट या तहरीहपसंद फोटोग्राफर के कलेक्शन में।हमारे–तुम्हारे जैसे लोग आनेवाली पीढी को अपनी याददाश्त के सहारे जितना बता पाएँगे, वे उतना जानेंगे।"[1]आज के समय में ये किला केवल पुराना मकान है, इसके मूल्य के प्रति लोग अनभिज्ञ है।पर आज की कहानी की जिद है कि जो इतिहास के पन्ने से सूखता जा रहा है उसे चुनकर सहज–सामान्य के साथ जोडकर संबंध बखान करता है।वे उनके मूल्य को पहचानते हैं तथा इसके प्रति हमें अवबोध कराने का प्रयास करते हैं।यह तो बाज़ारू संस्कृति की सामान्य विशेषता हो गयी है कि इस शक्तियाँ अपनी भोगवादी दृष्टि को हम पर लादने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने जातीय स्वत्व से, परंपरा से, इतिहास से, और स्मृतियों तक से काटने की कोशिश कर रही हैं। अपने स्वत्व एवं परंपरा से दूर होने का अर्थ है अपने को खो जाना, यही नवउपनिवेशवादियों का षडयंत्र है।

स्थानीयता बोध

भूमंडलीकरण एवं वैश्वीकरण के दौर में हमारी स्थानीय अस्मिता विलुप्त होती जा रही है।स्थानीयता का बोध एक लोकबोध है।अपनी मिट्टी की

---

[1] भालचंद्र जोशी, किला समय,पालवा, पृ : 37

सौंधती गंध, हरियाली से भरे खेत–खलिहान, लोकगीत की धुन, सूरज, चाँद, खुला आकाश आदि बाज़ारू संस्कृति से नष्ट होती हमारी निजी संस्कृति की कुछ अनमोल चीज़े हैं ये आज स्मृति में ही बची हुई हैं।ये सब हमारी स्मृतियों को सहेजने में सबसे ज़्यादा प्रभावकारी भूमिकाएँ निभाती हैं, व्यक्ति के आत्म संस्कार को जगाती हैं अर्थात अपने अतीत के सुखद अनुभवों की ओर, अपने की ओर हमें लौटाती है। इनकी जगह आज फैंटसी जगत की छदम के पीछे लोग दौडते रहते हैं।हम अपनी संस्कृति की पहचान भूलकर, साझी संस्कृति में जीते आ रहे हैं।तो 'स्थान' का महत्व बढ़ जाता है।

हुषिकेश सुलभ की कहानी 'हलंत' गाँव की कोमल स्मृतियों की ओर ले जाने के बाद आधुनिकता के तहत गाँव में आये हुए परिवर्तन ने किस तरह स्थानीयता को नष्ट कर दिया है, इसकी ओर अपनी मुहिम चलायी है।कहानी का नायक मैं के शब्दों में "मेरे बाबूजी बताया करते थे कि बचपन के दिनों में वे भी इस मैदान में कबड्डी खेला करते थे।उन दिनों इस मैदान के किनारे–किनारे पेडों की कतार थी और उनकी डालें धरती तक झुकी थीं और वे अपने दोस्तों के साथ डालों पर झूलते हुए दोला–पाती भी खेला करते।उन दिनों में शहर के बच्चों का हुजूम जुटा रहता। जेठ–वैशाख में लू के थपेड भी बच्चों को रोक नहीं पाते और टिकालों को लालच में उनकी आवाजाही बनी रहती।"[1] लेकिन धीरे–धीरे गाँव का नजारा बदल चुका है जिसका प्रमाण है गाँव में होनेवाले विस्फोट। "एक रात इस मैदान में गड्ढा बन गया।हुआयूँ की रात में

[1]हुषिकेश सुलभ, हलंत, पृ : 61

भयानक विस्फोट हुआ और देखते ही देखते एक छोर पर स्थित इस मैदान में पोखरण उतर आया।एक भयानक आवाज़ हुई और दिन भर की उडान के बाद घोंसलों में छिपे पंछी इतने भयभीत हुए कि बाहर निकल पड़े।"[1] आज की कुसंस्कृति का दुष्प्रभाव ग्रामीण इलाकों तक पहुँच गया है।ग्राम्य संस्कृति को नष्ट करके हम पूँजीवाद, औद्योगिक पूँजीवाद की ओर प्रवेश करते समय हम इस बात को विस्मृत करते हैं कि गाँव हमारे भारत की आत्मा है। गाँवों के नाश में भारत का नाश छिपा है।प्रस्तुत कहानी के द्वारा लेखक पुराना और आज के गाँव के परिदृश्य पर प्रकाश डालते हुए अपने मूल स्थान की ओर संदेश देते हैं।मुकेश नौटियाल की कहानी 'दुल्ली चूडियारिन' भी इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है।चूडियारिन गाँव स्थानीय विश्वासों, लोक कथाएँ, पूजा–अनुष्ठान, भूत–पिशाच, रीति–रिवाज़ों से भरा हुआ था। इनमें से एक कहानी इस प्रकार है कि "मगना की जनानी को जब जंगल में प्रसव वेदना शुरू हुई तो दुल्ली ही दाई बनकर आई थी। उसके साथ की घासियारिनों ने बताया कि नवजात रोने की आवाज़ सुनकर जब वे वहाँ पहूँची तो नजारा देखकर दंग रह गई। बच्चे को सूखे पत्ते के बिछावन में सलीके से रखा गया था।"[2] इसके बाद भी कई घटनाओं ने दुल्ली माई को स्थानीय लोगों के बीच इतनी गहनता से स्थापित किया कि उसको वनदेवी का दर्जा दे दिया गया।लोक संस्कृति और उनके परिवेश को प्रकट करनेवाले कई शब्द कहानी में हैं जैसे कि मिट्टी पत्थर से चूने गए पटालों से ढके घर, घरों के आगे पत्थरों से पटे बड़े– बड़े

---

[1]हुषिकेश सुलभ, हलंत, पृ : 61

[2] मुकेश नौटियाल, दुल्ली चूडियारिन, पृ : 42

चौक, चौक के एक कोने पर पत्थर, पत्थर में ढली ओखली, ओखली में धान कूटती चूडियारिनों की शी...शू आवाज़ आदि जीवन की तरलता एवं सहजता की ओर हमें ले जाती है। इस तरलता एवं मातृत्व शक्ति के वशीभूत होकर जयनंदन की कहानी 'विश्व बाज़ार की ऊँट' का नायक सकलदेव शहर से स्थायी रूप से गाँव लौटने की बात सोच लेता है – "अब स्थायित्व की खोज में मैं दुबारा गाँव लौट रहा हूँ।मेरे गाँव की माटी बहुत उर्वर है ....मुझे विश्वास है कि एक उखड़े हुए, अधेड उम्र दरख्त की जड को दोबारा अपनी मातृत्व शक्ति देकर प्राण्वंत कर देगी।"[1] वहाँ रहकर उसे कहीं से पूर्णता प्राप्त नहीं कर सका न परिवार ने दी.... न कारखाने ने।दोनों में वह मुसाफिर रहा।विरासत में मिली जिंदगी के संस्कार ने अभाव में भी सकलदेव को संतुष्ट रहना सिखाया है किन्तु शहर में संपन्नता में भी असंतुष्ट रहने की फितरत बनाने का दबाव उसपर हमेशा जारी रहा। इसलिए उसे अपनी उस मिट्टी के संस्कार की फिर ज़रूरत है।प्रस्तुत कहानी के माध्यम से लेखक ने भूमंडलीकृत संस्कृति में तडपकर अपने गाँव की ओर वापस आनेवाले सकलदेव को दिखाया है।वह समझता है कि असली, सुख एवं शांति अपने मूल स्थान या गाँव में ही है।सौदागर बाबू जो उसकी पत्नी नीना के पिता है, उसे प्रलोभन देते हैं– 'ज़माना बदल गया है, सकलदेव गाँव में भला कोई लाइफ है। न बिजली, न फ्रिज, न पंखा, न टॉयलेट, न क्लब, न पार्टी' पर चूँकि सकलदेव के पोर–पोर में धडकता है, इसलिए शहर की आधुनिक जीवन शैली का प्रलोभन भी उसे वहाँ रोक नहीं पाता।

---

[1] जयनंदन, विश्व बाज़ार का ऊँट, पृ : 51

स्वदेशी भाषा का समर्थन

भाषा हमारी सांस्कृतिक अस्मिता का अभिन्न अंग है।प्रत्येक भाषा चाहे वह छोटी हो या बड़ी किसी न किसी संस्कृति की वाहक होती है।जो हजारों सालों में अपना स्वरूप ग्रहण करती है।इसलिए ही भाषाओं के साथ हमारी बहुत सी संस्कृतियाँ लुप्त होने के कगार पर हैं क्योंकि देश की भाषा, संस्कृति और विचार पर अमरीकी भाषा और संस्कृति थोपने एवं प्रसारित करने की कोशिश की जारी है। साम्राज्यवादी देशों ने जहाँ–जहाँ अपना साम्राज्य स्थापित किया, सबसे पहले वहाँ की भाषा को नष्ट करके अपनी भाषा को थोपती है । कारण किसी भी देश की अस्मिता उसकी भाषा में निहित होती है।जाने–माने भाषा वैज्ञानिक डेविड क्रिस्टल ने लैंग्वेज डेथ नामक अपनी कृति में लिखा है कि "विश्व की छह सौ भाषाएँ ही ऐसी हैं जो विलुप्त होने के खतरे से परे हैं। इसप्रकार भूमंडलीकरण विश्व की अधिकांश भाषाओं के अस्तित्व पर खतरा बनकर मंडरा रहा है।"[1] अतः इस सदी के खत्म होते–होते अधिकांश भाषाएँ ही शेष रह जाएँ जो भाषाएँ बच जाएँगी, जाहिर है कि उनमें अधिकतर प्रभु देशों की भाषाएँ होंगी।

भूमंडलीकरण ने हमारी भाषा को गहराई से प्रभावित किया है। इसलिए हमारी संवेदना और हमारी सोच भी भूमंडलीकृत समय के अनुकूल परिवर्तित हो रही हैं।लोग अपनी मातृभाषा को छोड़कर अंग्रेज़ी भाषा के पीछे दौड़ते रहते हैं।व्यक्ति जिस भाषा में सोचता है, अपने विचारों को बढ़ावा देता

[1] ब्रजेन्द्र त्रिपाठी, साहित्य और परिवेश, पृ : 53

है वही उसकी मातृभाषा होती है।यह भाषा जितनी पुष्ट होती है व्यक्ति में उतनी है सोच और विवेक अधिक सशक्त होती है। किन्तु वर्तमान परिवेश की ओर देखे तो विदेशी भाषा बोलना या हासिल करना समाज में स्टाटस की बात है वे अंग्रेज़ी भाषा बोलते, अंग्रेज़ों जैसे जीना चाहते हैं। पंखुरी सिन्हा की कहानी है 'किस्सा ए कोहनूर' में जयंती एक ऐसी पात्र है उसके बारे में बताया गया है कि, "नाम जयंती महापात्र, मातृभाषा उड़िया, राष्ट्र भाषा हिंदी, शिक्षा की भाषा अंग्रेज़ी, घर में बोलचाल की भाषा अंग्रेज़ी मिश्रित हिंदी, दफ्तर में बोलचाल की भाषा हिंदी मिश्रित अंग्रेज़ी। पर वह भाषा जिससे जयंती महापात्र की पहचान है वह है जावा।"[1] कहानी में ये तीनों भाषाएँ वह बोलती है, किन्तु संवेदनात्मक स्तर पर किसी से नहीं जुड पाती है। उसकी आस्था किसी भाषा से नहीं है, मानव समाज में बोलनेवाली ये तीनों भाषाएँ वह बोलती है किसी पर भी उसका पूर्ण अधिकार नहीं है।जावा ही उसकी भाषा है जिससे ही मल्टीनैशनल कंपनी अमरीका में उसे काम मिलता है।जावा वास्तव में मशीन की भाषा है।जिस प्रकार मशीन संवेदनशून्य है वैसे ही जयंती में भी सारी संवेदनाएँ नष्ट हो गयी हैं।भारतीय होने पर भी उसकी अस्मिता पाश्चात्य संस्कृति के लिए बिक जाती है।सोचने समझने के मानवीय गुण उससे इस संस्कृति ने छीन लिया है इसलिए शादी के अवसर पर भी अपने जीवन साथी को तय करने में जयंती असमर्थ हो जाती है।इस प्रकार बाज़ार के माया संसार में भटकते हुए अस्तित्व–विवेक हीन होकर जीनेवाली पीढी के प्रति चेतावनी देती है यह कहानी।

---

[1] पंखुरी सिन्हा, किस्सा ए कोहनूर, पृ : 234

विस्थापन का दर्द

विस्थापन शब्द का सामन्य अर्थ है किसी स्थान पर बसे हुए लोगों को कहीं से बलपूर्वक हटाना और वह जगह उनसे खाली करा लेना।सामाजिक – राजनैतिक एवं सांस्कृतिक कारणों से व्यक्ति को या समुदाय को जन्मस्थान कोछोडकर किसी दुसरे स्थान में जीना पडता है भूमंडलीकरण उदारीकरण कि नीतियों से विस्थापन की सबसे बडी त्रासदी उन लोगों को झेलना पडा है जो सदियों से जंगलों में बसते आ रहे हैं।अतः वर्तमान समय में विस्थापन आदिवासी समाज केलिए सबसे बड़ी चुनौती के रूप में उभरकर सामने आया है।आदिवासियों पर पहले से ही भाषा, अस्तित्व और अस्मिता का संकट बना हुआ हैं, ऐसे में उनका लगातार हो रहा विस्थापन इस संकट को और भी गहरा करता है इसप्रकार देखा जाए तो विस्थापन एक प्रकार की ऐसी मानवीय विडंबना है जो विस्थापित व्यक्ति को उसकी ज़मीन और परिवेश से अलग कर देती है।यही कारण है कि विस्थापित आदिवासी किसान से मज़दूर बनने को विवश है।इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता जी का यह कथन महत्वपूर्ण है “विकास के नाम पर आज भारत सरकार ने भारी संख्या में उनकी ज़मीने अधिग्रहित की हैं और उन्हें विस्थापित बना दिया है। फलतः वे या तो रोजगार की खोज में पलायन कर दुसरे प्रदेशों में जाने लगे हैं, यहाँ उनकी भाषा और संस्कृति दोनों खत्म हो जाती हैं, अथवा अपने ही घर में

विस्थापित होकर किसान से खेतिहर मज़दूर या बंधुआ बन जाने पर मजबूर हो गए हैं।"[1]

आदिवासी जिस जंगल, ज़मीन में रहता है वह वहाँ के मालिक भी हैं लेकिन आज विकासात्मक कार्यों के नाम पर भूमी से विस्थापित और पुनर्वास से वंचित किये जाते हैं।इस तरह इस तथाकथित विकास के विस्थापन के साथ आदिवासी आज अपने अस्तित्व केलिए संघर्ष कर रहे हैं।अपनी संस्कृति, सभ्यता का त्याग कर नई जगह में उन्हें व्यवस्थित जीवन नहीं कर पाते हैं।इस अभावग्रस्त जीवन में रोटी, कपडे, पानी जैसे सब कुछ छीना जाता है तो उनका जीवन और नरकीय बन जाता है। और ये सब हो रहा है इस वैज्ञानिक विकास के नाम पर जो पश्चिम यानी यूरोप का मॉडल है और विकास के नाम पर लगातार विनाश किए जा रहा है।इस व्यवस्था में अपने जंगल, ज़मीन साथ–साथ अपनी औरतोंकी भी रक्षा करना भी मुश्किल की बात हो गयी है।इस संदर्भ में देखे तो संजीव की 'धूंआताआदमी' नामक कहानी अधिक महत्वपूर्ण है।कहानी का नायक आदिवासियों की बस्ती में लडकी की चाह में एक हथकटे आदिवासी की पुत्री के साथ पहूँचता है । तो देखता है कि वह लडकी बिना कपडों के बैठी हुई है।लडकी निःवस्त्र होने का जो कारण बताती है वह तो हमें चौकाते हैं।लडकी का कहना है – "एक ही कपडा था अपने पास।गन्दा होने पर दिन को धो नहीं सकती, रात को ही साफ करके डाल देती हूँ ।सुबह तक सूख जाता है।लेकिन तुम नाराज़ नहीं होना बाबू, बापू को यह

[1] रमणिका गुप्ता, युद्धरत आम आदमी, पृ : 44

बात खलेगी। इस अंचल में तो यह आम बात है।उसने बातों ही बातों में यह भी बताया। मिल के निर्माण के दौर में पत्थरों को हटाते हुए उसके बाप जैसे जाने कितने लोग पंगु बेरोजगार और विस्थापित हो इस लीक पर उतरने लगे।"[1] स्पष्ट है कि प्रस्तुत कहानी में हमारे देश के अव्यवस्थित योजनाओं के कारण एक बाप अपनी बेटी को वेश्या बनाने के लिए मज़बूर हो जाता हैं।इस प्रकार भूमंडलीकरण का प्रत्यक्ष परिणाम इन जनजातियों को भुगतना पडा । भूमंडलीकरण ने विकास का जो मॉडल विकसित किया है, उसने विस्थापन एवं पलायन के रूप में आदिवासियों की समूची सांस्कृतिक पहचान के खत्म होने का खतरा पैदा कर दिया है। वर्षों से आदिवासी समाज की सबसे बडी विशेषता उनकी सामूहिकता रही है यही उसकी ताकत भी है। सामूहिकता की इसी संस्कृति को आज मुख्यधारा या पूँजीवादी संस्कृति ने दबा दिया है।इनको मिटाने की एक गहरी साजिश आज की कहानी में दिखाई देती है यही इक्कीसवीं सदी की खूबी है।भूमंडलीकृत समाज के लिए जो उपेक्षित है, अर्थहीन है, हाशिए पर थकेल दिया गया है उसे आज का कहानीकार अपने साथ ले आता है। उसे केंद्र में प्रतिष्ठित करता है चाहे व्यक्ति हो या वस्तू।

भूमंडलीकरण की वर्तमान परिस्थिति में विश्वभर में बहुत सी अंतर्राष्ट्रीय कंपनियों ने दूसरे देशों और वहीं के ग्रामीण इलाकों तक अपना व्यापार शुरू किया है, इससे अनेक लोगों को विस्थापित होना पड रहा है।'मैंगोसिल' में उदयप्रकाश जी ने इसकी ओर इशारा करते हुए कहा है कि....

---

[1] संजीव, धुआता आदमी, पृ : 24

"इस इलाके के बहुत से लोगों को हटाकर भिलसवा भेज दिया गया है। सुनते है यहाँ कोई वाटर पार्क बनेगा, जिसमें दिल्ली के अमीर लोग छुट्टियों में नहाने, तैरने, खाने–पीने और खेलकूद, मौजमस्ती करने आएंगे।"[1]प्रस्तुत कहानी के माध्यम से यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि विकास एवं प्रगति हमेशा पूँजीपतियों के लिए बनाता रहता है।विकास इस षड्यंत्र में गरीब हमेशा गरीब होता जाता है।

सांप्रदायिकता का बदलता रूप

भारत एक बहुसांस्कृतिक देश है।इस देश में सांस्कृतिक अंतर्मिश्रण और धार्मिक सौहार्द की एक लंबी परंपरा है।इसी धर्म और संस्कृतियों की एकता ही भारत की पहचान है।धर्मनिरपेक्षता और देश का भविष्य आज अंधकार में ही है।धर्मनिरपेक्षता का भविष्य आज राजनीति की प्रकृति से प्रभावित होता है।अर्थात राजनीति में धर्म और धर्म में राजनीति जब–जब आवश्यकता से अधिक हस्तक्षेप करने लगती हैं तब अंजाम ऐसा होता है कि मिलन से कट्टरवाद, सांप्रदायिक और हिंसा का जन्म होता है। धार्मिक सौहार्द और समभाव हमारी राष्ट्रीयता की प्रमुख पहचान हैं लेकिन मौजूदा परिदृश्य में यह सोचना भी कल्पनामात्र है।लगभग बीस साल से धर्म पूर्णतया पूँजीपतियों के कब्जे में है और उसकी आक्रामक गतिविधियाँ दिन–ब–दिन बढती जा रही हैं।ये गतिविधियाँ अब राजनीतिक का हिस्सा ही नहीं बल्कि खुद राजनीति को हटाकर उसकी भूमिका निभा रही है।इसकी रणनीति

---

[1] उदयप्रकाश, मैंगोसिल, पृ : 132

के तहत आज राष्ट्रीय संस्कृति का विखंडन किया जा रहा है और दूसरी तरफ सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को अस्तित्व में लाया जा रहा है। इसका परिणाम आम जनता को भुगतना पड़ता है।इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानियों में भी राजनीतिक षड्यंत्र के इस खेल के प्रति प्रतिरोध व्यक्त हुआ है।सुधा अरोडा की कहानी 'काला शुक्रवार' मुंबई में हुए सांप्रदायिक दंगों का खुला चित्रण है।6 दिसंबर, 1992 को हुए बाबरी–विध्वंस के बाद मुंबई महानगर के मेहरामपाडा, खेरवाडी, भारत नगर के इलाके में दंगे भड़के और फिर मार्च, 1993 को मुंबई के प्रतिष्ठित इलाकों में बम–विस्फोट हुए।शहर दहल गया। एक के बाद एक होने वाले ऐसे हादसों ने मनुष्य को इतना असंवेदनशील बना दिया कि कोई भी मौत, महज सूचना भर बनकर रही।विस्फोट के विरोध में फिर इन्हीं मुस्लिम बहुल इलाकों में नरसंहार जारी था। मुंबईवासियों के जीवन पर डर, दहशत का आतंक छाया रहा, जो अब तक है।शहर में जब ऐसे दंगे छिड़ते हैं, आदमी अंधा हो जाता है।वह अपने यार दोस्त, पडोसी सबको भूल जाता है। मजहब उसे पागल बना देता है।इंसान, इंसान के खून का प्यासा हो उठता है। इस दंगे का दुष्परिणाम अधिकांश गरीबों को झेलना पडता है। इसलिए देशभर के बेरोजगारों को रोजी–रोटी देनेवाले इस शहर में मिराज जैसे ड्राइवर अपनी दाढ़ी–मूँछ काटकर 'जान है तो जहान है' कहकर अपने ही बेटे की मौत के बाद भी फिर उसी शहर, उसी घर, नौकरी में आने के लिए विवश है। इसका सशक्त प्रतिरोध लेखिका यों करती है कि "मजहब उसे पागल बना देता है ....वह यार–दोस्त, पडोसी सबको भूल जाता है।आँखों में नफरत और हिंसा का

जुनून लिए नवजवान लाठियाँ लिए घूमते हैं। विज्ञान ने आदमी को कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया है, पर आदमी की लाठी और भाले–बरछे वाली आदिम हिंसक प्रवृत्ति में कोई बदलाव नहीं आया।"[1] इससे स्पष्ट है कि सांप्रदायिक दंगों की वजह कितने बेगुनाह एवं निरीह जनता को इसका फल भुगतना पडता है, किसी के सुख के लिए दूसरों को पावों तले कुचला जाता है।इस विस्फोट में मिराज के बच्चे ने बम धमाके से दम तोड दिया।साथ ही साथ दो नवजात शिशु भी इस दुनिया में आँखों खोलने के साथ ही हमेशा के लिए आँखें मूँद लेने के लिए मज़बूर कर दिये गये थे।नयी पीढ़ी कोख या कोख से बाहर आते ही अपनी आँखें हमेशा के लिए बंद करने के लिए विवश होती है। इस हलचलों के प्रति सामान्यों की प्रतिक्रिया कहानी में है – "कसूर किसका है माई? हमारा! हम, जो नेताओं की शतरंज के मोहरे बने हुए हैं।जाहिल हैं हम।जान लेनी है तो हुकूमत में घूसो ।उन्हें मारो, जो अपनी गद्दी की खातिर तुम्हें लड़वा रहे हैं।क्यों राह चलते बेगुनाह इनसान की जान ले रहे हो? यह शहर अब रहने लायक नहीं रहा..... देश को बर्बाद करके क्या हासिल होगा? कौन लोग हैं, क्या चाहते हैं, कुछ समझ में नहीं आता। राजनीति ये लोग करते हैं, मरते हम सब हैं ।"[2]

सांप्रदायिकता अपने विशाल पंख फैलाकर मानवीय मूल्यों को अंधकारमय बना देती है।यह मानव की नियति को भी बदल डालती है। राजनीतिक षड्यंत्र के अलावा प्राण हानि, आर्थिक नुकसान, आपसी विद्वेष

---

[1] सुधा अरोड़ा, काला शुक्रवार, पृ : 14

[2] सुधा अरोड़ा, काला शुक्रवार, पृ : 18

जैसी अनेक सामजिक–सांस्कृतिक समस्याएँ सांप्रदायिकता के तहत सामने आती है। इसकी ओर सजग करते हैं आज की कहानी। क्योंकि बाबरी मस्जिद या राम मन्दिर की हलचलें आज भी जनता भोगती आ रही है।

मुंबई में उभरी सांप्रदायिक दंगों की पृष्ठभूमि में कहीं आग, कहीं हत्या, और कहीं बलात्कार का बोलबाला था।ये हमले अधिकाधिक मुस्लिम बहुल बस्तियों पर हो रहे थे।इसलिए वहाँ जीने के लिए कई लोगों को अपनी पहचान छुपाकर और अपनी अस्तित्व को भूलकर किसी तरह बेचैनी से जीना पडता है।रोज़ी–रोटी यहाँ आनेवाले प्रत्येक मज़दूर की ज़रूरत है।ये शहर उन्हें सब कुछ देता है, रोज़ी–रोटी, विस्थापन, हत्या आदि।सुबह का बाहर निकला सुरक्षित घर पहुँचेगा इसकी कोई गारंटी उसे होती नहीं है।मुंबई का आम जीवन इस समय आतंकवाद, सांप्रदायिकता, बम विस्फोट आदि समस्याओं से त्रस्त है।सूर्यबाला की कहानी 'शहर की सबसे दर्दनाक खबर' जीने की कोशिश में अपनी पहचान को बदलनेवाले कमाल साहब और उनके परिवार की विवशता की है।वे एक हिन्दू सोसाइटी में रहनेवाले है।दंगों के दौरान वे 'इनसिक्योरिटी' को लेकर परेशान करते हैं।इसलिए सोसाईटी की आपातकालीन मिटिंग बुलाकर उन लोगों ने तय किया है कि कमाल साहब को सुरक्षित होकर जीने के लिए पहले उनका नाम बदलना ही है। वे कमाल से 'कमल' हो जाते हैं ।बाद में उनकी पत्नी 'रुकैया' से 'रुक्मणि', बेटा 'शौकत' से 'शौनक' हो जाते हैं।फिर स्वयं कमाल साहब ने अपनी मर्सराइज्ड की लुंगी और तंजेब का कुर्ता पहनना बंद कर दिया और एक दिन शीशे के सामने देखते–देखते पूरी दाढ़ी भी

बना डाली।लेकिन उस्तरा हटाकर मूँह धोने के बाद खुद अपना चेहरा उन्हें बहुत बेगाना, बहुत अजनबी सा नज़र आया।इस परिवेश में उनकी पहचान के साथ–साथ बच्चों की मुस्कराहट भी गायब होती है।अस्तित्व विहीन होकर जीना एक व्यक्ति के लिए कहीं दर्दनाक होती है।जिससे उनका जीवन न के बराबर होनेवाला है।जिसे कमाल साहब सह नहीं पाते है। इस माहौल में तडपते हुए वे एक दिन परिवार के साथ गायब हो जाते हैं ।

अखिलेश की 'अँधेरा' नामक कहानी भी यह दिखाती हैं कि वर्तमान समाज में सारी की सारी बातें धर्म के आधार पर ही देखती समझती जा रही हैं। इसका सबूत है धार्मिक चिन्हों के आधार पर व्यक्ति के धर्म को पहचानकर उनपर आक्रमण करना। प्रस्तुत कहानी में भी दंगे के समय रेहाना हिन्दू दंगाइयों के हाथों में पडने पर रक्षा प्राप्त करने हेतु अपने को हिन्दू स्थापित करने के लिए दंगाई साधू के हिन्दू धर्म से संबंधित सवालों का जवाब देना पडता है। साधू खुशी के साथ कहता है – "यह है असली हिंदुत्व का संस्कार। ज्योतिजी को देखिए, शलवाल–कुर्ता पहनी हैं।पैंट, जींस, स्कर्ट, टॉप्स जैसी सेक्सी और पश्चिमी सभ्यता की पोशाकें पहननेवाली छितारोंको सीखना चाहिए इनसे।यदि वे नहीं सीखेंगी तो हम उनको सिखायेंगे।"[1]रेहाना का प्रेमी प्रेमरंजन सोचता है कि रेहाना ने शादी के बाद ससुरालवालों को सुख रख सकें । किन्तु वास्तविकता यह है कि दंगे के समय मुस्लमान होने की आइडेंटिटी को छिपाने के लिए उसके साथ अनेक मुसलमान रामायण,

---

[1] अखिलेश, अँधेरा, पृ : 165

महाभारत जैसे हिन्दू धर्म ग्रन्थ सीखने लगे थे। पहले तो लोग अपने को विकसित करने के लिए ऐसे ग्रंथो की पढाई की जाती थी किन्तु आज के ज़माने में आगे की ओर जीने के लिए या दूसरे मजहब के दंगे से बचने का एक उपाय के रूप में बदल गया है। कहानी के माध्यम से बदली हुई मानसिकता को संवेदनाशीलता में अभिव्यक्त किया गया है। सांप्रदायिकता का अर्थ आज अंधराष्ट्रवाद में बदल गया है। समन्वयता में नहीं खुद की चिंता में सिकोडकर लोग मूल्यों को अमानवीय जीवन बिता रहे हैं।

भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही कश्मीर समस्या एक ऐसी राजनीतिक बीमारी के रूप में उठ खडी हुई कि आज तक भारत की राजनीति और जनता उसके दुष्परिणाम भोगती आ रही है। आतंकवाद से कश्मीर इस तरह ग्रसित है कि आम आदमी खुलकर साँस नहीं ले पाता है।कश्मीर की घाटी में आए दिन सीमा–पार से होती घुसपैठ, नियंत्रण रेखा का बार–बार उल्लंखन, अपहरण, हत्या, बम फटना, कर्फ्यू, और मकान जलाना आदि आम बात हो गई है।सांप्रदायिकता कट्टरता एवं संकीर्णता के परिणाम स्वरूप ही देश विभाजन हुआ था।पाकिस्तान चाहता था कश्मीर की बहुसंख्यक जनता इस्लाम धर्मी होने के कारण कश्मीर पाकिस्तान में ही होना चाहिए बल्कि भारत का दावा है कि भारत धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है। देश में सभी धर्मों के लोग रहते हैं, धर्म के आधार पर उससे कश्मीर को अलग नहीं किया जा सकता।कश्मीर हथियाने के लिए पाकिस्तान जिहाद के नाम पर आतंक फैलाता रहा है।भारत पिछले एक दशक से इस समस्या से जूझ रहा है। आज

कश्मीर में इतिहास, राजनीति और अंतर्राष्ट्रीय कूटनीति बुरी तरह उलझे हुए हैं।वहाँ की जनता पृथकता नहीं, शांति और विकास चाहती हैं।सचमुच स्थानीय राष्ट्रवाद ही यहाँ चल रहा है। किन्तु इस समस्या को बढाने के लिए अमेरिका जैसी साम्राज्य शक्तियाँ पाकिस्तान को पीछे से सहायता करने की पूरी कोशिश में है। अमरीका हमेशा पाकिस्तान के पक्ष में खड़े होकर इसके माध्यम से भारत के विकास में बाधाएँ खड़ा करता रहा।इससे समस्या और अधिक दुखद हो गयी है। कश्मीर समस्या पर हिंदी में काफी कहानियाँ प्रकाशित हुई हैं।चंद्रकांता इस विषय पर निरंतर लिखती रही हैं, इस कालावधि में उनका 'रहते बारान' कहानी महत्वपूर्ण है।

कहानी में सुषी और हसीना दोनों सहेलियों को आतंक ने अलग कर दिया है।बरसों बाद मिलने पर भी कश्मीर में रहनेवाली हसीना तुरंत सहेली के गले नहीं मिल पाती है।उसका गला रूंध चुका है परंतु मन–मस्तिष्क आतंक से भयभीत है। वहाँ हर व्यक्ति आतंक के नाम से काँप उठता है। इस लिए वे घर के बाहर जाने के लिए भी नहीं चाहते हैं । क्योंकि कोई गोली मारने का डर लगता है। मुसलमान हसीना के भाई को भी सरकारी जासूस समझकर आतंकवादियों ने मार डाला है। आतंकवादियों ने अपने मार्ग में बाधा लगनेवाले मुसलमानों को भी नहीं छोडा है। लौटते समय हसीना के अनकहे शब्द सुषी के कानों में गूँज उठते हैं, "कौन दोस्त, कौन दुश्मन? उनके जेहाद में जो शामिल नहीं होता, वही काफिर है।दीन धर्म उनके लिए कोई अहमियत

नहीं रखता।"[1]इससे स्पष्ट है कि कश्मीर का आम आदमी जिहाद नहीं चाहता है परन्तु आतंकवादी कश्मीर की भूमि को हासिल करने केलिए जिहाद निर्माण कर रहे हैं।

कश्मीर की भूमि पर हमेशा आक्रमण होता रहता है इसलिए लोग आतंक की शारीरिक पीड़ा के साथ साथ मानसिक रूप से भी हमेशा भयभीत दिखाई देते हैं।कई रातें वो सो नहीं पाते हैं। कभी कभी दिन में भी भयानक स्वप्न देखकर चिल्लाता है। वे अपने को सुरक्षित महसूस नहीं करती हैं।'पायथन' कहानी का प्रेमनाथ आतंकवादियों के डर से बेटी को लेकर दिल्ली चला जाता है, परंतु वहाँ पर भी डरावने सपने उसका पीछा नहीं छोडते हैं। उसे सपनों में हमेशा पायथन दिखाई देता है।जो सुस्त, अलसाया, भयावह कुंडली मारकर बैठा जीव था। जिसकी सूरत–सीरत से ही वह आतंकित होता है, "प्रेमनाथ आधी रात को घुटी–घटी चीख मारकर जाग पडता है, पसीने से बेहाल! साथ लगी खाट पर लेटी उनकी इकलौती बेटी बिट्टी पिता की दहशत–भरी चीख से घबराकर नींद में ही उछल पडती है।बेड स्विच दबाकर कमरे से अँधेरा भगा देती है और पिता के पसीने अटे माथे और धौंकती साँसों को देखकर रुआँसी से जाती है।"[2] कह सकते हैं कि आतंक ने लोगों को सिर्फ शारीरिक यातनाएँ ही नहीं दी हैं बल्कि उनके मन को भी गहरा सदमा पहुँचाया है । उन्हें इस हालत से बाहर निकालना कठिन और चुनौती भरा काम है। कश्मीर जिसे धरती पर हम स्वर्ग माना जाता है आज वहाँ रोज़ गोली चलने

---

[1] चंद्रकांता, रहते बारान, सूरज उगने तक, पृ : 58

[2] चंद्रकांता, पायथन, पृ : 26

की आवाज़ें सुनाई देती हैं। प्रारंभ में यह कार्य पडोसी पाकिस्तान द्वारा होता रहा, परंतु आज इसमें कुछ स्वार्थी राष्ट्रवादियों भी शामिल हो चुके हैं ।

फासीवाद का प्रतिरोध

भूमंडलीकरण से उत्पन्न बाज़ारवाद, राष्ट्रवाद एवं फासीवाद के मौजूदा दौर ने निश्चित रूप से राष्ट्र को टुकडों में बाँट दिया है। हमारी सांस्कृतिक विविधता को नष्ट करके जो ताकतवार है उनकी संस्कृति को महत्व दिया गया है। आजकल संस्कृति, फासीवादियों का ज़रूरी औजार है।वे संस्कृति को धर्म के साथ जुडकर अपने ढंग से इतिहास लिखते हैं, संशोधन करते हैं।संस्कृति को धर्म का पर्यायवाची सिद्ध करने की और संस्कृति के केंद्र में धर्म को प्रमाणित करने का प्रयास ही आज चल रहा है। संस्कृति के भीतर निहित धर्म आज का सच है। ऐसे धर्माचार संस्कृति पर सांप्रदायिकता का रंग चढाने का कार्य किया जा रहा है।पहले धर्म का संबंध भक्ति और आस्था से था, लेकिन आज भक्ति जीवन का संपूर्ण नियंत्रण विभिन्न तरीके से लेती है।जीवन के सभी पहलुओं–भोजन, वस्त्र, भाषा, आदि पर धर्म का नियंत्रण प्रत्यक्ष व परोक्ष ढंग से दिखाई देते हैं।इस प्रकार एक ज़माने में जिसे 'धर्म' कहते थे, आधुनिक युग में उसे सेक्युलर रूप देकर कहने लगा है।इस प्रकार धर्म और संस्कृति के मेल में राष्ट्रीय और सामुदायिक कट्टरवाद बढने लगे।यह कट्टरवाद दूसरी संस्कृतियों को समझने में बाधक का काम करता है। जिससे यह धारणा होती है कि हमारी संस्कृति श्रेष्ठ है, हमारा धर्म श्रेष्ठ है।हम सही है, दूसरे गलत है। हर समुदाय को लगता है उसकी संस्कृति ही

महान है। ये दूसरों को समझना नहीं चाहते, सिर्फ फर्क करते है। अतः फासीवाद अपने आपको महान एवं श्रेष्ठ होने का स्वयं घोषित करता है।इस प्रकार आज भारत में संस्कृति के अर्थ को संकुचित करते हुए इतिहास का गलत इस्तेमाल करके एक हिन्दू राष्ट्र को बनाया जा रहा है।जिसके तहत वे अपनी संस्कृति, अपनी राष्ट्रीयता, अपने विचारों को दूसरों पर थोपता है।कहा जा सकता है कि अब हिन्दू राष्ट्रवाद को ही वास्तविक राष्ट्रवाद ठहराने का तर्क एक खास विचारधारा वाले संगठनों की रणनीति है।इसका प्रतिरोध आज का साहित्यकार करता आ रहा है, इक्कीसवीं सदी की कहानी ने भी धर्म, धर्मान्धता, आम आदमी, हिंदुत्व अर्थात बढते फासीवाद को कहानी में व्यक्त करते हुए उसके खतरों से अवगत किया है।

वंदना राग की 'युटोपिया' में धर्म के घिनौने एवं फासीवाद के भयानक रूप को दर्शाया गया है।कहानी में अच्युदानंद के पिता की मृत्यु के उपरांत राममोहन उसे ले जाता है। वह एक हिदुत्ववादी संगठन का नेता है।इसलिए वह अपने राजनैतिक स्वार्थों के लिए अच्युतानंद जैसे युवा वर्गों का इस्तेमाल करता है।हिन्दुत्ववादी संगठन बेरोजगार हिन्दू नवयुवकों को 'राष्ट्र' के नाम पर बहकाकर उन्हें उग्र, क्रूर और संवेदनहीन बना रहे हैं।राम मोहन के यहाँ इस तरह से न जाने कितने बेरोजगार नवयुवक पार्टी का काम सीखने के लिए लाये जाते थे–"सबसे पहले वे अपने रंग–रूप को खूब बढ़िया भोजन करवाते थे, फिर पीने–पिलाने के तौर–तरीकों की शुरुआत, बियर से होती थी। जब लडके उनके डेरे पर बैठने के आदि हो जाते थे तो उनकी विधिवत कोचिंग

होती थी। उन्हें धर्म और भारतीय संस्कृति के प्रेरक प्रसंग सुनवाये जाते थे।शहर में यज्ञों का आयोजन, शहर उत्सव समिति में शिरकत और त्यौहार प्रबंधन समिति के कार्यकर्ता तैयार कराये जाते थे।"[1]राष्ट्र के नाम पर जो लहर नवयुवकों के दिलो–दिमाग में भरा जाता है जिससे अन्य धर्मो और अल्पसंख्यकों के विरुद्ध खडा कर देता है।उन्हें उम्मीद थी युवा लडकों के दिमागों में बात का असर ज़्यादा मारक ढंग से होगा और यह शहर की आबोहवा बदलने में मददगार साबित होगा। "एक पुरानी मस्जिद थी कहीं। कहीं किसी शहर अयोध्या में, जो शायद इसी भारत के किसी कोने का हिस्सा थी।वीडियों में बताया जा रहा था, उस मंदिर की बुनियाद झूठ पर रची थी।कमेंट्री चल रही थी और मस्जिद टूट रही थी।हमें नीच समझा...., डरपोक समझा, हम पर राज किया....।अब तो इकट्ठे हो जाओ और इस मस्जिद को खत्म करो वर्ना नपुंसक कहलाओ।यह संदेश दो हमारी कौम नामर्द नहीं और उन लोगों को कह दो इस देश में रहना है तो यहाँ के बन कर रहें।"[2]इस प्रकार फासीवाद अपने एजेंडा से जनता के मन में विष फैलाने का कार्य कर रहा है।फिर तो इन लोगों के इशारेपर ये जनता कुछ भी करने के लिए तैयार हो जाती हैं ।दूसरे धर्मों के प्रति विद्वेष जगाने के लिए बार–बार छः दिसंबर को वीडियो दिखाया जाता है कि, कैसे हमने बाबरी मस्जिद का विध्वंश कर अपने धार्मिक और राष्ट्रीय गौरव व स्वाभिमान को पुनस्थापित किया।

---

[1] वंदना राग, युटोपिया, पृ : 169

[2] वंदना राग, युटोपिया, पृ : 169

फासीवाद का क्रूर भाव इतना कठोर होता है कि अच्युतानंद अपनी प्रेमिका नज्जो जो मुस्लिम लडकी है उसका बलात्कार करता है।कहानी में दिखाया गया है कि बाबरी मस्जिद और नज्जो की देह में अब कोई अंतर नहीं है। जैसे छल और बलपूर्वक बाबरी मस्जिद के ऊपर चढकर उसे क्षत–विक्षत कर अधिकार में ले लिया जाता है, उसी तरह नज्जो की देह पर भी बलपूर्वक हुआ था।इसके साथ ही बचपन में एक ही मोहल्ले में रहते, खेलते–खेलते दोनों ने जीवन बिताया था। किन्तु आज इनके बीच प्रेम, विश्वास नहीं, दोनों दो कौमें हैं हिन्दू और मुसलमान। इनके बीच की सहृदयता खो चुकी है।

गोविन्द मिश्र की कहानी 'दूसरी सुबह' में अल्पसंख्यक, अपने को अल्पसंख्यक होने की दुहाई देते हुए सवर्णों को ऑफिस में ब्लैकमेल करते हैं।उन्हें डराते हैं।कहानी का उमाशंकर भी इसी प्रकार के डर से मुसलमानों से कुछ दूरियाँ बनाकर चलता है।उमाशंकर जो साफ़ सुथरी मानसिकता का पात्र है किन्तु रहीम उसे बराबर अल्पसंख्यक को सताने का डर दिखाकर और मुसलमान होने को कवच की तरह ओढ़े रखकर सवर्ण उमाशंकर को कुछ परेशान करता है।इसके विपरीत आलम, उनके बेटे का दोस्त, उमाशंकर के मन में फैले इस भ्रम को दूर करता है कि मुसलमान अल्पसंख्यक होते हैं, उन्हें सताया जाता है और वे सवर्णों को परेशान ही करते हैं।एक दिन जब वे तेज बुखार से पडे रहते हैं, बडबडाहट जारी रहती है तभी उनके माथे पर ठण्ड महसूस होती है।आखें खुलकर देखने पर उन्हें विश्वास नहीं होता है कि आलम जाने कब से पट्टियाँ भिगोकर उनके माथे पर रखता आ रहा था। वे खुद

कहते है, "आदमीयता आखिर आदमीयत है उनके अपने लडके रमेश ने कभी ऐसा नहीं किया।"[1] आलम उनके लिए चाय बनाने के लिए किचन में पहुँचता है तो उमाशंकर सोचते हैं कि "अब आलम उनके रसोईघर में भी । उन दो लडकों का रसोईघर में मिलकर कुछ पकाना.....जैसे साथ–साथ पढने और खेलने की दुनिया को वे आगे बढा रहे थे, क्रमशः"[2]यह घटना उनके जीवन में नयी सुबह ला रही है। रहीम के कारण उनके मन या मुसलमानों के संबंध में जो भ्रम फैले थे, वे आलम के कारण दूर हो जाते हैं।धर्म से ज़्यादा इंसानियत ही दुनिया में सर्वोपरि है।धर्म जाति के परे मनुष्य के रूप में राष्ट्र में जीने केलिए जब लोग तैयार होगा तब ही राष्ट्र उन्नति की ओर चलेगा। कहानी के अंत में ही यही दिखाने का प्रयास लेखक ने किया है।यह मात्र हिन्दू या तो मुसलमानों का राष्ट्र नहीं है बल्कि जितना सहयोग हिन्दू करता है उतना ही सहयोग मुसलमानों का भी है।

अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य का निषेध

समाचार पत्र, प्रचार–पसार के माध्यम, विचार, साहित्य, कलाएँ आदि स्वाधीन अभिव्यक्ति के बडे और प्रभावशाली मंच है। यहाँ से कई बार ऐसे सत्य या तथ्य उद्घाटित होते हैं, जो सत्ताधारियों और शक्ति केन्द्रों को क्रुद्ध करते हैं। सत्ता हो या माफिया, जब गुस्से में आता है तो सबसे पहले स्वाधीनता पर आक्रमण करता है, जिसके कई प्रकार हैं। सत्ता को नाराज़ करने वाले को मौत के घाट उतारे या जेल में डाल दिए जाते हैं। पत्र–पत्रिकाएँ

[1] सं. अग्रवाल गिरिराज शरण, सांप्रदायिक सदभाव की कहानियाँ, पृ : 58

[2] सं. अग्रवाल गिरिराज शरण, सांप्रदायिक सदभाव की कहानियाँ, पृ : 58

और पुस्तकें जब्त कर ली जाती हैं, प्रकाशन स्थल चुप कर दिए जाते हैं। इस प्रकार देशभर में सत्ता के खिलाफ स्वर बुलंद करने वालों को सुनियोजित ढंग से खामोश करने की फासीवादी नीति मुहीम चलाई जा रही है। हो सकता है कि उनके विचारों से हमारी सहमती नहीं है, लेकिन लोकतांत्रिक ढांचे में अगर असहमत स्वर को बंदूक के बल पर चुप कर दिया जाएगा तो स्पष्ट है कि लोकतंत्र की हत्या हो रही है यह घटना देश की लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए एक चुनौती है। इसलिए आजकल लोकतंत्र पर खतरा निरंतर बढ़ रहा है। सत्ता अपनी ज़रा भी आलोचना बर्दाश्त करने को तैयार नहीं है।मतभेदों को विचार, तर्क और अदालती रास्ते से उत्तर देने के बजाय आलोचकों पर गोलियाँ चलाना फासीवाद है। यह बात खतरे से खाली नहीं कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का दायरा कम होता जा रहा है। यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो साहित्यकार को पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए, कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करने की। अभिव्यक्ति एवं कला पर शासक का अधिकार उचित नहीं है।कलबुर्गी, दाभोलकर, पंसारे और फिर गौरी लंकेश ऐसे उदाहरण है जो सत्ताधारी वर्ग और कट्टरपंथी ताकतों को असहज कर देने वाले प्रश्न उठा रहे थे।देखने की बात यह है कि इन चारों की विचार प्रणाली और काम के तरीके भले अलग अलग थे, किन्तु उनके बीच समता की एक धारा थी और वह यह है कि वे चारों धर्म और संस्कृति की विकृतियों और विद्रूपताओं के कडे आलोचक थे।

इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानियों के क्षेत्र में भी एक ऐसी श्रेणी उभर आ रही है कि वैचारिक फासीवाद के प्रति अपनी आवाज़ उठाने के लिए। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस रणनीति पर प्रतिरोध करने का कार्य भी उन्होंने किया जा रहा है।संजय कुंदन की 'बॉस की पार्टी' में यह दिखाया गया है कि एक पत्रकार को स्वतंत्र रूप से अपना काम करने का अवसर प्राप्त नहीं होता है। कहीं न कहीं अपने बॉस के दबाव के अनुसार चलना पडता है। कहानी में केएनटी यानी कमल नारायण तिवारी भी वैसी एक पात्र है जो सम्मानित राष्ट्रीय दैनिक के क्षेत्र में काम करनेवाले हैं। वे मीडिया में एक लेख छपकर अपना एक विशिष्ट स्थान ग्रहण करना चाहते थे। किन्तु ऐसे एक विषय को चुनने के लिए या प्रस्तुत करने में उन्हें कई दिक्कतें सामना करनी पडती है।इसमें प्रमुख थे ऑफीस के नये संपादक भटनागर।व्यक्ति, स्थान एवं संस्था के अनुसार उनकी राय हमेशा बदलती रहती थी।इसके अनुसार कई रपटों को बदलना ही पडता है।केएनटी सोचता है कि सम्मानित राष्ट्रीय दैनिक का संपादक कैसे इस तरह व्यवहार कर सकता है।ऐसे माहौल से केएनटी के मन में संघर्ष उभर आता है।उसके अनुसार एक व्यक्ति की अभिव्यक्ति का निषेध ही हो रहा है।बाद में कहानी में जो चल रहा है वह तो नायक के मन की इच्छा एवं उससे उत्पन्न हंगामे है।इस हलचल को नायक एक फिल्म के रूप में दीवार में देख रहा है।जैसे कि केएनटी ने अपनी कार बेच दी है उसी पैसे से एक साप्ताहिक अखबार निकालना शुरू कर दिया है – "वे स्वयं अपना अखबार बाँटते चलते है।वे हाकर भी है, संपादक भी, लेखक भी, प्रकाशक भी।उनकी

कलम आग उगलने लगी है।वे घंटों पैदल चलने लगे हैं। वे मजदूरों–रिक्शावालों के साथ उठते बैठते हैं।उनके दुःख सुख में साथ हो गये हैं।उनके अखबार ने भंडाफोड किया है, एक बडे घोटाले का।सब शामिल हैं उसमें।ऊपर से नीचे तक के लोग मंत्री अफसर, ठेकेदार, दलाल। हंगामा हो गया है।केएनटी के साप्ताहिक पत्र की धूम मच गयी है। संसद में बवाल हो गया है, जॉज आयोग बैठाया गया है।"[1] ताकि इसका नतीजा यह हुआ कि गुंडागर्दों से यह पत्रकार मारा जाता है।समाज की अनीतियों को तथा बडे–बडे लोगों के खिलाफ लिखने की वजह से एक पत्रकार की मृत्यु हो जाती है। लेकिन अगले दिन देश के बडे अखबारों में एक छोटी से खबर छपी है – जुझारू पत्रकार कमल नारायण तिवारी की सडक–दुर्घटना में मृत्यु। केएनटी ने अपने आपको मरते हुए देखा। प्रस्तुत कहानी में इस संदर्भ को नायक की सोच के रूप में चित्रित करने पर भी आज समाज में हो रहे यथार्थ को हीलेखख ने उद्घाटित करने का प्रयास किया है। इस सच को कोई अनदेखा नहीं कर सकता है। केवल पत्रकार, साहित्यकार को ही नहीं राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति अपने विचार को प्रकट करने के लिए घबराता है। जो पूँजीवादी सत्ता के खिलाफ आवाज़ उठाता है उन्हें निष्ठुर रूप से खतम करने की साजिश ही आज चल रही है।

निष्कर्ष

भूमंडलीकरण के वर्तमान युग में संस्कृति की परिभाषा और संकल्पना पूर्णतः बदल गई है।संस्कृति से भूमंडलीय संस्कृति की इस परिणति

---

[1] संजय कुंदन, बॉस की पार्टी, पृ : 194

में हमारी देशीय संस्कृति का स्थान अपसंस्कृति ने ले लिया है जिसे बाज़ार और तकनीकी ने मिलकर रचा है।वरन बाज़ार चीजों का विकल्प बन गया है जहाँ प्रत्येक वस्तू बिकाऊ है। बाज़ार के नियम हमारे सांस्कृतिक मूल्यों एवं मानवीय संवेदनाओं को बाजार की संवेदनाओं में तब्दील होते जा रहे हैं। समाज में जितना विकास एवं प्रगति होने पर भी भोगवादी संस्कृति अपने साथ बहुत सी विकृतियों को लेकर आई है। जिससे उत्पन्न असहिष्णुता ने मानवीय और राष्ट्रीय अस्तित्व को खतरे में डाल दिया है। भौतिक और मानसिक स्तर पर उत्पन्न इस बदलाव को पुनः सुखद, पावन हमारी संस्कृति की ओर लौटाने के लिए साहित्य ही एकमात्र माध्यम है।इस सच्चाई को पूरे प्रयत्न के साथ प्रस्तुत करने की पुरजोर कोशिश आज के कहानीकार करते आ रहे हैं। ऐसी नवराष्ट्रीयता का सबसे मुख्य लक्ष्य सांस्कृतिक जडोंकी खोज कर भूमंडलीय संस्कृति द्वारा स्थापित मान्यताओं को तोडने का ही है।इसलिए इस कहानीकार ने कला, भाषा, साहित्य, रिश्ते, पारिवारिक संबंध, इतिहास, धर्म, नैतिक तथा अन्य सभी के पुनर्पाठ का आह्वान दिया है जिसे इस पूँजीवादी संस्कृति ने तोड मरोड दिया है।

****

तीसरा अध्याय

इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानियों में लोक संस्कृति

'संस्कृति' किसी राष्ट्र, राज्य, जीवन या समाज की संपूर्ण मानसिकता का आदर्श एवं सुन्दर रूप होती है ।इसमें जीवन के समस्त क्रियाकलापों का लेखा–जोखा निहित होता है ।प्रत्येक देश अथवा क्षेत्र की एक लोक संस्कृति होती है ।देश अथवा क्षेत्र की सीमाओं में रहकर जनजीवन इस संस्कृति का निर्माण एवं विकास करता है ।

'लोक' सब्द का प्रयोग प्राचीन काल से हो रहा है ।यह शब्द संस्कृत की 'लोक दर्शने' धातु में 'धञ' प्रत्यय जोड़ने से निर्मित हुआ ।इस धातु का अर्थ है – देखना ।इसका लट्लकार में अन्य पुरुष एक वचन रूप 'लोकते' होता है ।अतः 'लोक शब्द का मूल अर्थ हुआ – देखने वाला ।इसलिए लोक शब्द का अभिप्राय उस संपूर्ण जनसमुदाय से है जो किसी देश में निवास करता है ।यह 'लोक' शब्द अंग्रेज़ी के 'फोक' शब्द का समानार्थी है ।एक ओर यह शब्द जनसामान्य के अर्थ का द्योतक है तो दूसरी ओर अपने में विश्व अथवा समाज को समेट लेता है ।आधुनिक विद्वानों द्वारा लोक शब्द कई अर्थो में प्रयुक्त किया गया है । कुछ विद्वानों ने लोक को 'जन' का पर्याय माना है, तो कुछ ने 'ग्राम' या नगर की सीमित परिधि के अंतर्गत अभिहित किया है – कुछ विद्वान अशिक्षित और अल्पसंख्यक व्यक्तियों के वर्ग को 'लोक' के अंतर्गत सन्निहित करते हैं ।

शब्दकोश में 'लोक' शब्द के अर्थ है – जन या लोग, समाज, संसार आदि ।हिंदी के प्रसिद्ध लोकवार्ताविद डॉ.सत्येन्द्र के अनुसार – "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना और पांडित्य के अहंकार से शून्य है ओर जो एक परंपरा के प्रवाह में

जीवित रहता है ।यह वस्तुतः 'लोक' की वह नृतात्विक व्याख्या है जो उसके लिए विशिष्ट सामाजिक वर्ग पर ज़ोर देती है ।"[1]

हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "लोक शब्द का अर्थ जनपद या 'ग्राम्य' नही है बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली वह समस्त जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियों का ज्ञान नहीं है ।नगर में परिष्कृत रुचि–संपन्न तथा सुसंस्कृत–समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा वे अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यासी होते हैं तथा परिष्कृत व्यक्तियों की विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखनेवाली वस्तुएँ उत्पन्न करते हैं ।"[2] त्रिलोचन पाण्डेय ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किया है कि – "आरंभ में जब 'लोक' शब्द का अर्थ असाक्षर, असंस्कृत जैसे लोगों से किया तो उसका मूल आधार सामाजिक था।फिर जब उसे आदिम समाजों के साथ जोड़ा गया तो उसका मूल आधार जातीय था।फिर जब उसे कृषक समाजों अथवा ग्राम समाजों के साथ संयुक्त किया गया तो उसका मूल आधार भौगोलिक था।"[3]

लक्ष्मीधर वाजपेयी ने लोक शब्द की व्याख्या अपने ढंग से की है – "लोक का तात्पर्य सर्वसाधारण जनता से है।तथा दीनहीन, शोषित, पतित, पीड़ित लोग और जंगल जातियाँ, कोल, भील, संभाल, गौड़, नाग, शक, हूण, इत्यादि सभी लोक समुदाय मिलकर 'लोक' संज्ञा को प्राप्त होता है ।"[4] 'लोक की ओर परिभाषित करते हुए डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है – "लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है ।उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है।लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है, लोक प्रायोगिक ज्ञान और संपूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है । अर्वाचीन मानव के लिए सर्वोच्च

---

[1] डॉ. सत्येन्द्र, हिंदी साहित्य कोश, भाग–1, पृ : 747

[2] डॉ. श्रीराम शर्मा, लोकसाहित्य सिद्धांत और प्रयोग, पृ : 4

[3] त्रिलोचन पाण्डेय, लोक साहित्य का अध्ययन, पृ : 105

[4] लक्ष्मीधर वाजपेयी, भारतीय लोक संस्कृति का आधार, पृ : 112

प्रजापति है ।लोक, लोक की धात्री सर्वभूत माता पृथ्वी और लोक व्यक्त रूप मानव यही हमारे नये जीवन का अध्यात्म शास्त्र है । इनका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार है और निर्माण का नवीन रूप है । लोक, पृथ्वी, मानव – इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याणतम रूप है ।"[1]इस प्रकार लोक अपने में विशाल अर्थक्षेत्र समेटता है।ये तमाम परिभाषाएँ यही उजागर करती हैं कि सर्व साधारण जनता ही लोक है ।यह एक ऐसा समुदाय विशेष है जो केवल गाँवों में नहीं बल्कि नगरों में भी निवास करता है, जो रूढीगत परंपराओं, अंधविश्वासों, आदिम प्रवृत्तियों से युक्त, शिक्षा से हीन तथा जो नगर के परिष्कृत रुचि संपन्न व सुसंस्कृत समझे जानेवाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल जीवन जीने का आदी होता है । शिक्षित होने पर भी जब वह अपनी प्राचीन संस्कृति, मान्यताओं एवं परंपराओं को नहीं तोड़ता 'लोक' के अंतर्गत ही अ जाता है ।

लोक संस्कृति

लोक संस्कृति का स्पष्ट अर्थ है 'लोक' की संस्कृति ।लोक संस्कृति हर देश के समाज की अपनी संपत्ति और विभूति होती है ।यह किसी एक व्यक्ति की निर्मिति न होकर सामूहिक आविष्कार होता है ।इसका निर्माण नियोजनबद्ध रूप से नहीं किया जाता है वह स्वाभाविक, सहज ढंग से होता है ।इसमें कृत्रिमता नहीं आत्मीयता होती है ।लोक संस्कृति में लोक मंगल के तत्व निहित हैं । अतः लोक संस्कृति का अपना विशेष महत्व है ।कहा जा सकता है कि जन समाज की परंपरागत मान्यताएँ, धार्मिक सामाजिक विश्वास, रीति–रिवाज, वेश–भूषा, भाषा एवं रंजन प्रणालियाँ लोक संस्कृति के अभिन्न अंग है ।लोक–कथा, लोकगीत, लोक–नृत्य, लोक–उत्सव, धार्मिक व्रत त्यौहार आदि लोक सांस्कृतिक तत्वों के प्रमुख मुद्दें है।

---

[1] डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, सम्मलेन पत्रिका, लोक संस्कृति विशेषांक 2010, पृ :65

डॉ.कृष्णदेव उपाध्याय के मतानुसार "लोक संस्कृति से हमारा अभिप्राय जनसाधारण की उस संस्कृति से है जो अपनी प्रेरणा लोक से प्राप्त करती थी, जिसकी उत्सभूमि जनता थी और जो बौद्धिक विकास के निम्न धरातल पर उपस्थित थी ।"[1] जार्ज एम फोस्टर के शब्दों में "लोक संस्कृति को एक ऐसी सामान्य जीवन शैली के रूप में देखा जा सकता है जो किसी क्षेत्र के अनेकों गाँवों, कस्बों तथा नगरों के कुछ अथवा सभी व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करती है ।"[2]

लोक संस्कृति, संस्कृति का लोक प्रिय और जीवंत रूप है ।भारत के संदर्भ में लोक संस्कृति में मुख्यतः कृषक संस्कृति, आदिवासी एवं अन्य हाशिएकृतों की है ।वे हमारी ज़मीन, प्रकृति तथा जलवायु की उपज है । वे प्राकृतिक हैं कृत्रिमता का सवार उनपर अभी तक उतना नहीं हुआ । ऐसे प्रकृतस्थ लोगों के द्वारा जो लोक है और लोकहित है उनका नाश कभी भी नहीं होगा ।हमारी स्मृतियाँ आज भी उसके लिए तरसती हैं ।जो परिकथायें, लोक कथाएँ एवं मिथक हैं वे आज भी हमारी संवेदनाओं को संशुद्ध एवं संपुष्ट करते हैं। समकालीन कहानीकार इनके प्रति विशेष सतर्कता बरते आते हैं ।यह इस अतिभौतिक हिंसात्मक भोगलिप्सा एवं स्वार्थपरायण मनुष्यों को अनुभूति जगत की ओर ले आने में समर्थ है।इसलिए नवराष्ट्रीय अवधारणा में लोक की जगह अन्य आवाज़ों से ज़्यादा विचारणीय दिखाई देती है। यह है भारतीय धरोहर, हमारी विरासत और बपौती ।

इक्कीसवीं सदी की कहानी में कृषक संस्कृति

भारत कृषि प्रधान देश है ।भारतीय जीवन का यथार्थ स्वरूप गाँवों में है । भारतीय जीवन तथा सभ्यता का मूल स्रोत कृषि है और उसका विस्तार ग्राम जीवन में ही परिलक्षित होता है ।

---

[1] राहुल सांकृत्यायन (सं), हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास, पृ : 4

[2] डॉ. अल्पना सिंह (सं), लोक संस्कृति एवं साहित्य का वर्तमान स्वरूप, पृ : 147

कृषि करनेवाले ग्रामीण कृषक कहलाते हैं, जो कि ग्राम्य जीवन का एक मुख्य अंग है । भारतवर्ष गाँवों से बना है, गाँवों में रहनेवाले अधिकतर लोग कृषि से संबंध रखते हैं, इससे यह स्पष्ट है कि भारत कृषकों का देश है ।इसलिए भारत जैसे कृषि प्रधान देश की अपनी एक कृषि संस्कृति है ।इस किसानी संस्कृति के विकास से ही देश का सांस्कृतिक विकास संभव है ।"हमारी संस्कृति का मूल स्रोत कृषि है । हमारा सारा सांस्कृतिक प्रसार कृषि और ग्राम जीवन में ही परिव्याप्त है ।मनुष्य के रूप में एक सामाजिक सदस्य के नाते जो वह करता है, सोचता है, वह सब जटिल सांस्कृतिक चक्र से बंधा है ।संस्कृति ही वह आधार है, जिसके माध्यम से व्यक्ति, ज्ञान, कला, नैतिकता, प्रथाएँ एवं परंपराएँ सीखता है ।"[1] अतः कहा जा सकता है कि खेती–किसानी इस देश की प्राण, संस्कृति और सरोकार रही है ।भारतीय संस्कृति का प्रसाद इसलिए कृषि संस्कृति पर ही खड़ा है ।किसान जीवन में व्यवहृत एस संस्कृति ने न केवल भारतीय संस्कृति को संजीवनी प्रदान की अपितु भारतीय संस्कृति को निजत्व भी प्रदान किया है । लेकिन आजकल कृषि प्रधान देश में कृषकों की स्थिति अत्यंत चिंताजनक है ।मोबाईल, इंटरनेट और मॉल की संस्कृति में खेती–किसानी की उपेक्षा, किसानों और किसानी को हेय दर्शाने की संस्कृति, वर्तमान विकास नीति के केंद्र में है । अंतः विकास का वर्तमान मॉडल, विनाश की परिणति तक जाने को अभिशप्त है । इसके पीछे बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ जैसे एजंसियों की कूटनीति है ।1960 के दशक में हमारी कृषि प्रणाली में अमेरिका से आयातित 'हरित क्रांति' का प्रवेश कुल मिलाकर एक सुखद घटना थी ।इससे कृषि उत्पादन में कुछ वर्षों के लिए ही सही अभिवृद्धि हुई । 'हरित क्रांति' एक नयी औद्योगिक कृषि प्रणाली थी । कृषि रसायनों और उन्नत संकर बीजों के व्यापार को प्रोत्साहित करना ही इसका मूल उद्देश्य था । यह हमारी सदियों से स्थापित परंपरागत कृषि प्रणाली का रूपांतरण भी था । इसने कृषि

---

[1] कथादेश 2012 माई, पृ : 6

रसायनों के अविवेकपूर्ण उपयोग और सिंचाई की अनिवार्यता से हमारी कृषि संस्कृति पर अमूल–चूल परिवर्तन किया है ।आज वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण के दौर में तो स्थिति और भी बदतर हो गयी है अपने चारों ओर कॉरपोरेट दुनिया के हित के अनुसार कृषि क्षेत्र को तबाह करने का प्रयास किया जा रहा है । बीज पर भी विदेशी शक्तियों का एकाधिकार हो चुका है । परंपरागत बीज उजाड़ दिये गये हैं । हाईब्रीड बीजों को बेचनेवाले ही उसे बनानेवाले हैं । अब किसान अपनी फसलों से बीज नहीं तैयार कर सकते, नवसाम्राज्यवादी प्रभुओं द्वारा तैयार किये गये बीजों के लिए अत्याधिक कीटनाशक, पानी और रासायनिक खाद चाहिए ।ऐसी हालत में कृषक दूसरों की मर्जी पर कृषि करने के लिए विवश है ।उदारीकरण–निजीकरण की नीतियाँ किसानों को घेरने, उन्हें कॉरपोरेट दास बनाने से हमें पाश्चात्य संस्कृति के अधीन में दबाने का कुचक्र रच रही है ।हाईब्रीड बीजों के आने के बाद बेशक महंगे खाद, पानी, बीज, बिजली, कीटनाशक और मज़दूरी से कृषि लागत में वृद्धि हुई है ।जिसके चलते छोटे किसान कर्ज में डूबते गये । दूसरी ओर रासायनिक खादों और कीटनाशकों का बहुतायत से प्रयोग, ज़मीनी, जल का दोहन अनियंत्रित बना दिया गया लिहाजा ज़मीन बंजर होने के कगार पर जा पहुँचा है । इससे किसान अपनी ज़मीन से बेदखल होकर बड़े पैमाने पर आत्महत्याएँ बढ़ती जा रही है ।इसके अतिरिक्त आत्महत्या न करनेवाले किसानों की दशा भी अत्यंत चिंताजनक है ।देखने की बात यह है कि देश के लगभग आधे किसान किसी न किसी तरह के कर्ज के जाल में फँसे हुए हैं ।खेतों में खून–पसीना बहानेवाले मेहनतकश किसानों की दुर्दशा यह हुई है कि वे कृषि छोड़ रहे हैं या अपनी जान खतम करने के लिए मज़बूर होते हैं ।दुनिया में जहाँ–कहाँ कृषि संस्कृति का औद्योगीकरण, बाज़ारीकरण हुआ है उसने ग्राम्य संस्कृति का भी अंत कर दिया है ।वस्तुतः खेती–किसानी का जिस ढंग से विकास किया जा रहा है, वह गाँवों की तबाही और किसानों के विनाश का मार्ग है ।

गाँव एवं किसान का पूरा जीवन ज़मीन, जल और खेती से जुडा हुआ है । खेत तो किसान की आत्मा होता है । इसके बिना वह जी नहीं सकता ।उनकी अपनी एक संस्कृति एवं अस्मिता है ।नष्ट होती हुई इस संस्कृति को पुनः साहित्य के माध्यम से स्थापित करने का प्रयास आज के कहानीकार कर रहे हैं ।सांस्कृतिक ग्रामीण कृषक समाज एवं राष्ट्र की आत्मा है ।इस सच्चाई को लेकर इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानियों में गाँव एवं कृषि संस्कृति को व्यापक धरातल पर वाणी मिली है । किसान तमाम ताड़नाएँ और आपत्ति सहकर भी कृषि संस्कृति को बनाए रखने में प्रतिबद्ध होता है ।इसी प्यार एवं प्रतिबद्धता की संस्कृति को देवेन्द्र सिंह की 'कंपनी बहादुर', महेश कटारे की 'गोद में गाँव', आदि में देखा जा सकता है ।

दरअसल बहुराष्ट्रीय कंपनियों के बढ़ते फंदे में घिरा किसान आज इतना विवश हो चुका है कि अपनी आँखों के सामने अपने बंजर पड़े खेतों को वह सिर्फ निहार भर सकता है, पर उन्हें लूटने से नहीं बचा सकता, न ही उन्हें फिर से उपजाऊ बनाने की पहल ही कर सकता है ।पर ऐसी स्थिति में भी जब 'गोद में गाँव' की कहानी का सरपंच सालिगराम से कंपनी के रेस्ट हॉउस के लिए खेत देने की बात करता है तो सालिगराम का धरती प्रेम उसे ऐसा नहीं करने देता । वह कहता है कि – "पर नईं भैया! हम ना बेचेंगे ।धरती है तो आस भी बची है ।सोचता है सालिगराम..... अकाल, बाँझ होती धरती, कंपनी, दलाल आदि से उसकी ज़िन्दगी घिर चुकी है, फिर भी वह हिम्मत नहीं हारता, अपने बेटे जै सिंह को समझाते हुए कहते हैं – जैसिंह! मोय तो जे लगई रई कि जौन दिन हमारे सोत सुख जाएँगे तौन दिन जे कंपनी हमें मरते बिलबिलाते छोड़ जाएगी ।चूसे भये आम की नाईं। .....उसकी इस बात का समर्थन सालिगराम की बीवी रामसिरी भी करती है – 'ज़मीन तो अब नई बिकेगी ।.....

बसस ।जो होयगा देखेंगे ।"[1] देवेन्द्र सिंह की कहानी 'कंपनी बहादूर' में भी किसान धनराज को खेतों से बड़ा लगाव है और उसे वे धरती माता कहते हैं ।उनका कहना है कि "देखो बेटा, खेत चाहे चास लगा हो कि खाली, उसको साँझ–विहान नहीं तो कम से कम दिन में एक बार ज़रूर देखना चाहिए । खेत को रोज़ देखोगो तो पता चलेगा कि उसको किस चीज़ की ज़रूरत है । खेत सही सलामत है कि नहीं ।मान लो कोई अरिया दबा के आर ही छाँट ले तो तुमको कैसे पता चलेगा ? .....और सबसे बड़ी बात बेटा कि धरती माय है हमारी । माय जैसे दूध पिलाकर बच्चों को पोसती है, वैसे ही धरती माता भी अपने बच्चों का प्रतिपाल करती है । अब माय से बच्चा भला दूर कैसे रह सकता है ।इसलिए उसका नित दिन दर्शन करना, उसकी माटी को माथे से लगाना किसान का धरम है .....धरती माता के साथ इससे नेह बढ़ता है ।"[2] आज भी भारतीय किसान के लिए अपनी ज़मीन माँ जैसी ही है । इसे अपनी मिट्ठी से जुड़कर काम करते समय इतना घुलमिल जाता है कि सबकुछ पाने का आनंद मिल जाता है । इसलिए लाभ न मिलने पर भी किसान अपनी ज़मीन के उपेक्षा करने के लिए तैयार नहीं है । दोनों के साथ जो आत्मीय संबंध है उसे तोडना बहुत मुश्किल है ।'ज़मीन से रिश्ता' नामक कहानी में तो एक किसान और ज़मीन के साथ का संबंध किसप्रकार का है इसका सुन्दर वर्णन इन वाक्यों में दिया गया है – "गाँव की मिट्टी से जुडी उसकी नाल और दूसरी माय से जुडी एक अदृश्य नाल"[3], इसप्रकार किसान केलिए धरती में अपना जुड़ाव ज़मीन और माय के साथ है। दोनों जो प्रेम, ममता हमें दी जाती है वह अवर्णनीय है ।इसलिए अपनी खेती या ज़मीन पर होने वाले हरेक बदलाव उनके संबंध में वेदनापूर्ण है ।वह इतना प्यार करता है कि किसी भी धन–दौलत केलिए उसे छोड़ना नहीं चाहता ।

---

[1] महेश कटारे, गोद में गाँव, प्रतिरोध की कहानियाँ, पृ : 244

[2] देवेन्द्र सिंह, कंपनी बहादुर, प्रतिरोध की कहानियाँ, पृ : 245

[3] पराग मांदले, ज़मीन से रिश्ता, कथादेश 2012, पृ : 109

पशु-प्रेम

कृषि संबंधी साधनों में कृषकों के लिए एक हल, दो बैल आदि का होना बहुत ही महत्वपूर्ण बात है, क्योंकि बिना बैल–हल खेती नहीं हो सकती ।ये दोनों कृषि के आधार हैं ।गाय अगर उसके लिए माता है तो बैल उसके लिए बेटे के समान है, जिसके बिना उसकी कृषि का कार्य अधूरा रहता है ।सच्चा किसान धरती एवं पशु प्रेमी होता है । भारतीय कृषकों में कोई भी ऐसा न होगा, जिसे पशुओं के प्रति न हो । पशु के साथ कृषक जीवन का प्रगाढ़ संबंध है । बैल–गाय और मवेशी किसान के द्वारा भी शोभा है ।इनके द्वारा ही दूध, दही, मक्खन आदि जीवनोपयोगी चीजें पा सकता है ।इतना ही नहीं, कृषि केलिए उपयोगी खाद भी वह इन पशुओं से भी प्राप्त कर सकता है ।यही कारण है कि किसान जितना ध्यान अपने परिवार को सदस्यों का रखता है, उससे भी कहीं अधिक ध्यान अपने पशुओं का रखता है ।विद्यासागर नौटियाल की कहानी 'भैंस का कट्या' में इस पशु–प्रेम पूरी तरह झलकता है । कहानी में किसान हौंस्यारू, पत्नी और हौंस्यारू का आठ वर्ष का पुत्र गबलू आदि अपने भैंस को बच्चा होने की प्रतीक्षा में है ।गबलू सोचता कि भैंस को यदि नर बच्चा हुआ तो 'भुला'और मादा हुआ तो 'भुली' कहकर संबोधित करेगा ।उस परिवार के संबध में पैदाहोने वाला बच्चा गबलू का भाई या बहन है, उस परिवार के अंग हैं । इसलिए गबलू को अपना भाई भुलागज्जू के साथ अटूट प्यार था "गज्जू को वह भाई समझता था ।उसकी ख़ुशी में अपनी ख़ुशी और दुःख में अपना दुःख समझने लगा था । दोनों का रिश्ता भी काफी पक्का था । एक ही भैंस का दूध पीकर दोनों बड़े हुए थे ।दोनों ही बच्चे थे, गबलू अपनी जाति का बच्चा और गज्जू अपनी जाति का ।"[1] उस परिवार के लिए गज्जू जानवर ही नहीं था बल्कि गबलू का छोटा भाई है ।उसी प्रकार कैलाश बनपासी की कहानी 'बाज़ार में रामधन' में रामधन के लिए भी अपना बैल घर की इज्जत

---

[1] विद्यासागर नौटियाल, भैंस का कट्या, प्रतिरोध की कहानियाँ, पृ : 230

है और इससे बढ़कर पिता की धरोहर है ।इसलिए रामधन बार–बार अपने बैलों को बिकने से बचाने के लिए बाज़ार व्यवस्था के तंत्र को दूर ढकेलने की कोशिश करता है ।उनका कहना है – "अब कैसे समझाता इस बात को कि बैल हमारे घर की इज्जत है .....घर की शोभा है । और इससे बढ़कर हमारे पिता की धरोहर हैं । उस किसान का भी कोई मान है समाज में जिसके घर एक जोड़ी बैल नहीं हैं ।कैसे समझाता कि हमारे साथ रहते–रहते ये भी घर के सदस्य हो गए हैं ।"[1]

जीवन शैली एवं रहन-सहन

किसानी जीवनशैली परंपरागत होता है । यह उनकी संस्कृति की पहचान है । ये अपनी ही निजी दुनिया में यांत्रिकता एवं कृत्रिमता से कोसों दूर होते हैं । परिणामस्वरूप उसके जीवन में सरलता एवं स्वाभाविकता के दर्शन होते हैं । सबेरे से रात तक काम करके थके ये लोग खेती में समर्पित पूरा जीवन जीते हैं । इतना ही नहीं विपन्नता के बावजूद इन लोगो में संतोष है । अपनी झोंपड़ियों में परिवार एवं गाय, बैलों के साथ सरल जीवन बितानेवाले ये निरीह जनता की मित्र हैं हल, अनाज एवं खेत ।शैलेश मटियानी की कहानी 'पाप–मुक्ति' में एक छोटा सा किसान परिवार का चित्रण यों व्यक्त हुआ है कि "छोटा सा घर है । दो गोठ नीचे हैं । एक में भैंस रहती है, दूसरे में बैल ।ऊपर एक कमरा रसोई का है, एक बाहर का । और दिनों आनंदी, कुरी और किसनिया बहार के बड़े कमरे में सोते थे, ललिता अन्दर रसोईवाले कमरे में सोती थी ।"[2] वैसे ही 'कहीं दूर जब दिन ढल जाए' कहानी में बसोली गाँव में स्थित बुआ के घर का वर्णन इसप्रकार लेखक ने किया है – "जिस कमरे में बैठा था, वह 'चाख' कहलाता था ।उसी के भीतर का एक बड़ा कमरा बाकी तमाम कामों के लिए मुकर्रर था ।दक्षिणी कोना कुत्ते का था, जो दरअसल एक

---

[1] कैलाश बनपासी, बाज़ार में रामधन, पृ : 223

[2] शैलेश मटियानी, पाप–मुक्ति, पाप–मुक्ति तथा अन्य कहानियाँ, पृ : 109

भरा–पूरा 'स्टोर' था ।बाँस, निंगाल और गेहूँ के डंठलों से बने अनेक छोटे–बड़े टोकरे थे, जिनमें अनाज रखा गया था और इन्हीं के बीच कहीं कुत्ते ने अपने लिए जगह बना ली थी ।"[1] इस प्रकार निम्नस्तर पर जीवन बितानेवाली ग्रामीण जनता प्रातकाल से ही अपना दिनचर्या शुरू करती है ।हल–बैल को लेकर मर्द खेतीबारी में डूबते समय घर के अन्य सदस्य गाय–भैंस के लिए घास काटकर, जंगल में उसे चराने की वृत्ति में तल्लीन होते हैं ।घर के छोटे–छोटे बच्चे भी इससे अछूत नहीं हैं ।ग्रामांचल में वास करनेवाले सरल हृदय ग्राम्य जन किस प्रकार अपने दैनिक कार्यों का प्रारंभ करते हैं इसका आदर्श चित्रण शैलेश मटियानी की कहानी 'कुसुमी' में उपलब्ध है ।"कुसुमी को केशरसिंह के साथ ही खेतों पर डलिया फोड़ने, खाद फैलाने जाना है । दोपहर की रसोई के लिए चावल कूटने को कुसुमी उठी थी ।तब दिशा भी नहीं खुली थी । मशाल जलाकर धान कूटे थे उसने ।धान कूटने के बाद गाय–भैंस का दूध लगाकर और चाय पीकर गोठों की सफाई करते करते कुसुमी के माथे पर भोर की धूप उतर आई ।"[2] प्रातकाल की तैयारी के बाद कुसुमी और केशरसिंह दोनों अपने काम की तैयारी में हैं "केशरसिंह भी, खेत जोतने को जाने की तैयारी में, अपने हल–जुए को ठीक कर रहा था । घर के चबूतरे पर बैठा था ।कुसुमी गोठ की खाद एक डलिया में भर चुकी थी ।डलिया काफी भारी हो गई थी और कुसुमी उसे अपने सिर तक उठा नहीं पा रही थी ।"[3]'चिट्ठी के चार अक्षर' नामक कहानी में दुर्गा और उसके पिता के जीवन का चित्रण इस प्रकार है कि "खेती थोड़ी सी थी ।पीठ सहारे कोई भाई नहीं था ।बूढ़े पिता को अपने पेशे के लिए गाँव–गाँव डोलना पड़ता था । इसलिए दुर्गा को ही वन जाना पड़ता था ।नहीं तो उसके उम्र की सयानी छोरियाँ टोलियों में घास काटने वन भले ही

---

[1] बररोही, कही दूर जब दिन ढल जाए. पृ : 24

[2] शैलेश मटियानी, कुसुमी, पृ : 67

[3] शैलेश मटियानी, कुसुमी, पृ : 67

जाती हो, अकेली गाय–बकरियों को चराने नहीं जाती थी ।"[1] ग्रामीण या किसानी जीवन में बच्चे छोटी उम्र से ही परंपरा से जुड़कर जीना चाहते हैं।किंतु वर्तमान पीढ़ी किसान एवं किसानी संस्कृति या गंवारू कहने को शरम की बात समझती है ।बेरोज़गार होने पर भी ज़मीन की ओर मुड़ने से वे तत्पर नहीं हैं । पंकज बिष्ट की कहानी 'हल' में शिबिया एक ऐसा लडका है कि वह भागुली का पहला बच्चा ही नहीं था, जाने–अनजाने परिवार का मुखिया भी हो गया था ।"दो साल पहले शिबिया ने मामा उम्मीदसिंह से हल बाहना सीखा था और तब सब–कुछ खेल–खेल में ही हो गया था ।उसी दिन शिबिया ने मुश्किल से किसी तरह दो–तीन चीरे मारे थे और शाम तक उसके छोटे–छोटे हाथों में डंफू जैसे छाले पड़ गए थे पर अगले साल जब वह भागुली का हल का काम निबटाने आया था तो अगली सुबह शिबिया उसके उठने से पहले ही बैल लेकर निकल चुका था और जब वह पहुँचा, आधा खेत बाह चुका था ।उसने दूर से ही देखा पतला–दुबला मरियल–सा लड़का जिसका कद उठ नहीं पा रहा था, बैलों की तो बात रही दूर हल के मूठ के पीछे ही छिप गया था, फिर भी न जाने कैसे और कब, बैल साधना सीख गया था ।"[2] वैसे भी एक किसान दिन–रात परिश्रम कर, जाड़े की ठंड और गर्मी के ताप में झुलसकर फसलों को खड़ा करने की लड़ाई लड़ता है, यूँ कहा जाए कि उसका पूरा जीवन ही ऋतुओं से संघर्ष है ।ये लोग बचपन में ही अपने बच्चे को इसलिए खेती या अन्य कामों में जुड़ाते हैं कि अबसे सीखने लगेगा तो कुछ साल बाद ठीक से जीवन चलाने को सक्षम हो जाएगा ।'भैंस का कट्या' शीर्षक कहानी में भी आठ वर्ष का गबलू दिन भर किसी न किसी काम में व्यस्त है – "उठते ही उसे गाय दे दी जाती थी, जिसे लेकर वह चराने चला जाता । यदि कभी देने में देरी हुई तो माँ–बाप उसे और काम दे देते थे, जैसे किसी डोम को बुला लाना, पंडित के घर जाकर पूर्णमासी के दिन का पता लगाना, किसी के घर उधार आटा वापस कर आना

---

[1]शैलेश मटियानी, चिट्ठी के चार अक्षर, पापमुक्ति तथा अन्य कहानियाँ, पृ : 113

[2] विद्यासागर नौटियाल, भैंस का कट्या, पृ : 231

और किसी पड़ोसी का कोई बर्तन लौटा आना । गबलू जानता था कि उठते ही उसे रात तक में व्यस्त रहना पड़ेगा इसलिए वह भरसक देर से ही उठता था ।"[1] कहा जा सकता है कि जैसे बचपन में बालक माँ पर निर्भर होता है उसी प्रकार भारतीय किसान अपनी भूख–प्यास को भूलकर खेती में विलीन होता है । वह अपना स्वत्व भी ज़मीन के लिए भूल जाता है ।

लोक कला

किसी भी देश की संस्कृति का मूलाधार उस देश की लोक संस्कृति है । लोक–संस्कृति की स्पष्ट झलक उस देश के लोक जीवन और लोक कलाओं में मिलती है । लोक कलाओं का सीधा संबंध लोक–जीवन और लोक संस्कृति से होता है और यही कारण है कि किसी भी प्रदेश की जनता के जीवन और संस्कृति की स्पष्ट झलक वहाँ की लोक कथाओं में मिलती है ।वर्तमान हिंदी कहानियों में पंकज बिष्ट की 'हल' तथाकृष्णा अग्निहोत्री की 'सर्पदंश' नामक कहानियों में 'रामलीला' तथा 'कूडियाट्टम' का जिक्र किया है ।

केरल के मंदिरों में त्योहारों के अवसर पर प्रदर्शित एक गीत नृत्य प्रधान लोकनाट्य रूप है – 'कूडियाट्टम' ।केरल की संस्कृति की अपनी विशेषताएं हैं, जो उसकी लोक कलाओं में स्पष्ट दर्शित होती हैं ।कूडियाट्टम का शाब्दिक अर्थ है 'संघ नाट्य' अथवा अभिनय ।इसमें अभिनय को प्राधान्य दिया जाता है ।जिसे चाक्यार और नंपियार समुदाय के लोग प्रस्तुत करते हैं । नाट्यशास्त्र में बतायी गयी अभिनय की चार रीतियों को अपनाते हुए, हस्तमुद्राओं का प्रयोग करते हुए कलाकार नाट्य प्रस्तुति करती है ।

उत्तरी भारत में परंपरागत रूप से खेले जाने वाले राम के चरित पर आधारित नाट्य रूप है रामलीला । प्रस्तुत होनेवाली रामकथा की सभी

---

[1] पंकजबिष्ट, हल, प्रतिरोध की कहानियाँ, पृ : 205

शैलियों में उस क्षेत्र विशेष के परिवेश को खूबसूरती से उतारा गया है ।इनके संगीत अभिनय और नृत्य का हिस्सा बनकर वह सिर्फ भक्ति ही नहीं जगाती, लोकरंजन के साथ–साथ यहाँ की पुरातन संस्कृति की संदेशवाहक भी है ।केरल के कूडियाट्टम के ज़रिए भी रामकथा को पेश किया जाता है ।अपनी अपनी शैलियों और गीतों के माध्यम से रामकथा के लोकप्रिय स्वरूप को जीवित रखा गया है ।

लोकगीत

लोकगीत लोक संस्कृति का अभिन्न अंग है लोकगीतों में लोक की सहज अनुभूति परिलक्षित होती है ।इसकी उत्पत्ति किसी एक व्यक्ति वेशेष की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति से नहीं होती बल्कि यह तो लोक जीवन के हृदय की सामान्य अनुभूतियों के परिणाम स्वरूप होती है ।भावनात्मकता, संगीतात्मकता, सरलता एवं गेयता लोकगीतों की खासियत हैं ।अतः कहा जा सकता हैं कि लोकगीत मानव हृदय के सहज उद्गार हैं जो वह सुख में उल्लासित होकर, दुःख में दुखी होकर समय–समय पर अभिव्यक्त किया गया है ।इन गीतों की परंपरा मौखिक होती है । यह समाज की अमूल्य एवं अनुपम निधि है ।ओमप्रकाश गर्ग कहते हैं, “लोकगीत लोकमानस के आत्मानंद की कष्ट एवं पीडाओं की, सुखों–दुखों की, समस्याओं, कठिनाइयों की, परस्पर सहयोग–साहचर्य की युगों–युगों की भुगर्त और झेली हुई अनुभवजन्य अभिव्यक्तियाँ हैं ।अतः उनकी आस्था है कि मानव हृदय की विविध अनुभूतियों की गेय अभिव्यक्ति ही लोकगीत है जो अतिप्राचीन काल से ही अपना स्रोत प्रवाहित किए हुए हैं ।”[1] लोकगीतों के संबंध में लक्ष्मीकांत वर्मा का कथन भी द्रष्टव्य है, “वे खेतों में, झिलमिलाती धूप में, भीगते हुए वर्षा में, ठिठुरते हुए जाड़ों में गाँवों की चौपालों और सुलगते हुए कौडों के चारों ओर जमे हुए समूह द्वारा निर्मित हुआ है जिनमें सबकी अनुभूतियाँ हैं और सभी की अभिव्यक्तियाँ हैं

[1] लक्ष्मीकांत वर्मा, लोकसंस्कृति विशेषांक, पृ : 98

।समाज और लोक के प्रति दृढ़ विश्वास ही लोकगीतों की चेतन शक्ति है ।इसमें पीड़ा की अभिव्यक्ति है किन्तु जनसाधारण में बैठी सांस्कृतिक चेतना में कहीं भी, किसी भी परिस्थिति में द्रोह अथवा गद्दारी नहीं है ।"[1]

आज की हिंदी कहानियों में लोक संस्कृति तथा लोकजीवन के साथ लोकगीतों का काफी मात्रा में प्रयोग हुआ है ।शैलेश मटियानी की 'कुसुमी' में श्रम परिहार के तौर पर गानेवाले गीत का जिक्र हुआ है –"चल सुसरी, तेरा यार मर जावे, जिसका सुमिरन करती हुई तू बेर–बेर सड़क में खड़ी हो जाती है टूटे–टूटे अरे, जोबन को दिन तेरो जाण लाग्यो....."[2]

लोकभाषा

मनुष्य भाषा का व्यवहार करता है ।अथवा भाषा विचारों के संप्रेषण की अद्‌भुत कला है ।सिर्फ अपने विचारों को व्यक्त करने तक सीमित नहीं है भाषा । वह अपने में स्थान विशेष की पूरी संस्कृति को समेटी हुई है ।खान–पान, कला, संस्कृति आदि को अभिव्यक्त करने का माध्यम भाषा है ।भाषा जीवित है तो उस क्षेत्र की सभ्यता और संस्कृति भी जीवित है ।भाषा और संस्कृति का गहरा संबंध होने के कारण भाषा एवं संस्कृति का उत्थान, समृद्दी तथा उन्नति एक दूसरे पर अवलंबित होती है । किसी भी समाज के नैतिक मूल्यों का संवाहन भी भाषा करती है ।

लोक भाषा हर क्षेत्र की पहचान होती है, एक दूसरे के साथ वार्तालाप का प्रभावपूर्ण माध्यम होती है । स्थानीय भाषा के शब्द, लोकप्रचलित रूप, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, आदि के कारण लोकभाषा का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व उभरता है । डॉ. जगदंबा प्रसाद यादव कहता है – "प्रत्येक भाषा का अपना समाज होता है, जिसमें वह व्यवहुत होती है । समाज है तो उसकी

---

[1] सं.रामनाथ सुमन, लोक संस्कृति विशेषांक, पृ : 263

[2] शैलेश मटियानी, कुसुमी, पापमुक्ति तथा अन्य कहानियाँ, पृ : 26

संस्कृति भी है ।भाषा और संस्कृति साथ–साथ जन्मती है, साथ–साथ पनपती है और साथ–साथ उदात्तता की प्राप्त होती है । दोनों एक दूसरे की अभिन्न हैं, अन्योन्याश्रित हैं, एक दूसरे की परिचायक है ।"[1] लोक साहित्यकार साहित्य में सामान्य जनजीवन को ही वाणी देता है । इसलिए उसकी कहानी सर्वसाधारण जनता के जीवन सरोकर से जुड़कर ही अस्तित्व प्राप्त करती है । अतः सामान्य जन के जीवन परिदृश्यों को, उनकी संस्कृति को उकेरने के लिए उन्होंने उसी की मनोभूमि पर उतरकर उनकी भाषा, बोलचाल को अपनी कहानी का माध्यम बनाया है ।उनकी भाषागत सजगता ने उनकी कहानी को शक्ति और आकर्षण प्रदान किया है ।

सामान्य जनता की भाषा होने से, कृत्रिमता से दूर सहज स्वाभाविक बोलचाल की भाषा को स्वीकार किया गया है जिसमें संस्कृत के तत्सम, तद्भव शब्दों से लेकर ग्रामीण एवं बोलचाल के शब्द भी है । जैसे कि – तद्भव शब्द – चुटैया, नेह, गीत, जोत, धुन, किरन, दिन, चादर, मौसम, कन–कन, सबेर, नस, जहान, आदि देशज शब्द – चिडचिडी, दुपहरिया, कट्या, हुवैगे, हुवैई आदि शब्दों का प्रयोग किया है ।

लोकोक्ति – लोकोक्ति का अर्थ है लोक में प्रचलित कथन । लोकोक्ति जन–जीवन के द्वरा अनुभव के आधार पर बनाई गयी धारणाओं को संक्षिप्त शब्दों में जब किसी उक्ति के रूप में कहा जाता है तो वह 'लोकोक्ति' कहलाती है ।गाँव, किसान संस्कृति को केंद्र में लेकर लिखी गयी कहानियों में लोकोक्तियों का प्रयोग अधिक देखा जा सकता है ।जैसे कि – "ससुरी बिजली

---

[1] जगदंबा प्रसाद यादव,

आठ–आठ रोज़ के लिए मायके चली जाती है ।"[1] "जब घोडा ही गायब हो गया तो काठी–जीन कौन सहेजे ?"[2]

इक्कीसवीं सदी की कहानियों में आदिवासी संस्कृति

आदिवासी शब्द दो शब्दों आदि और वासी से मिलकर बना है ।आदि का शाब्दिक अर्थ प्रारंभ या शुरू होता है एवं वासी का अर्थ निवास करनेवाला माना जाता है, अर्थात जो प्रारंभ या शुरू से निवास करता हो, जिसका अर्थ मूलवासी या मूल निवासी मानते हैं । भारत में आर्यों के आगमन के साथ ही अनार्यों का भी उल्लेख आता है । वस्तुतः यही अनार्य अर्थात 'दूसरे लोग' आदिवासी या मूलवासी हुए, जिन्हें प्राचीन ग्रंथों में भील, कोल, किरात, निषाद इत्यादि नामों से अभिहित किया गया है इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमी के तथ्यात्मक आधार की पुष्टि अंग्रेजों के प्रवेश और उनके द्वारा दी गयी संज्ञा 'नेटिव' या 'ट्राइब' के रूप में मिलती है । यह शब्द भारतीय संविधान की उत्पत्ति के उपरांत 'जनजाति' के रूप में प्रचलित हो गया ।जबकि गाँधीजी ने इन्हें गिरिजन नाम से पुकारा है जिसका अर्थ है पहाड़ पर रहनेवाले लोग ।अतः यह स्पष्ट है कि 'आदिवासी' शब्द की विभिन्न तरीके से व्याख्या की जा रही है । किन्तु आदिवासी शब्द अपने आप में पूर्ण है जो अपने अर्थ की स्वयं व्यक्त करता है देश का प्राचीनतम, आदिम या मूलनिवासी आदिवासी अपनी भाषायी विशेषता, संस्कृति एवं प्रकृति आधारित धर्म के कारण समाज की मुख्यधारा से अलग होता है । भारत के प्रमुख आदिवासी समुदायों में संथाल, गोंड, मुंडा, मीणा, भील, उरांव, सहरिया आदि है । इस प्रकार आदिवासी कहने से "ऐसे

---

[1] महेश कटारे, कुआँ, पृ : 11

[2] महेश कटारे, कुआँ, पृ : 12

परिवार या समूह का बोध होता है, जिनकी स्व की भाषा, संस्कृति, एक सुनिश्चित भू–भाग होता है, जिसमें वे परंपरागत विधि–विधानों से परिपूर्ण स्वतंत्र सुरक्षात्मक संगठन के ज़रिए अपने समाज का संचालन करने में समर्थ होते है ।"[1] इनकी अपनी एक अलग संस्कृति, कला एवं भाषा होती है जो भारतीय इतिहास में अलग पहचान है ।

गिलिन एंड गिलिन, जो प्रसिद्द समाजशास्त्री विद्वान है उन्होंने अपनी पुस्तक 'कल्चरल एन्थोपोलाजी' में आदिवासियों को परिभाषित करते हुए लिखा है कि – "स्थानीय जनजातीय समूहों का ऐसा समुदाय जनजाति कहलाता है जो एक सामान्य क्षेत्र में निवास करता है, एक सामान्य भाषा का प्रयोग करता है तथा जिसकी एक सामान्य संस्कृति होती है ।"[2] दूसरे विद्वान विलियम पी स्कॉट के अनुसार, "समान भाषा और संस्कृति वाला ऐसा समूह जिनका अपना विशिष्ट भू–प्रदेश व्याप्त हो और जो अशिक्षित और अपनी परंपरा से जुड़े हुए हो, उन्हें आदिवासी कहना चाहिए ।"[3]

मनुष्य मात्र का मूल आदि–वनवासी है । जिनका जीवन प्रकृतिमय है । जंगलों और पहाड़ों में वे अपना जीवन बिताते हैं । उनकी अपनी स्वनिर्मित एक अनूठी संस्कृति है ।भारत के मूल निवासियों के रूप में पहचाने जानेवाले आदिवासी कई नामों से जाने जाते हैं ।

विश्व की विभिन्न जनजातीय संस्कृतियों में सबसे प्राचीन संस्कृति है आदिवासी संस्कृति । विश्व की सभी संस्कृतियों का जन्म इतिहास के धुंधलके में आदिवासी समाज में हुआ है ।अतः आदिवासी समाज सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध रहा है ।उनका अपना एक इतिहास है, संस्कृति है, सभ्यता है ।आदिवासी समाज अपनी "सांस्कृतिक धरोहर को तो अपने–आप में ही सँजोकर रखे हुए

---

[1] उपाध्याय विजय शेकर, भारत की जनजातीय संस्कृति, पृ : 1

[2] प्रो.मधुसुधन त्रिपाठी, भारत के आदिवासी, पृ : 1

[3] डॉ. दा.बो.काचोले, आदिवासी समाजशास्त्र, पृ " 11

हैं ।उसकी सुरक्षा भी कर रहे हैं, क्योंकि वह उनके जीवन का हिस्सा है । उसके बिना वे अपने–आप को जीवित भी नहीं मान सकते । उनकी जो सांस्कृतिक धरोहर है – उनकी पोशाक है, उनके पर्व–त्यौहार, प्राकृतिक पूजा करने की जो परंपरा है, उनके नृत्य हैं, उनके गीत हैं, विशिष्ट वाचिक परंपरा है, आदि तमाम पहलू हैं, उनके बिना उनका जीवन अधूरा है ..... नृत्य और गायन जिसमें उनका जीवन एक लय में बँधा हुआ है, उनका वही संरक्षक है ।"[1]उनका जीवन ख़ुशी हो या किन्ही संकटों पर जूझने पर भी इनकी जीवंतता और सहजता इनकी सांस्कृतिक परंपरा में देखते ही बनती है । "जंगलों, पर्वतों में कठिन परिस्थितियों में निवास करना, शिकार, खेती एवं छोटे–मोटे धंधे कर किसी तरह जीवन–यापन करना, अशिक्षा, कुपोषण, नशाखोरी, जुआ, अंधविश्वासों, तरह–तरह की बीमारियों, पीड़ाओं को झेलते रहने के बावजूद खिलखिलाकर हँसना, नाचना, गीत गाना इत्यादि, संक्षेप में यही जीवन एवं संस्कृति है ।"[2] किंतु आज यही समृद्ध संस्कृति खतरे में है । वैश्वीकरण और उदारीकरण ने मूलभूत सुविधाओं के नाम पर विकास की जो योजनाएँ शुरू की हैं, उनसे सर्वाधिक प्रभावित यह आदिवासी वर्ग ही हुआ है ।"आज आदिवासी को जोर–जबरदस्ती मजबूर करके विस्थापित किया जा रहा है ।उसका ये विस्थापन और पलायन उसकी संस्कृति को नष्ट कर रहा है ।आज आदिवासियों के विस्थापन और विध्वंस पर बाकी देश विकसित हो रहा है ।उस विकास का कोई लाभ, आदिवासी को नहीं मिल रहा वह चाहे बिजली हो या पानी, सिंचाई हो या सड़क की व्यवस्था ।विध्वंस की कीमत पर विकास किस काम का ?"[3] विकास के नाम पर विस्थापित कर जंगल, जल और ज़मीन तीनों से वंचित कर उसे जंगलों से खदेड़ा जा रहा है ।दरअसल आदिवासी संस्कृति या उनकी जीवनशैली किसी से घृणा करना नहीं सिखाती वह प्रकृति और पूर्वजों का

---

[1] डॉ.जनक सिंह मीना (सं), भारत के आदिवासी चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ, पृ : 94

[2] रमणिका गुप्ता (सं), युद्धरत आम आदमी, अंक 104, जुलाई–सितंबर 2010, पृ : 76

[3] उषा कीर्ति राणावत, आदिवासी केन्द्रित हिंदी साहित्य, पृ : 39

आदर करना ही सिखाती है । उनकी संस्कृति दूसरों की आस्थाओं को भी उतना ही आदर देता है जितनी अपनी अपनी आस्था का ।वह किसी भी कोण से कट्टर नहीं है । अस्तित्व, अस्मिता और आत्मसम्मान उनके लिए अनिवार्य है । अस्मिता की रक्षा के लिए उनकी भाषा और संस्कृति का ज़िंदा रहना ज़रूरी है, तो अस्तित्व के लिए ज़रूरी है जल, जंगल, ज़मीन का होना । जल, जंगल–ज़मीन विहीन आदिवासी की कल्पना करना ही असंभव है । जहाँ भी वे रहते हैं, समूहों में रहकर सामूहिक ज़िन्दगी बिताते हैं ।उसका समाज अपने सदस्यों की आचारसंहिता बनाता है, जो उनकी जीवनशैली होती है । अतः आदिवासी जीवनशैली में मनुष्य और प्रकृति तथा उसके जीव–जंतु साथ–साथ जीते हैं, साथ–साथ कष्ट झेलते हैं, हँसते गाते हैं, रोते हैं ।रमणिका गुप्ता के अनुसार – "आदिवासियों की गति में नृत्य है – वाणी में गीत । जब वह चलता है तो थिरकता है और जब वह बोलता है तो गीत के स्वर फूटते हैं ।वह अकेला नहीं, समूह में रहता है समूह में सोचता है, समूह में जीता है ।दरअसल आदिवासी अपने श्रम के बल पर सदैव आत्मनिर्भर और स्वावलंबी रहा है ।वह प्रकृति से संवाद करता चलता है, उसका सहयात्री है, उसको गाय की तरह वह पोसता और दुहता है । उसे कब्जे में लाने का कभी भी उसका लक्ष्य नहीं रहा । प्रकृति के प्रकोप को वह सकता है, सहता रहा है और रोकता भी रहा है ।"[1] यह भी कहना चाहिए कि परिश्रम, समूहगत परस्पर सहकार्य आदि से युक्त आदिवासी संस्कृति वह जीवन प्रणाली है जो समता, बंधुता, मानवता, प्रेम तथा विश्वास आदि से परिपूर्ण है ।खान–पान, जन्म–मृत्यु, विवाह व्यवहार, त्यौहार, देवी–देवताओं की पूजा, पंचायती व्यवहार तथा आचार–विचार आदि में आदिवासियों का जीवनदर्शन झलकता है ।जो मानवता, प्रेम तथा विश्वास आदि से परिपूर्ण है । उनकी सोच के दायरे में धर्म की कोई अवधारणा नहीं है इसलिए उनका कोई शास्त्र और धर्मग्रन्थ भी नहीं है । उनकी सोच में उनकी

---

[1] रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्तर और नई शताब्दी, पृ : 9

पूर्वज ही उनकी बोंगा यानी देवता है यही उनकी संरक्षक और विरासत भी है । "उनकी सोच के दायरे में धर्म की कोई कॉन्सेप्ट ही नहीं है ।उनकी कुछ आस्थाएँ है या विश्वास और है अपनी एक जीवनशैली चूँकि धर्म कहकर अलग से कोई अवधारणा नहीं है, इसलिए उनका कोई शास्त्र नहीं है, न ही कोई धर्मग्रंथ ईश्वर की भी कोई अवधारणा नहीं है, इसलिए ईश्वर नामक किसी इतर शक्ति का कोई केंद्र नहीं है, मंदिर नहीं है, मूरत नहीं है ।उनकी सोच में उनका पूर्वज हो उनकी बोंगा है और बोंगा ही उनकी विरासत और संरक्षक भी ।"[1]

इस प्रकार आदिवासी समाज की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति है यही उनकी पहचान है ।

आज की हिंदी कहानियों में आदिवासी संस्कृति का दायरा बहुत विशाल है । उसमें प्रकृति प्रेम, उनकी विशिष्ट खान–पान, वेशभूषा, परंपरा, भाषा आदि सबकुछ है । जहाँ भोगवादी संस्कृति आदिवासी संस्कृति को विकृत कर उनके अस्तित्व को नकारने का तथा उनको जड़ से मिटाने की कदम उठा रही है वहाँ साहित्य के माध्यम से उसकी प्रतिक्रिया करने लगा है । उनकी समस्याएँ और संस्कृति को विशिष्ट स्थान देकर अब साहित्य में दर्ज होने लगी हैं । वह जंगल, ज़मीन, वहाँ की संस्कृति को बचाकर उन्हें भी मुख्यधारा की ओर लाना चाहती है ।क्योंकि बहुस्वरता भारतीय संस्कृति का मूल तत्व है । इसमें प्रत्येक इकाई तथा उनकी संस्कृति का अपना स्थान है । इस तथ्य को लेकर कामकरनेवाले कहानिकारों में रोज केरकेट्टा, पीटर पोल एक्का, ज्योति लकड़ा, गंगा सहास मीणा, कृष्णमोहन सिंह मुंडा, राजेन्द्र मुंडा आदि प्रमुख है ।

आदिवासी संस्कृति में प्रकृति

[1] डॉ. जनक सिंह मीना (सं), भारत के आदिवासी चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ, पृ : 136

आदिवासी संस्कृति में प्रकृति प्रमुख तत्व है, जिसके साथ मनुष्य जीता, पलता, बढ़ता है और फिर खतम हो जाता है । वे प्रकृति के सगे हैं ।प्रकृति के साथ उसमें रहनेवाले जीवजंतुओं का भी वे संरक्षण करते हैं । रमणिका गुप्ता के अनुसार – "आदिवासी जीवनशैली में मनुष्य और प्रकृति तथा उसके जीवजन्तु साथ–साथ जीते हैं, साथ–साथ कष्ट झेलते हैं, गाते रोते बिसूरते हैं ।"[1] अलग–अलग आदिवासी समूहों की अलग–अलग भूखंडों में अलग–अलग आस्थाएँ हैं एक तंतु जो सबसे समान है, वह है प्रकृति में आस्था और उसके साथ एक सहयात्री या सहभागी का सामूहिक जीवन शैली, समानता, आज़ादी और भाईचारा । इनका यह दृढ़ विश्वास है कि प्रकृति इन्हें पालती–पोसती है, जिसकी रक्षा करना इसलिए ये अपना कर्तव्य मानते हैं । वे प्रकृति से इतना सराबोर है कि इन्होंने प्रकृति को ही अपना परमेश्वर मानकर समर्पित हो जाते हैं ।प्रकृति की गोद में स्वच्छंद निवास करना और उसी से अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति करना ही इनके जीवन का आधार है ।अतः जल, जंगल और ज़मीन ही आदिवासियों के जीवन आधार रहे हैं।उन्हें आधुनिक जीवन पसंद नहीं है ।इसलिए वे आज भी आधुनिक सभ्यता से दूर अपने वनों – घाटियों, नदी–नालों, पशु–पक्षियों, देवी–देवताओं तथा रूढियों और संस्कारों से जुडी हुई आदिम संस्कृति में जी रहे हैं ।इसलिए इन्हें वनवासी नामक संबोधन भी कर रहे हैं । अर्थात मानव और प्रकृति का दृढ़ संबंध इस संस्कृति का मूल आधार है । इसलिए आदिवासी कहानियों में प्रकृति हमेशा प्रमुख विषय के रूप में आ जाती है । प्रकृति की ओर जाकर ख़ुशी का अनुभव करनेवाले अनेक पात्र कहानियों में है ।प्रकृति को फल, फूल, पक्षियों की तरह वे भी घूमते–नाचते–चिल्लाते अपना जीवन बिताते हैं । अतः प्रकृति एवं मानव जीवन में अटूट संबंध है, देखिए "रोपनी चावल–साग सब उबालकर रख देती । फिर निकल जाती घर से दूर बरगद और जामून, आम और बड़हर की खोज में ।

---

[1] रमणिका गुप्ता, आदिवासी अस्मिता का संकट, पृ : 86

वन में काली हिरनी सी छलांग लगाती फिरती या कोयल की तरह कूकती रहती । ये उसके सुख के दिन थे ।"[1] वैसे ही प्राकृतिक सौन्दर्य का एक अनोखी चित्रण भी इन कहानियों में देख सकते हैं ।जैसे कि "सालों बढ़नी गाँव घने जंगलों से घिरा है ।यहाँ साल, महुआ, केंदू, पियार, सानन, गंभार के ऊँचे–ऊँचे वृक्ष हैं, तो धरती पर बन्दों, केंवटी, जैसी असंख्य लताएँ पेड़ों की डालियों को झुकाती, हवा से बातें करती रहती हैं ।"[2]

खान-पान

आदिवासी जंगल में रहनेवाला है, इसलिए भोजन के रूप में वे वनोपज तथा कृषि पर निर्भर रहते हैं । जो उनकी संस्कृति की ख़ास पहचान है । भारत के कई प्रांतों के आदिवासी लोग सुअर, बकरी, मुर्गियाँ, मछलियाँ, चिड़ियाँ आदि पशु–पक्षियों का मांस खाते हैं तो कई भागों में दाल, हरी–सब्जी, चावल से जीविका बितानेवाले भी है ।कुछ जनजातियाँ अब भी कंदमूल खाकर गुजर करती हैं ।पहाड़ी इलाकों में वे पशु–पालन कर बिताते हैं । जब जितना मिल गया, उसी पर पूरे परिवार के लोग अपनी भूख मिटाते हैं ।हर त्यौहार के अवसर पर वे मुर्गियों, बकरों का मांसाहार करते हैं । ये लोग मदिरा पान भी करते हैं ।जिसका प्रयोग मुख्य रूप से त्योहारों एवं उत्सवों के अवसर पर बहुतायत में किया जाता है । यह भी नहीं छोटी उम्र से ही लड़के शराब पीकर धूम्रपान आरंभ कर देते हैं । पौधों की जड़ें तथा पत्ती उबालकर भी खाते हैं । आजकल वनों की कटाई से इन्हें नित्य भोजन के लिए दूर–दूर जंगलों में घूमना पड़ता है । 'रोज केरकेट्टा' की 'फिक्स्ड डिपोजिट', ज्योति लकड़ा की 'कोराईन डूबा', और लक्ष्मण गायकवाड की कहानी 'बंदुक्या' में आदिवासी समुदाय के भोजन संबंधित विवरण का जिक्र है जिसमें उड़द की डाल, पके फल, साग–

---

[1] रोज केरेकट्टा, घाना लोहार का, पृ : 38

[2] ज्योति लकडा, कोराईन डूबा, लोकप्रिय आदिवासी कहानियाँ, पृ : 122

सब्जी, केलवा, का भी उल्लेख किया गया है ।दूसरे संदर्भ में कबूतर को शिकार करते हुए भोजन करनेवाले पात्र को भी चित्रित किया गया है ।

वेश-भूषा

आदिवासियों की वेशभूषा अपनी निजी पहचान रखती है ।वे परंपरा और प्राकृतिक आवश्यकता के रूप में इसी का प्रयोग करते हैं । इसलिए अधिकतर आदिवासी जनजाति का वस्त्रधारण साधारण होता है ।इनके वस्त्र धारण की विशिष्ट पद्धति के साथ–साथ इनके आभूषण भी सभ्य समाज से भिन्न होते हैं।गरीबी होने के कारण इनके आभूषण अधिकांश चाँदी से निर्मित होते हैं ।अधिक चाँदी के जेवर जिसके पास होती हैं वह उनकी प्रतिष्ठा का आधार मानी जाती है ।आदिवासी महिलाएँ आभूषणों के अतिरिक्त शरीर को अलंकृत करने के लिए उस पर कलात्मक चित्र बनवाती हैं । कानों में झुमके, कर्णफूल एवं लटकन आदि अधिकतर आदिवासी युवतियाँ पहनती है । गोंड जनजाति की कुँआरी का चित्रण यों किया है – "15–16 वर्ष की चंचल चित्त कोरवा सुंदरी । अंग–प्रत्यंग गोदना से अलंकृत । मोटे–चौड़े होंठ, कजरी आँखे, गले में लाल काले धागों से बँधे चाँदी के सिक्कों की माला, बागे लारछा केश, बीच माँग तथा दोनों कनपटी के ठीक ऊपर दर्जनों किलिप गूँजे हुए । कानों में बिडयो, हाथों में लाल–लाल चूड़ियाँ ।घुटनों तक नीली मंजूर पाड साडी । जब वह हँसती तो, गदराए मकई के दोनों जैसे कतारबद्ध दांत दूर से ही दिखाई देते ।"[1] किन्हीं विशेष सन्दर्भों में मर्दों की वेशभूषा भी विशेष है ।"सहजू झटपट खाकर अखाड़ा जाने की तैयारी करने लगता । सबसे पहले वह धोती कसता, इसके बाद कमर में हड्खर बाँधने के लिए बड़े वाले घूँघरों से गूँथे चमड़े के पट्टे लेकर पूरे पूठे को ढक उसी रस्सी से कमर कसता । इसके बाद डांग से आधा दर्जन पैइजन उतार चटाई पर बैठ दोनों पैरों में तीन–तीन पईजन पहन, दोनों पाँव में घूँघर बाँधकर उठता और दीवार पर टँगे मोर पंखों

[1] ज्योति लकड़ा, कोराईन डूबा, पृ : 120

से बने झाल पेटी को अपनी पीठ पर सजाकर उसकी रस्सी को छाती से नीचे बाँधता और बाकी दो छोरों को दोनों हाथों की उँगलियाँ में फँसाकर झांपी से नया पच गजा धोती निकाल सर में लहरदार मुरेठा बाँधता ।"[1]

आदिवासियों का धंधा

अधिकतर आदिवासी समुदायों का निवास जंगल एवं पहाड़ों में होने के कारण जंगल एवं पहाड़ी खेती ही उनकी उपजीविका का साधन है ।खेतीबाड़ी के अतिरिक्त जनजातियाँ जंगली वस्तुएँ एकत्रित करके बिक्री करके परिवार का भरण पोषण करते थे ।वहाँ से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ बदलकर ले आते हैं । "भालूबासा और राजाबासा गाँव की स्त्रियाँ, किशोरियाँ और एक दो छोटी बच्चियाँ बड़े सबेरे दातुन–पत्ता, दोना–पत्तल लेकर चंद्रिकापुर स्टेशन पहुँचती हैं ।वहाँ से ट्रेन में चढ़कर दूसरे शहरों में जाती हैं । वहाँ दातुन–पत्ता और दोना–पत्तल बेचती हैं ।दोनों गाँव की स्त्रियों में हमपेशा होने के कारण दोस्ताना संबन्ध है । लौटती ट्रेन से वे सब अपने गाँव लौट जाती हैं ।"[2] रोजकेरकेट्टा की और एक कहानी 'रामोणी' में भी हाट–बाजार का चित्रण मिलता है – "पहाड़ियों से भरे घने जंगलों के बीच छोटे–छोटे गाँव बसे थे । तीस–पैंतीस किलोमीटर दूर हाट लगता ।वहाँ झुंड में लोग जाते, सामान बेचते और ज़रूरत का सामान मोल लेते । अनाज, तिलहन और बैल–बकरी–मुरगा और उम्दा वनोपज बेचते । बदले में नमक, किरासन तेल, खैनी, गुडाखु और थोडा हल्दी–मसाला खरीदते ।"[3] आदिवासी में कुछ श्रेष्ठ जाति के लोग पशु भी पालते हैं । अपनी खेती में बाजरा, गेहूँ, मूँगफली, मकई, शकरकंद आदि फसलों को उपजाते हैं "पिता ने तो दो दिनों तक खेत का काम ही बंद रखा । बल्कि शकरकंद खोदने का नया काम शुरू किया, जिससे सारे परिवार

---

[1] ज्योति लकड़ा, कोराईन डूबा, पृ : 120

[2] रोज केरकेट्टा, प्रतिरोध, बिरुवार गमछा तथा अन्य कहानियाँ, पृ : 24

[3] रोज केरकेट्टा, रामोणी, बिरुवार गमछा तथा अन्य कहानियाँ, पृ :135

को एक जगह रहने का अवसर मिला । भाई ने शकरकंद के दारों(मेड़ों) को जल्दी–जल्दी खोद दिया ।ससुर पंचम और दामाद एकाध शकरकंद तोड़ते, पूरे साल भर के बाद जो मिले हैं ।"[1] झारखंड की आदिवासी जनता की पृष्ठभूमि पर आधारित 'अमावास की रात में भगजोगनी' शीर्षक रूपलाल बेदिया की कहानी में वहाँ के धंधे के संबंध में लिखते हैं–"सिंचाई की सुविधा नहीं होने के चलते रबी की फसल नहीं हो पाती थी ।इस कारण खेतों में काम नहीं मिल पाता था । हम जैसों के घरों में चैत चढ़ते–चढ़ते खाने के लाले पड़ने लगते थे ।ऐसी स्थिति में जंगल ही एकमात्र ज़रिया था । माँ–बाबा के साथ मैं भी जंगल से सूखी लकड़ियाँ लाती और दूसरे दिन तीन कोस दूर हाट में बेचने चली जाती ।इससे जो कुछ मिलता, उसी से माड–पानी चलता था ।"[2] जंगल ही इनका घर होता है और जंगल ही इनके जीवन का पूरा संसार भी । मधु चुआना, पियार तोडना, फूलों को इकठ्ठा करके रूई बनाना आदि भी इनका मुख्य धंधा है ।इसके अतिरिक्त मछलियाँ, बकरियाँ, मुर्गियाँ, गाय–बैल, भैंस आदि का पालन भी इनके अर्थोपार्जन का मुख्य स्रोत है ।पशुओं को भरपूर चारा मिले इस के लिए वह अपने पालतू जानवरों की चराने के लिए जंगलों में ले जाता है ।जंगल में उसके बैल, बकरी, सुअर, काडा–भैंस न खोये, जंगली जानवरों का हमला ना हो इसके लिए वह पापड़ा पेड़ का ठारकी बनाकर अपने जानवरों को पहना देता है ।

उपयोगी वस्तुएँ

आदिवासियों के पास मिट्टी के कुछ बर्तन, बांस की टोकनियाँ, मछली को मारने की जाल, शिकार करने की छोटी–छोटी वस्तुएँ है ।खेती के सामानों में हल, ढेकी, होंगा का भी प्रयोग करते हैं । इस सबका उल्लेख उनकी कहानियों में है ।

---

[1] रोज केरकेट्टा, बिरुवार गमछा पृ : 143

[2] रूपलाल बेदिया, अमावास की रात में भगजोरानी, पृ : 150

पर्व- त्योहार

आदिवासी समाज में मेला पर्व और त्यौहारों का महत्वपूर्ण स्थान है । क्योंकि आदिवासियों की सांस्कृतिक विरासत को समृद्ध बनाने तथा उसे अन्य संस्कृतियों से पृथक करने में इनकी भूमिका को अनदेखा नहीं किया जा सकता । आदिवासी जनजातियों केलिए पर्व–त्यौहार सामूहिकता और सामाजिकता का द्योतक भी है ।त्यौहार के मूल में धार्मिक भावना रहती है ।अतः लोग इष्ट देवी देवताओं से उत्तम भविष्य की कामना करते हैं । प्रत्येक व्यक्ति उत्साहित होकर त्यौहार में भाग लेता है ।इन दिनों किसी भी कीमत पर लोग काम नहीं करते ।इनके जीवन में ये त्यौहार विशेष आनंद एवं चेतना जाग्रत करने का कार्य करते हैं ।ज़रूर कहा जा सकता है कि उनकी संस्कृति की झलक त्योहारों में स्पष्ट झलकती है ।पारंपरिक रूप से होली, दशहरा और दीवाली प्रमुखतः मनाया जाता है ।लेकिन समकालीन संदर्भ में आदिवासी जीवन की बढती जटिलताओं और शहरी संस्कृति के प्रभाव ने मेले के आकर्षण को जर्जर कर दिया । फिर भी आदिवासी समाज के सदस्य अपनी संस्कृति को सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्नरत हैं ।

'दीपावली' पुरे आदिवासी लोगों के आनंद का त्यौहार है ।होली, दशहरा, नांद पूजन आदि अनेक प्रचलित त्यौहार भी वे मनाते हैं ।भौगोलिक एवं क्षेत्रीय दृष्टि से आदिवासियों के देवी–देवता अलग होने के कारण कई त्योहारों में भिन्नता पायी जाती है । आदिवासी लेखिका रोज केरकट्टा ने अपनी कहानी 'बिरुवार गमछा' में मनाये जानेवाले दीपावली का जिक्र किया है ।'बिरुवार गमछा' में झारखंड के रांची केंद्र में है । हर साल दशहरे के बीस दिन बाद अक्तूबर–नवंबर में कार्तिक मास की अमावस्या में दीपावली मनायी जाती है । इस दिन सब घरों को सफाई करके सफेदी कराते हैं, घरों को सजाते हैं और सायंकाल दीपक जलाकर रोशनी करते हैं । दूर नौकरी करने गये लोग भी इस दिन अवश्य अपने घर पहुँचते हैं ।इस दिन आदिवासियों के

देवता का पूजन होता है ।नृत्य–संगीत का आयोजन होता है । लोक–संगीत की धुन से आस–पास का वातावरण गूँजने लगता है ।

झारखण्ड के आदिवासीयों के बीच करमा का त्यौहार भी मनाया जाता है ।मैत्री, सद्भाव, सहयोग और आपसी भाईचारे का त्यौहार है करमा । आदिवासीयों के अनुसार करम वृक्ष–मर्यादा पुरुष के रूप में पूजनीय है ।अच्छी फसल, पशुओं की रक्षा, स्वास्थ्य सन्तान, किशोरों हेतु सुयोग्य जीवन साथी, सुख, समृद्धि और शान्ति का उत्तरदायित्व कमरदेऊ पर सौंप दिया जाता है ।ज्योति लकड़ा की 'कोराईन डूबा' कहानी में 'करमा' का जिक्र मिलता है ।भादो शुक्ल एकादशी को आदिवासी तथा निम्न जाति के लोग धान कटाई के मौसम में यह उत्सव मनाते हैं ।इसमें कुँआरी लडकियाँ अपने भाई के लिए यह कठोर व्रत रखती हैं । युवक–युवती मिलकर शाम के समय नृत्य और गीतों के साथ करम गाछ के इर्द–गिर्द नाचते–थिरकते हैं । "रात्री समय नाचने–गाने में सब इतने रीझ कि किसी को आभास ही नहीं कि किसकी बगल में कौन था ।आदमी देवता, देवता आदमी बन गया। ठीक उसी वक्त गाँव की देवता नाचने आ गई ।एक से बढ़कर एक गीत, गीतों के राग, व लय तालबद्ध नाच चल रहा था । इंसान के अन्दर अच्छाई जब पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, तो उसके अन्दर देवता का रूप आ जाता है ।इसकी सहज अभिव्यक्ति अखड़ा है । अखाड़ा में दिनभर नाच–गान चलता रहा ।शाम को करम देवता को कनहर नदी में विसर्जित किया गया । करम देवता पधारे और झमा–झम बारिश, भरपूर फसल, स्वस्थ पशुधन और खुशहाल जन जीवन का आर्शीवाद देकर वापस चले गए ।"[1]इसके अलावा रोज केरकेट्टा कृत 'फिक्स्ड डिपॉजिट' और 'बड़ा आदमी' में दशहरा का भी जिक्र किया गया है ।क्वार (लाखिन) मास का दशहरा बुराई पर अच्छाई की विजय का प्रतीक माना जाता है ।यह त्यौहार संपूर्ण रूप से स्थानीय मान्यताओं एवं आदिवासी प्रथाओं का मिश्रण है ।बस्तर

---

[1] ज्योति लकड़ा, कोराईन डूबा, पृ : 122

दशहरे की शुरुआत श्रावण की हरेली अमावस्या से शुरू होकर अश्विन महीने में खत्म होता है ।दीपावली, दशहरा, करमा त्यौहार के साथ आदिवासियों में मनाये जानेवाले होली का त्यौहार पाँच दिनों का ही होता है । ढोल, मांदल जैसे साज–वाद्य बजाकर होली का त्यौहार मनाया जाता है । लोग शाम से ही होली के इर्द–गिर्द इकट्ठे होकर रातभर नाचते हैं । भोर में होली जलाकर विधिवत पूजा कर घरों को लौटाते हैं ।

विवाह प्रथा

अन्य सभी समाजों की तरह जनजातीय समाजों में भी शादी की संस्था पाई जाती है ।लेकिन इस स्थानीयता के कारण ग्रामीण और नगरीय समाज से अलग और अनुपम ही है । इनके वैवाहिक संस्कार भी कुछ ऐसी विशेषताएँ लिये हुए हैं जो अन्य लोगों की वैवाहिक व्यवस्था में इन्हें पूरी तरह अलग कर देते हैं । यह संस्कार सभी जातियों में बड़ी धूमधाम से सपन्न होता है ।देखने की बात यह है कि वर्तमान युग में भारतीय समाज में दहेज़ प्रथा पर किसी प्रकार का रोका नहीं लगाया गया है, यह काफी विकराल रूप धारण करती जा रही है ।परंतु इसके प्रभाव से जनजातीय समाज अभी दूर है । प्रायः जनजातियाँ आर्थिक दृष्टि से निर्धन होती हैं इसलिए वैसे भी दहेज़ का लेन–देन उनके लिए मुमकिन नहीं है । भील, पावरा, गोड़ाइत जाति के लोग इस शुभ अवसर पर मदिरापन करते हुए मीठा भोजन सेवन करते हैं ।वधु–वर को हल्दी लगाई जाती है ।विवाह के दिन वर पक्षवाले वधू के गाँव की ओर निकल पड़ते हैं । दोनों ओर से ढोल बजते हैं, ढोलक कर थाप ढोल पर पड़ते ही मधुर स्वर निकलते हैं ।दोनों तरफ के लोग महुआ की शराब पीकर संगीत की धुन में नाचते हैं । स्त्रियाँ भी मदिरापन करती हुई नाचगान करती हैं । मंजू ज्योत्सना की कहानी 'प्रायश्चित' में गोड़ाइत समुदाय में होने वाले विवाह संस्कार से संबंधित चित्र इस प्रकार किया गया हैं कि "हल्दी रंग की साडी वह भी लाल पाड की कोरी साडी को हल्दी में रंग दिया, रेशमी लाल चूड़ी और सिंदूर, चूल्हे

की हल्दी से रंगी धोती और गुलाबी रंग में रंगी कमीज । न दान न दहेज़ ।आम की पत्तियों का छाजन जिसके चार खंभे, जिनमे बंधे हैं लाउडस्पीकर और हरेक में अलग–अलग फ़िल्मी गीत बड़ी तेज आवाज में बज रहे हैं ।यह उनके प्रगतिशील होने और संपन्न होने का प्रमाण था । इसके साथ ही नाच–गाना अनवरत अथक ।खुशी मनाने का निराला ढंग । जो परिवार न्योता पाकर आया है वह अपने साथ हंडिया का छोटा मटका लाया है । हंडिया और चखना–चना और पता नहीं कुछ और । इतना पी लेते हैं कि खाने बैठे तो खुद को संभाल ही नहीं पाते और खाने की सुध ही नहीं ।अतः खाना कम, पीना ज्यादा । औरत–मर्द सबकी समान भागीदारी ।"[1]देखने की बात है कि दहेज़ प्रथा के समान आदिवासी समूह में भ्रूणहत्या भी अपनी परंपरा से दूर है । आपसी ताल–मेल, सम्मान घर की शांति बनाये रखने में ये लोग सफल रहते आये हैं ।

पंच व्यवस्था

आदिवासी समाज की अन्य संस्कृतियों में प्रमुख है पंच । इसमें समाज को चलाते और सामूहिक फैसले लेते हैं ।ये फैसले किसी एक परिवार के हित–अहित में नहीं बल्कि पूरे गाँव और समाज के हित या अहित को देखकर ही किए जाते हैं । पारिवारिक झगड़े हो, विवाह एवं खेती के बँटवारे की समस्या हो या किसी भी आदिवासी समाज से जुडी हुई समस्या में अंतिम निर्णय पंचमंडली पर आधारित है ।

गीत

आदिवासियों की संस्कृति की आकर्षक एवं मनोरंजक अभिव्यक्ति गीत, नृत्य व अन्य कलाओं में मिलती है । आदिवासी जनजातियाँ नृत्य एवं संगीत को अपने जीवन का अविभाज्य अंग मानती हैं । सुख दुःख के अवसर पर वे इसका आनंद लेते हैं ।और विधि–विधानों, अनुष्ठानों, एवं विभिन्न

---

[1] मंजू ज्योत्सना, प्रायश्चित, पृ : 120

संस्कारों पर विभिन्न लोकगीत गाये जाते हैं । इन विभिन्न लोकगीतों के माध्यम से भारतीय संस्कृति की विभिन्नता का स्वरूप झलकता है ।किसी भी जाति में गाए जानेवाले लोक गीत अब संस्कृति की धरोहर होते हैं ।लोकगीतों का महत्व प्रतिपादित करते हुए डॉ.एन.बी चौधरी लिखते हैं कि "सैकड़ों सालों की पुरानी परंपरा से जुड़े होने के कारण ये हमारे सुख दुःख, ह्रास–विकास, अश्रु–परिलुप्त कपालों के इतिहास के सच्चे परिचायक है ।"[1] डॉ. पद्मजा घोरपाड़े के ये शब्द लोकगीतों के महत्व पर सीधे प्रकाश डालते हैं – "लोकगीत काव्यत्व की दृष्टि से सरस तो होते ही है साथ ही वे संस्कृति के रक्षक भी होते हैं । लोकगीतों को आँचलिक संस्कृति के आदर्शों एवं सभ्यता के वेद कहा जाता है ।लोकगीत सामान्य मनुष्य के सामूहिक जीवन की अभिव्यक्ति होते हैं ।"[2] दैनिक क्रियाकलापों के समय, खेतों को बोते–काटते किसान–काम करकर थके मज़दूरों के बीच भी इन्हें सुना जा सकता है । ज्योति लकड़ा की कहानी 'कोराईन डूबा' में एक ऐसा वातावरण चित्रित किया गया है कि शाम होते ही सालो बढ़नी गाँव मुरली, ढोल, मांदर, नगाड़ा, डफली और गीतों की लय ताल में गुंजायमान होता है ।जैसे–जैसे रात्रि की पहर जाती, वैसे ही हर पहर के आधार पर नाच–गाने बदलते जाते । रात्री का चौथा पहर पहुँचने पर गीत के भाव में प्रेम की धारा प्रवाहित होती है । आँखों–आँखों के इशारों से प्रेम जुड़ना एवं पक्का होना सहजात प्रवृत्ति है, जिसकी अभिव्यक्ति इनकी गीत में हुई है –

"कहाँ कर हकी राउरे ?

कौन बोली, बोली ला ?

कहाँ कर हकी राउरे ?.....

राउर मधुर बोली सुनी

---

[1] डॉ. पाण्डुरंग पाटील, आँचलिक उपन्यासों में लोकसंस्कृति, पृ : 130

[2] डॉ. पाण्डुरंग पाटील, आँचलिक उपन्यासों में लोकसंस्कृति, पृ : 130

मनो नी भरेला सोना.....

मनो नी भरेला..... ।" (आप कहाँ के हैं, कौन सी बोली बोलते हैं आप ? आपकी मधुर बोली सुनकर मन नहीं अघाता है ।)[1]

जनार्दन गोंड कृत 'भंडुआ' में मृत्यु के बाद गाये जानेवाले करुणगान का चित्रण किया गया है ।मृत व्यक्ति जो प्रेम छोड़कर चला जाता है उसकी याद उनके रिश्तेदारों को, मित्रगणों को हमेशा सताती है । ममत्व के कारण वह दुःख को सहन नहीं कर सकता है । बेटे की याद में माँ की करुण गाथा निम्नांकित शब्दों में प्रकट होती है –

"मोरा धारू धरती रोए देव

नव खंडू पिरथी रा आले ।

रिंगारमालोर दिपु रोए देव

इगाय हायवालोर रा आले ।।

इदे सिंगारदीप ने रा

राजालोर इसे मानतोर रा आले ।

समधी सगा इगाय रा

भाई बंद इगाय रा आले ।।" गीत ऐसे गा रही थी, जैसे पुत्र को सुनाकर जता रही हो कि तुम्हारे संगोत्रीय तो यहाँ हैं, तुम कहाँ जा रहे हो ?"[2]

आदिवासी भाषा

---

[1] ज्योति लकड़ा, कोराईन डूबा, पृ : 160

[2] जनार्दन गोंड, भंडुआ, पृ : 192

भारत में सभी आदिवासी समुदायों की अपनी विशिष्ट भाषा होती है । इसके द्वारा वे अपनी अस्मिता कायम रखना चाहते हैं ।शैक्षिक संस्कारों से दूर या पढ़े लिखे आदिवासियों से कोसों दूर ऐसी आदिवासी बोली को सभ्य समाज हमेशा जंगली बताकर वर्जित करता है ।सभ्य समाज द्वारा इस्तेमाल की जा रही भाषा को वे समझ न सकते इसलिए उन्हें अपरिष्कृत कहते हैं ।आमतौर पर आदिवासी भाषा सहज, सरल एवं बोलचाल की भाषा है ।इनकी संस्कृति एवं जीवन का परिचय दिलाने के लिए इनकी अपनी भाषा की ज़रूरत है ।इसलिए कहानीकारों ने इसको अधिक मार्मिक ढंग से स्पष्ट करने के लिए देशज, आँचलिक शब्दों का प्रयोग अधिक मात्रा में अभिव्यक्त किया है । क्योंकि भाषा स्वयं मानव एवं समाज की, संस्कृति की संवाहक है । शब्द भी मानव जीवन की अनुभूतियों के परिचायक हैं ।इसलिए सहज, बोलचाल की भाषा के स्थान पर परिष्कृत भाषा का या शब्दों का प्रयोग करने से उसकी अनुभूति नष्ट हो जाती है । इसे ध्यान में रखकर आज की आदिवासी हिंदी कहानियाँ स्थानीय बोलियों के शब्दों से परिपूरित हैं ।आदिवासी समुदायों के पात्रों के कारण अधिकांश कहानियों में उनकी बोली में संवाद दिये गये है कुच्छ शब्दों के अर्थ कोष्ठकों में स्पष्ट करते हैं ।उदाहरण के लिए झारखण्ड के 'सालो बढ़नी' गाँव की बस्ती में बोली जानेवाली बोली का संदर्भ 'कोराईन डूबा' कहानी में मिलता है –"अगर ई हामिन कर घर होतक तो एहे घरे हामिन दुइयों रहती ।" (यदि ये हमारा घर होता इस घर में हम दोनों रहते) "अरे तोंय करियों तोर घर, ई तोर घर राईत दिन गाते रहेला ।" (अरे तुम करियों, तेरा घर, यह घर तो दिन–रात गाते रहता हैं ।)"[1]

इसके अलावा गोड़ाइत जाति की भाषा को मंजू ज्योत्सना ने अपनी कहानी 'प्रायश्चित' में दिखाया है ।कहानी में डोमना से मैं पात्र पूछता है – "का कहत रहरू रे तोर बहुरिया ? डोमना ने कहा – 'का करबे दीदी उके,

---

[1] ज्योति लकड़ा, कोराईन डूबा, पृ : 161

कहत रहऊ कि हम दिन भर बइठ के का करब ।रेजा काम करे जाब कुच्छ पैसा आवी ।दिमाग, खराब होय जायहे उकर । अरे हम तो इतना कमाबे करीला ।एतनासे काम चलते कि नहीं ।"[1]

आदिवासी कहानियों में कठिन, क्लिष्ट शब्दों से दूर होकर देशज, आँचलिक प्रयोगों का बहुत अधिक है । उदाहरण के लए बियारी (रात्री का खाना), तियन (सब्जी), तुंबा (पके कद्दू के खोल से बनाए गए पानी रखने वाला पात्र), खोंयचा (पहने हुए साडी के आँचल से सामने थैलानुमा बनाना), मुडमिसनी माटी (बाल घाने के काम में लाई जानेवाली चिकनी तेलयुक्त मिट्टी), नाचू, बिछती, डहुरा आदि ।

अन्य लघुसंस्कृतियों में हिजड़े/थर्ड जेंडर

भारतीय समाज के बहुत से वर्ग विकृत परंपराओं के कारण त्रासदपूर्ण जीवन व्यतित करने को विवश होते हैं उनमें सर्वाधिक उपेक्षित वर्ग है – हिजड़ा या किन्नर ।यह एक ऐसा वर्ग है जिसके असामान्य जीवन को समाज और अधिक क्रूर बना देता है ।यह वर्ग न तो पूर्ण रूपेण स्त्री है, न ही पुरुष । जिसे सर्वोच्च न्यायलय ने सन 2014 में तृतीय लिंग के रूप में मान्यता दी हैं ।इस तृतीय लिंग को समाज विविध नामों से पुकारता है, जिनमें से प्रमुख हैं – हिजड़ा, किन्नर, उभयलिंगी, पावैया, कोती आदि । महाभारत काल 'शिखंडी और वृहन्नला' के द्वारा अनंतकाल से चले आनेवाले इनके अस्तित्व का पता चलता है । वास्तव में तृतीय लिंगी या थर्ड जेंडर होना शरीर विज्ञान की एक विकृति है ।उसमें यदि कोई इस विकृति के साथ जन्म ले तो उनका कोई दोष नहीं, लेकिन इनके बारे में प्रायः समाज बात करने से कतराता है और वह इनकी व्यथा व पीड़ा पर अपना मनोरंजन करता है ।हमारी संवेदनहीनता के कारण ही ये लोग बदतर जीवन जीने के लिए बाध्य हैं । वस्तुतः कहा जा सकता

---

[1] मंजू ज्योत्सना, प्रायश्चित, पृ : 169

है कि मुख्यधारा के समाज और हिजड़ा समाज के बीच एक बहुत बड़ी दीवार उपस्थित है ।इस सभ्य समाज से निरादृत, बहिष्कृत एवं तिरस्कृत यह वर्ग दो वक्त की रोटी का मेहताज होने के साथ ही अकेलापन एवं अजनबीपन की पीड़ा को झेलने के लिए भी बाध्य है ।भले ही समाज उनको हेय दृष्टि से देखता हो लेकिन उनका जन्म भी तो समाज की सबसे महत्वपूर्ण इकाई पति–पत्नी अर्थात माता–पिता के द्वारा ही होता है ।इसलिए निसंदेह कहा जा सकता है कि हिजड़ा या थर्ड जेंडर अभी तक साहित्य और समाज में कहीं भी मुख्यधारा का हिस्सा नहीं है ।साहित्य में भी किन्नर उपेक्षित ही रहे हैं ।उनको लेकर गंभीर चरित्र की कहानियाँ मूलतः प्रमुख रूप से नहीं लिखी जाती थीं । जहाँ कहाँ उनकी छवि का उल्लेख किया गया है वह भी बड़ी बुरी ढंग से चित्रित है ।इस संदर्भ में गौरव करने की बात है कि हालही में किन्नर समाज को मुख्यधारा में लाने के लिए सरकारें भी कुछ प्रयास कर रही हैं ।इंदिरागांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली ने किन्नर विद्यार्थियों के निशुल्क प्रवेश की व्यवस्था की गई है ।कोलहान विश्वविद्यालय, जमशेदपुर ने प्रवेश फॉर्म में महिला और पुरुष के अलावा एक तीसरा कॉलम किन्नरों के लिए बनाया है । इसी प्रकार केरल के कोच्ची मेट्रो में 23 ट्रांसजेंडरों को नियुक्ति मिली है । यह देश की पहली मेट्रो सेवा है जिसमें ट्रांसजेंडरों को रोज़गार दिया गया है । वैसे ही साहित्य में भी पहला पड़ाव की तरह लेखकों ने कहानियाँ और उपन्यास की रचना करके किन्नर जीवन को समाज के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है यह बहुत बड़ी बात है । फिर भी समाज में इन्हीं लोगों को साधारण लोगों के समान जितनी स्वीकृति मिलनी चाहिए थी उतना नहीं मिल पा रही है । इस नज़रिए से साहित्य में देखने पर आज साहित्य के क्षेत्र में अन्य हाशियेकृतों की तरह ट्रांसजेंडर को भी यथास्थान मिल रहा है । हिजड़ा जहाँ परिवार और समाज से बहिष्कार झेलता है, वही वह राष्ट्र या राज्य में भी उपेक्षा और अवहेलना का पात्र होता है । समाज उनकी संस्कृति लिंग और यौनिकता को न समझता है और न समझने की कोशिश करता है । उन्हें इंसान के रूप में

स्वीकारने के लिए तैयार नहीं होते है । इसलिए हिजड़ों के मानवाधिकार हनन पर रोकथाम लगाने के लिए उनके साथ बरते जानेवाले पूर्वग्रहों और भेदभावों पर लगाम लगाने के लिए यह अपेक्षित है कि साहित्य में हिजड़ा जीवन के सामजिक सांस्कृतिक आयाम को स्थान दें ।उनकी जीवनपद्धति, गीत–संगीत, मान्यताओं और धार्मिक आस्थाओं को साहित्य एवं समाज में स्वीकृति मिलनी चाहिए ।

सुखी परिवार में जन्म लेनेवाले बच्चे भी हिजड़े होने पर मान–सम्मान और लोक–लाज के भय के कारण जब उनके समूह को सौंप दिया जाता है तब से उस बच्चे को अन्य के समान नरकीय यातनाओं के बीच जीवन आरंभ करना पड़ता है । जैसा कि आमतौर पर इस प्रकार के बच्चों को सहना पड़ता है । ऐसे समाज से बहिष्कृत लोगों को बाद में एक समूह बनकर जीना पड़ता है ।चाँद दीपिका की कहानी 'खुश रहो क्लीनिक' में एक ऐसे बच्चे का चित्रण किया गया है संपन्न होने पर भी गरीबी में जिसको जीना पड़ता है, हिजड़ा होने के कारण "डेरा विचित्र था ।न किसी का किसी से कोई संबंध न खून का रिश्ता, सभी ठुकराए हुए, हालात के मारे हुए ।चोरी चकारी पकड़ कर लाये हुए लोग जो न स्त्री थे न पुरुष थे ।फिर भी स्वेच्छा से स्त्री पुरुष के चोले पहन विचार रहे थे ।जो समाज का अनचाहा भाग होकर भी उसका भाग न थे ।उन्हें समाज जन्म देता था ।पर काटकर देर–सबेर अपने से फेंक भी देता था ।जहाँ माता–पिता अपने होकर भी अपने न थे बच्चे आवांछित लावारिस थे ।ईश्वर समाज से उपेक्षित का डेरा एक मात्र आश्रय स्थल था ।जहाँ कोई सुध लेने वाला नहीं था । समाज ने जन्म दिया था ।"[1]

इन हिजड़ों का समाज भी आम परिवारों की तरह होता है । जहाँ एक मुखिया होता है जिसे 'नायक' कहा जाता है ।नायक के नीचे गुरु होता है और फिर चेले । गुरु का दर्जा माता–पिता के बराबर ही होता है । प्रत्येक

[1] चाँद दीपिका, खुश रहो क्लीनिक, पृ : 142

हिजड़े को अपनी कमाई का एक हिस्सा अपने गुरु को देना पड़ता है ।इस गुरु से मार–पीट भी भोगनी पड़ती है –"मझौले कदवाला आदमी अड़ियल जिद्दी था ।उसे भी उसने गुरु ने इसी पेश में डालना चाहा था । जोर जबरदस्ती मार–पीटकर उसने शादी ब्याह, मुंडन बच्चे के जन्म पर बधाई माँगने और लोगों के साथ भेजा था ।"[1] इस प्रकार हिजड़े को जन्म से लेकर उनकी मृत्यु तक अपने जीवन में दूसरों के अपहास और दुर्व्यवहार को भोगकर समाज से अलग होकर जीना पड़ता है जिससे वे अपने में, अपने दुःख में सीमित होते जा रहे हैं ।

आजीविका

असामान्य लिंगी होने के साथ ही समाज के हाशिए पर धकेल दी गई इनकी ज़िंदगी का सबसे बड़ी समस्या आजीविका है । इसलिए अकेले बहिष्कृत ये लोग आर्थिक स्तर पर भी हाशिये पर धकेल दिए जाते हैं । सभ्य समाज के लोगों की हीनता और दुर्व्यवहारों के कारण इनकी स्कूली शिक्षा अधूरी रह जाने से ये लोग रोज़गार के लिए अपेक्षित शिक्षा और नौकरी अर्जित नहीं कर पाते तथा इनकी असामान्य जीवन पद्धति और हावभाव के कारण किसी भी पेशे और धंधे में इन्हें हेय दृष्टि से समझा जाता है । अपने स्त्रेण स्वभाव और अर्द्धपुरुष देह के कारण इन्हें प्रायः कोई काम नहीं देना चाहता और यदि कुछ काम उन्हें जैसे–तैसे मिलने पर भी दूसरों कि संतुष्टि के लिए बाहर किया जाता है ।कार्यस्थल पर भी इनके साथ मौखिक, दैहिक और यौनिक व्यवहार आम बात होने से किसी से शिकायत करने पर भी उन पर आरोप लगाकर नौकरी से निकाल दिया जाता है । किसी भी अन्य स्वाभिमानी व्यक्ति की भाँती ही हिजड़ा व्यक्ति भी रोजगार चाहता है जिससे ही वह समाज में आत्मनिर्भर बन सके और सिर उठाकर जी सके । किंतु आजकल हिजड़े के लिए सम्मानजनक आजीविका प्राप्त करना लगभग असंभव होता है ।सुखी समृद्ध

---

[1]चाँद दीपिका, खुश रहो क्लिनिक, पृ : 143

जीवन हेतु भूमि, मकान आदि से भी इन्हें वंचित रहना पड़ता है ।हिजड़ों को तो किराये पर भी घर आसानी से नहीं मिल पाते ।

इन लोगों का मुख्य धंधा तो यह है कि शिशु के जन्म या फिर शादी ब्याह के अवसर पर, भले ही शुभ कार्य में इनको दान देने से धन दौलत में बढ़ोत्तरी होती है ऐसा माना जाता है । इस समय ये लोग तालियाँ बजाकर नाचते हैं, बधाई दे देकर रूपए ऐंठकर चले जाते हैं ।इसकी ओर डॉ. पद्मा शर्मा कृत 'इज्जत के रहबर' नामक कहानी में इशारा किया है ।कस्बे के मोहल्ले में सोफिया के नेतृत्व में हिजड़ों का समूह रहता है ।अपने समाज की परंपरा पर आधारित उनकी जीवन शैली है । श्रीलाल के छोटे भाई का विवाह हो गया था । तो सोफिया और उनके साथियों के साथ वहाँ पहुँच जाता है । "होली हो या दीवाली सब त्योहारों पर सोफिया बस्ती के सब घरों से शगुन लेती है, शादी ब्याह हो या बच्चे का जन्म, सबके लिये उनके अलग–अलग रेट चलते हैं ।[1] किंतु हिजड़ो के इस परंपरागत पेशे को आज की बदली हुई दुनिया में कई प्रकार की चुनौतियों को सामना करना पड़ रहा है ।बहुमंजिली इमारतें, और गाँवों में अब तो कोई भी उस घुसने नहीं देता ।इसलिए बधाई देकर कुछ प्राप्त करना अब बहुत दुष्कर हो गया है ।

रोजगार के परंपरागत स्रोत के समाप्त होने से बहुत से हिजड़े वेश्या जीवन की ओर चले जाने केलिए मज़बूर हो जाते हैं ।इस प्रकार के असुरक्षित यौन संबधों के कारण हिजड़ा यौनकर्मियों में यौनसंक्रात्मक बीमारियाँ और एड्स से खतरे बहुत बढ़ जाते हैं । यही नहीं और कुछ रास्ता न होने से, पेट की भूख से विवश होकर कुछ लोग चोरी–छिपे ये धंधा करते पाये जाते हैं । किंतु हिजड़ों की एक नयी पीढ़ी उभर रही है जहाँ परंपरावादी हिजड़े नाचने–गाने को अपनी नियति मानकर चलते हैं वहाँ नयी पीढ़ी सामान्य इंसान की तरह रोज़गार के लिए प्रयासरत है ।इसलिए हिजड़ा समुदाय के बिली अपनी नरकिय

---

[1] पद्मा शर्मा, इज्जत के रहबर, पृ : 92

जीवन से बचकर एक सफल फेशन डिजाइनर बन जाता है । "पार्श्व ध्वनि ने उसका परिचय देते हुए बताया – उनकी रूट्स तो इंडिया में है ..... तभी इतने साल बाद पेरिस से लौटकर..... ये भव्य शो दिल्ली में ऑर्गनाइज किया है – ही इज वेरी शाई....वह अपने बचपन के बारे में कुछ नहीं बताना चाहते, बस ये स्विस–सूट उनके बचपन की किसी याद के तहत उन्होंने डिज़ाइन किये हैं .....मिलिए बिली से, मिस्टर बिली वर्मा से..... डी ग्रेट डिज़ाइनर ।"[1] वैसे ही नरकीय यातनाओं से मुक्त होकर हिजड़ों की ही ममता, प्रेम तथा प्रेरणा से डॉक्टर बननेवाला ऋषि को चाँद दीपिका की कहानी 'खुश रहो क्लीनिक' में देखा जा सकता है ।डॉक्टर बनने के बाद मलिन बस्ती में जाकर अपनी क्लीनिक खोलकर सेवा–स्वास्थ्य और स्वच्छता की अलख जगाता है ।इस प्रकार आज की कहानी संकुचित चिंतन से ऊपर उठकर अपनी एक पहचान बनाने के लिए ऐसे बच्चों के प्रति, या लोगों के प्रति, उदारदृष्टि दिखाने की साजिश देते हैं ।वे भी ऐसे लोग हैं जो हमारे बीच में रह रहे हैं पर इनका कोई अस्तित्व नहीं है, कोई पहचान नहीं है । समाज में उपस्थित हैं फिर भी अनुपस्थिति का झेल रहे हैं। इन अपहासों से मुक्ति पाने के लिए नौकरी प्राप्त करना सबसे बड़ी बात है ।

वेश-आभूषण

विशिष्ट रीति–रिवाज़ एवं जीवन पद्धति के समान हिजड़े लोगों के वेश, आभूषण भी विशिष्ट होते हैं।इनकी दुनिया जितने ही अलग होती है उतना ही इनके रीति–रिवाज भी अलग होते हैं ।उनकी वेशभूषा उनकी विशिष्ट संस्कृति का परिचायक है । अपने वस्त्र, मेकअप और आभूषणों में वे लोग विशेष ध्यान रखते हैं । देखिए कि "जुलूस के आगे–आगे एक लंबे कद का हिजड़ा एक लंबा–सा बांस उठाये चल रहा था ।उसके पीछे चलनेवाले हिजड़े

[1] कुसुम अंसल, ई मुर्दन का गाँव, पृ : 52

तीन–तीन की कतार में चल रहे थे ।वे वेशभूषा से पहली दृष्टि में स्पार्टा के सिपाही लगते थे बिना आस्तीनों के जैकट, पैरों के कागज के कृत्रिम जूते, कमर में काठ की एक–एक तलवार और हाथों में चूड़ियाँ, बहुतों की छोटी–छोटी चोटियां कंधों पर दाये–बायें झूल रही थीं ।नाकों में कीलें और माथे पर बिंदियाँ भी थी ।कुछ केवल चोलियाँ और घाघरे भी पहने हुए थे ।और सब के सब मूँह से हाय–हाय की आवाज़ें निकालते छातियाँ पीटते, तालियाँ बजाते मटक–मटक कर चल रहे थे, चूड़ियों की झंकार से हवा में हल्की–हल्की संगीतमय गूंज उत्पन्न हो रही थी ।"[1] इसीप्रकार डॉ. पद्मा शर्मा की 'इज्जत के रहबर' में भी हिजड़ा लोगों के संबंध में यों चित्रण दिया है कि "नये–नये डिज़ाइन के जनाना कपडे व आर्टिफिशियल जेवर पहनना उनकी पसंद में शुमार थी । उनकी आइब्रो तराशी हुई रहती । होंठों पर चकाचक लिपस्टिक लगी होती थी ।चेहरे नीट एंड क्लीन होते थे और खुद को ब्यूटी क्वीन समझती थीं ।"[2]

विश्वास एवं सांस्कृतिक परंपराएँ

प्राचीनकाल से लेकर निकृष्ट समझे जाने वाले तृतीय लिंगी समाज या हिजड़ा समाज अपने समुदाय की सांस्कृतिक परंपराओं के साथ जुड़कर जीनेवाले हैं । इनकी परंपरा,रूढ़ियों एवं संस्कृति इस वर्ग की पहचान है । इनमें प्रमुख है उनका नाच–गान । परंपरा के अनुसार, विवाह समारोहों और बच्चे के जन्म के अवसर पर हिजड़ा समुदाय की उपस्थिति शुभ मानते हैं उन्हें इतनी शक्ति मानी जाती है कि यह राहू शनि की दशा भी बदल देते हैं ।अगर हिजड़ा किसी को गाली दे दें तो उस परिवार की दशा ही बुरी होती है, जैसे किसी नवविवाहित दुल्हन या दुल्हे को अपने कपडे उतारकर उस पर चूड़ियाँ तोडकर शाप दे दे तो गृह नक्षत्र भी बदल जाता है, उनका सुखमय जीवन

---

[1] सलाम बिन रज़ाक, जुलूस, पृ : 34

[2] पद्मा शर्मा, इज्जत के रहबर, पृ : 90

दुखमय हो जाता है ।इसलिए प्रथा के अनुसार लोगों को उम्मीद है कि वे शादियों के साथ ही बच्चे के जन्म के समारोहों में गाएँ और नृत्य करें और लोग उनकी सेवा के बदले पैसे, कपडे आदि दे देते हैं । बच्चे के जन्म या अन्य शुभ अवसर पर उनको बुलाने या नाचने का रिवाज अधिकतर उत्तर भारत में ही देखा जाता है ।इस प्रथा के संबध में हिजड़ों के अन्दर यह मिथक है कि उन्हें नाचने–गाने और बधाई देने का काम करने की आज्ञा और अधिकार भगवान् राम ने दिया था । इसलिए दूसरे के विवाह में नाचे गानेवाले ये लोग जो खुद सन्तान हीन होने की पीडा को भोगते हुए दूसरों को सन्तान होने तथा उनकी सन्तान के सुखी रहने का आशीर्वाद देते हैं । "पाँच–पाँच सौ के दो नोट अम्मा बाबूजी की फोटो से स्पर्श करके लाती हूँ और हिजड़े की झोली में डालती है ।हिजड़ा रूपए को माथे से लगाकर ढोलक वाले के पास बैग में रखवाता है ।इसके बाद आशीर्वादों की बौछार करता है । दूल्हा–दुल्हन को संबोधित करके कहता है"सुन लिया मौसी का वचन ? अब लड़का पैदा होगा तो डबल बधाई लूंगी ।राहुल और करिश्मा का रंग लाल हो जाता है ।"[1] सचमुच कहा जाए तो इस परंपरा के कारण ही वे अपने पेट चलाते थे ।भले ही शुभ कार्य में इनका न्योता करने पर भी अछूतों जैसा व्यवहार इनके साथ किया जाता है । कोई भी इनको आस पास देखना भी पसंद नहीं करता है ।फिर भी पडौस में किसी के भी यहाँ पैदा हो तुरंत इन लोगों को मोहल्ले वाले खबर कर देते हैं ।वे तमाशा देखना चाहते हैं कि हमारे घर से जितना लिया था पड़ोसवाली उतना देती है या नहीं । वहाँ भी तुरंत हिजड़े पहुँच जाता है – "सोफिया जब बच्चे के जन्म पर नेग माँगने आती है तो अलग ढंग से नाचती है । इसमें से एक जन नये बच्चे को गोद में लेकर नाचती है दान में मिले अनाज के कुछ दाने बच्चे की माँ की गोद में डालकर कई आशीश दे डालती है..... दूध नहाओं पूतो

[1] कादंबरी मेहरा, हिजड़ा, पृ : 83

फलो..... बच्चा जुग–जुग जिये..... बच्चा कलेक्टर बने .....गाड़ियों में घूमे.....खूब नाम कमाये ।"[1]

हिजड़ा समुदाय की सांस्कृतिक परंपरा में गुरू का विशेष महत्व होता है ।गुरु का आदेश ही इनके लिए सर्वोपरि होती है । गुरु को वे माता–पिता एवं भगवान का दर्जा देते हैं । हरेक हिजड़ा उनके गुरु से ही दीक्षा लेता है इसमें होता यह है कि जब कोई किन्नर किसी गद्दीनशीन हिजड़ों के डेरों में चेला होता है तो उसको 7–8 दिन तक नई नवेली दुल्हन की तरह हल्दी लगाई जाती है, और तैयार करके उसको दीक्षा दी जाती है और माता–पिता द्वारा रखे हुए नाम को बदलकर एक नया नाम रख दिया जाता है, और खूब खुशियाँ मनाई जाती है और सब हिजड़े उसको अपनी–अपनी तरफ से शगुन देते हैं, फिर उसके बाद उसको बताया जाता है कि तुम किस इलाके में बधाई वगैरह माँग सकते हो और फिर उसको उस इलाके का गद्दीनशीन महंत बना दिया जाता है ।इसका जिक्र चाँद दीपिका की कहानी 'खुश रहो क्लीनिक' में किया है– "अब तो यही परिवार है हमारा । गुरु हमारी सब कुछ हैं। हम सब आपस में एक दूसरे के दुःख–सुख के साथी हैं।गुरु की एक समझदार बहु की तरह सेवा करती है ।"[2]

अन्य के समान हिजड़े को भी धार्मिक विश्वास एवं मान्यताएँ हैं ।वे हर काम शुरू करने से पूर्व देवियों एवं खप्पर वाली की पूजा करते हैं – "माता बहुचरा को हिजड़ा समुदाय की इष्टदेवी मानी जाती हैं और हिजड़े चाहे किसी भी जाति या धर्म से ही क्यों न हो, वो बहुचरा जी का पूजा उपासना करता है, माँ बहुचरा जी का प्रमुख मन्दिर गुजरात के संथोल में है ।"[3]

गीत-संगीत एवं त्योहार

---

[1] पद्मा शर्मा, इज्जत के रहबर, पृ : 91

[2] कुसुम अंसल, ई मुर्दन का गाँव, पृ : 53

[3] पारस दोसोत, गलती जो माफ़ नहीं, पृ : 150

विवाह–सोहर के अवसर पर लोक प्रचलित गीतों का कम है पर जो लोक गीत ये गाते हैं वह भी इनकी गुरु यानी कि बुजुर्ग हिजड़ा द्वारा सीखनेवाला है । शगुन की हर विशेष संदर्भ में भी तालियाँ बजाकर, नाचते हुए, समूह बनकर सीखे गये गीत गाते हैं ।उनके जीवन पर आधारित सारी कहानियों में भी गीत भी आ जाता है ।भीख मागने वाले इनके गीत हैं–

सुणिए सिध पीर नाथ ।सुणिए धरति धवल आकाश ।।

सुणिए दीप लोअ पाताल । सुणिए पोही न सकै कालू ।।

नानक भगता सदा विगासु । सुणिए दुःख पाप का नायु ।।"[1]

विवाह के अवसर पर गाने वाले गीत हैं–

परदे में रहने दो

परदे न उठाओ.....

सोर मोती मैं वारूँ री बन्ने पे

दादा तो वारे बन्ने, मोहर अशर्फी

दादी तो वारी वारी जाए री बन्ने पे.....

हिजड़ों में भी अलग–अलग पर्व त्यौहार है, जैसे हरियाणा के अलग, पंजाब के अलग ।ऐसे हर राज्य के हिजड़े के अपने–अपने त्यौहार तरीके हैं और अपना–अपना इतिहास और अपनी–अपनी सभ्यता है ।

लोक-प्रकृति

मानव और प्रकृति के रिश्ते सदियों पुराने है ।प्रकृति के आँगन में ही मनुष्य का रहन–सहन शुरू हुआ था । मानव का रुदन और ह्रास, आनंद

[1] पद्मा शर्मा, इज्जत के रहबर, पृ : 96

और पीड़ा सब उसकी धरोहर है ।मनुष्य के भाव–जगत और उसकी चेतना के लिए प्रकृति का सहयोग आवश्यक है ।प्रकृति या पृथ्वी वास्तव में सीमित शब्द नही है । उसमें समस्त जीव–जाल समाहित हो जाते हैं ।पृथ्वी से तात्पर्य ज़मीन वातावरण के उन समस्त तत्वों से है जो व्यक्ति या संपूर्ण वस्तुओं के घेरे रहते हैं ।ज़मीन, जल, वायु, वनस्पति, वन और वन्य जीव आदि संसाधनों की समग्रता का नाम है जो मानव को प्रभावित करते रहते हैं । लेकिन आज वह मानव जीवन को नहीं मानव उसे प्रभावित करते रहते हैं, वह भी बुरी तरह से ।

आधुनीकीकरण के पश्चात, मशीनीकरण तथा महानगरीय बोध के कारण केवल प्राकृतिक मूल्यों का ह्रास ही नहीं हुआ तो पृथ्वी से पूर्णतः अलगाव की स्थिति भी आ गयी ।औद्योगीकरण से प्रकृति की तरफ देखने की प्रवृत्ति का भी लोप हो गया ।प्रकृति से जो रागात्मक संबंध रहा था वह साहित्य के क्षेत्र में भी कम होता गया ।आम मनुष्य के साथ–साथ साहित्यकारों ने भी 'प्रकृति' की उपेक्षा की । पूँजी केन्द्रित संस्कृति केंद्र में प्रतिष्ठित हुई । प्रगति की ओर बढ़ते–बढ़ते मनुष्य खोखला बन गया है । जीवन में सुख संपत्ति लाने की कोशिश में मनुष्य में निहित मानवता एवं संस्कार की नींव दुर्बल हो गयी हैं।आखिर मनुष्य प्रकृति को अनसुना करके चला जाता है । इसलिए मनुष्य में प्राकृतिक संपदाओं को देखने की ममतामयी, रागात्मक दृष्टि बदलकर उसके स्थान पर भोगवादी दृष्टि ने स्थान लिया है ।निसंदेह मनुष्य एक प्राकृतिक सत्ता है, लेकिन प्रकृति से अलग होने से मनुष्य अपना एक विशिष्ट मानवीय स्वरूप भी विकसित करता है ।वह प्रकृति का अंग होकर भी प्रकृति का अतिक्रमण करता है ।वह अपने चारों ओर मानवीय जगत का निर्माण करने के लिए प्रकृति का दुरपयोग करता है । अतः प्रकृति पर अपना अधिकार जमाते जमाते, प्रकृति मनुष्य की गुलाम बनी । जिनसे प्रकृति को हानी पहुँच रही है ।इन परिस्थितियों में जब मानवीय अस्मिता ढूँढने के प्रयत्न प्रारंभ हुए तो साहित्यकारों की दृष्टि 'प्रकृति' की ओर पुनः केन्द्रित हुई । उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से

हाशियेकृत प्रकृति की दुर्दशा का चित्रण ही नहीं बल्कि मानव की, इस मानसिकता के प्रति विद्रोह भी जताया ।इसलिए आज की कहानी में मुख्य विषय प्रकृति के प्रति रागात्मकता, अनुभूति की सजगता की भावना भी है ।यह सच है कि प्रकृति का संतुलन बनाये रखे बगैर हमारा कोई अस्तित्व ही नहीं है । सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य को समाज और प्रकृति संबंधी जिम्मेदारियाँ हैं, जिसे निभाना उसका कर्तव्य है ।अपने कर्तव्य के प्रति सचेत रखना ही साहित्य का उद्देश्य है । साहित्य मनुष्य की धडकनों का साथ देने वाले होने के नाते हमारी पृथ्वी के प्रति अवबोध, और प्यार जगाने में मुख्य भूमिका निभाता है ।

किसी भी देश के प्राकृतिक संसाधनों का एक भाग उसकी प्राकृतिक वनस्पति है जो हर रोज मनुष्य के कार्य कलापों से प्रभावित होती है । इसमें वृक्ष को मनुष्य का मित्र कहा जाता है ।किंतु वर्तमान युग में वृक्ष के प्रति बढती अनास्था देखी जाती है ।जंगलों की कटौती अधिकाधिक हो रही है ।वनोन्मूलन प्रकृति के भविष्य के लिए भीषण होनी है । यह मात्र मानव को नहीं पूरे जीवजंतुओं के ऊपर भी इसका असर पड़ता है ।वनों का गायब हो जाना मौसम को बुरी तरह से प्रभावित करता है ।पेड़ों के बिना वर्षा नहीं होती, बिना पानी सारा भूमंडल सूख जाता है ।प्रकृति ने जीवजंतुओं और वनस्पतियों के बीच एक ऐसा अनूठा संबंध बनाया है कि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है ।इस तथ्य को समझते हुए वर्तमान कहानीकार हमें पुनर्विचार के लिए प्रेरित करते हैं कि हम अपने चारों ओर देखनेवाले वनस्पति के साथ किस हद तक जुड़े हुए हैं और हमारे भीतर उसके प्रति प्यार जगाना है ।मृदुला गर्ग की 'इक्कीसवीं सदी का पेड़' कहानी इस उद्देश्य को सफल बनाने में पूर्ण है । अपने जीवनकाल में मनुष्य एवं अन्य जीवजंतुओं के लिए पेड़ कितना उपयोगी है या हमारे लिए क्या–क्या करते हैं इसका विस्तृत वर्णन यों दिया है कि "उम्र कितनी बढे उसका काम नहीं बदलता और पाँच साल गुजरें

या पचास या पाँच सौ, वह अपना काम करता रहता है ।वही परिंदों को ठौर देना, दरिंदों को छांव । पत्तियां झाड कर मिट्टी को उर्वर बनाना, नमी फैलाना, फल–फूल खिलाना, बीज बना कर नये पौधे अंकुरित करना, पत्ते टहनियों में हवा फंसा कर संगीत पैदा करना । कोई–कोई पेड़ खुशबू भी फैलाता है ।संशोधन कोई नहीं, हर पेड़ खुशबू फैलाता है, भीनी हो या घनी ।गंध लोगों तक पहुँचे, न पहुँचे, यह उनकी घ्राण शक्ति पर निर्भर है । कूड़ा–कर्कट फैला हो तो हम सुरों में बंधी महीन आवाज़ें सुन नहीं पाते । शोर और कूड़ा पेड़ों की तान और महक को खतरे में डाल देते हैं ।परिंदे–दरिन्दे फिर भी सुन–सूंघ लेते हैं, असल दिक्कत इंसानों को होती है ।"[1] आजकल तो कहीं–कहीं पेड़ को लगाते तो हैं किंतु उसको बड़ा होने का मौका हीनहीं देता है ।इसलिए कि बढ़ते हुए प्लास्टिक का उपभोग पेड़ों के नाश का कारण बन जाता है । फेंकनेवाले प्लास्टिक पेड़ों की जड़ों को अपने शिकंजे में फंसाता है ।तब वो धरती से पानी और अन्य धातुओं को ग्रहण करने में असफल भी हो जाते हैं ।प्लास्टिक लिपटे कचरे और मलबे ने पेड़ों की जड़ों पर कफ़न लपेट दिया है । "पेड़ खुद मरते नहीं, मारे ज़रूर जाते हैं अर्थात पेड़ की मृत्यु नहीं हत्या होती है ।"[2] यहाँ नष्ट होते हुए हमारे पेड़–पौधें की ओर इशारा है ।

स्वयंप्रकाश की 'बलि' शीर्षक कहानी में गाँव की घनी हरियाली और वनस्पतियों का वर्णन है – "घनी हरियाली थी, जहाँ उसके बचपन का गाँव था । शाल शीशम, आम, कटहल और महुए के पेड़ ।ये बड़े–बड़े पेड़ । पेड़ के नीचे खड़े होकर एकदम ऊपर देखे तो सूरज न दिखाई दे ।चारों तरफ धान के खेत, छोटे–बड़े पोखर और कुछ दूर इच्छा नदी ।लकड़ी–मिट्टी–घास–गोबर के मकान और केले के पेड़, लौकी– कद्दू की बेलें और बैंगन–टमाटर की बाड़ी ।"[3] इस प्रकार पेड़ों से भरे हुए गाँव का चित्रण करते हुए मानव समाज

---

[1] मृदुला गर्ग, इक्कीसवीं सदी का पेड़, मेरे देश की मिट्टी अहा, पृ : 89

[2] मृदुला गर्ग, इक्कीसवीं सदी का पेड़, मेरे देश की मिट्टी अहा, पृ : 96

[3] स्वयंप्रकाश, बलि, आधी सदी का सफरनामा, पृ : 159

पर कहानीकार ने प्रकाश डाला है जो आनेवाली पीढ़ी में प्यार जगाता है । प्रत्यक्षा की 'जंगल का जादू तिल तिल' नामक कहानी में लेखिका ने जंगल के सुन्दर दृश्य को यों उभारती हैं – "पुलिया के नीचे पानी बहता है कल–कल कल–कल ।दूर पेड़ों की छाया साँझ ढले सिमटती–सिहरती है धीमे से फुसफुसाती है पत्तियाँ, अँधेरा उतरता है पत्तियों पर, टहनियों पर, तनों पर जड़ों की मिट्टियों पर, बिरवा की खुली मुट्ठियों पर, आँखों पर ।"[1]किंतु हरियाली से पूरित पेड़–पौधों, पहाडियों व नदी नालों से भरा जंगल आज विजन बनता जा रहा है ।लेखिका कहती हैं कि जंगल अब सिर्फ आँखों में बंद सपना है ।मानव उस पर अपना कब्ज़ा बनाता चला जाता है जिससे जंगली जीव सूखने लगा है । कहती है कि "अब जंगल संगी नहीं है ।अब गाँव भी संगी नहीं है ।अब इंद नहीं है, सरहुल नहीं है । अब पोखर में मछली नहीं है, पेड़ों पर फल नहीं है ।अब खेत बंजर है, अब जंगल भागता है, छिपता है, काले पत्थर वाली चट्टान दरकती है, धरती अब आग उगलती है ।"[2] जंगल की आज की दशा भी कहानी में दर्शायी गयी है ।जंगल में अपना अधिकार जमाने के प्रयास में मानव जंगल को नष्ट भ्रष्ट कर रहा है ।

पशु-पक्षी

पेड़ और पक्षी का रिश्ता बहुत गहरा है, रंगीन है ।यह बंधन आँखों से देखने वाले दृश्य से कहीं सुन्दर है ।पेड़ों का रंगीन होना, पेड़ और पक्षी का रिश्ता, प्रकृति का सुन्दर वर्णन आदि प्रकृति की ओर लौटाने की अभिलाषा के द्योतक है । साहित्य के माध्यम से यह कहना लेखक चाहते है कि प्रकृति से मिल–जुलकर रहने में ही जीवन की सार्थकता है । पशु–पक्षियों के बीच का संबंध हमें सोचने के लिए बाध्य करते हैं जैसे कि "परिंदे सुखी होते हैं, लेकिन वे भी लड़ते हैं पेड़ की एक शाखा विशेष के लिए .....मादा विशेष

---

[1] प्रत्यक्षा, जंगल का जादू तिल तिल, पृ : 53

[2] प्रत्यक्षा, जंगल का जादू तिल तिल, पृ : 51

के लिए..... ।वहां भी लड़ाईयां थीं। कई साल पहले लिए कुछ रूपयों की खातिर मर्द लड़ते.....बच्चों से लेकर, घर के सामने कचरा फेंकने से लेकर बेटा–बहु पर टोना करके तक के अबूझ आविष्कृत कारणों पर औरतें, और मर्द पर काबू रखने या उससे पीटने के लिए पत्नियाँ अपने पतियों से लडती, लेकिन लड़ियाँ बड़ी, कसैली, एकरस, हूहू रातों में आत्मा को, जीवन को जगाए रखने के लिए ज्यादा होती थीं ।लड़कर भी पराया नहीं होता था ।कितनी ही लड़ाई के बावजूद किसी पर किसी का अधिकार खतम नहीं होता था ।"[1] पशु–पक्षियों के संबध में, कहानीकार गहराई से विचार करते हुए दिखाई देते हैं । पेड़ों पर घोंसले बनाकर अंडे देनेवाले पक्षी का अनोखी चित्रण प्रसुत किया गया है ।समकालीन लेखिका अलका सरावगी की 'कहानी की तलाश में' इसका उदाहरण है ।कहानी का पात्र युवक ने यह जानना चाहा कि उस युवक के सामने वाले मकान की लड़की हर दिन कहाँ जाती है । एक दिन वह उस लड़की का पीछा करता है तो तभी जाना जाता है वह एक अंधी गली की ओर ही जाती है ।असल में वह ऑफिस के लिए रोज़ इसी अंधी गली के सामने से ही गुज़रती थी । लेकिन लडकी का पीछा करती हुई यहाँ आया तो उसे लगा कि यह गली सुन्दर है "अंधी गली में घुसते ही वह बहुत हल्की और खुश हो गई – ऐसा मुझे उसे देखकर लगा ।उस गली में दोनों तरफ बहुत पुराने–पुराने पेड़ हैं और वह गली गाड़ियों की आवाजाही बहुत कम होने के कारण बहुत शांत है ।उसके साथ ऊपर देखने से मुझे पेड़ से आती किसी चिड़िया की विचित्र आवाज़ सुनाई दी, जो अब तक मैंने नहीं सुनी थी ।अचानक मुझे एक गिलहरी दिखाई दी, जो पूँछ उठाए यह आवाज़ उठाए वह आवाज़ कर रही थी । उस दिन के बाद मैं कई बार इस गली में शाम को घूमने आया हूँ और हर आवाज़ पर चौंककर मैंने ऊपर देखा है । इसी चक्कर में मैंने एक कठफोड़वा, एक

[1] स्वयंप्रकाश, बलि, आधी सदी का सफरनामा, पृ : 159

पीली चिड़िया, और एक नीली चिड़िया देखी है – बुलबुल, कोयल और तोते मैंने इतने देख लिए है कि वे मेरे लिए चील कौवों की तरह मामूली हो गए हैं ।"[1]

वायु

जल और वायु के बिना जीवन का अस्तित्व नहीं है । जब तक प्रकृति सतुलन में रहती है तब तक वायु और जल शुद्ध और स्वच्छंत रहते हैं ।औद्योगीकरण के तहत कल–कारखानों के जहरीले रायासनिक पदार्थो एवं शहरीकरण से उत्पन्न प्रदूषण की समस्या ने आज इतना गंभीर रूप धारण किया है कि सारी मानव जाति बुरी तरह से प्रदूषण से ग्रस्त है ।इससे केवल मानवजाति ही नहीं तो मनुष्येतर प्राणी भी बेहाल हैं । इससे आज गाँव भी अछूत नहीं है ।पहले गाँव का वातावरण बहुत ही सुन्दर था ।वह सुगंध से भरा हुआ था ।लेकिन आज वहाँ बदबू के कारण चला भी नहीं जा सकता ।स्वयंप्रकाश की 'बलि' नामक कहानी में, नायिका के बचपन में तो गाँव घनी हरियाली से संपन्न था ।लेकिन जल, वायु, जंगल प्रदूषित होने लगा है । नायिका के शहर से वापस आते वक्त उसे गाँव की बदबूदार अवस्था देखकर बहुत ही दुःख होता है जानवरों को भी अधिक ढंग से मारने लगे "कुछ ही देर में वही जाने–पहचाने दृश्य थे । वही कोयला, मैना, केले–कटहल, आम–महुआ, गाँव–जवार, खेत–मैदान, पेड़–गाछ, तालाब, झरने, नदी–पहाड़.....वही ठंडी हवा.... वैसे ही मादक सुगंध.....अचानक उसे लगा, वह अपने आपको बहला रही है..... सुगंध नहीं दुर्गन्ध है .....कहीं कुछ सड रहा है....हवा में कुछ सड रहा है..... जैसे कहीं किसी जानवर की लाश सड रही हो.... ।उसे लगा मक्खियाँ बहुत हैं । डिब्बे में भी ।वे वाकई थी ।उसे लगा उसम बहुत है ।उसे लगा, उसके प्यारे देश ने उसके स्वागत में बांहें नहीं फैलाईं। उसकी मातृभूमि ने उसे उछाह में आकर अंक में नहींफैलाईं। अब वह एक अजनबी की तरह, एक भगोड़े की तरह, एक द्रोही की तरह अपने ही घर में प्रवेश

[1] अलका सरावगी, कहानी की तलाश में, पृ : 10

करेगी ।"[1]स्वयंप्रकाश की कहानी हमारे समय के सामयिक संकटों की खुली अभिव्यक्ति करती है । इसमें वर्तमान समाज का प्रभावी चित्रण मिलता है ।

प्रकृति हमारी माँ है तो संस्कृति हमारी धात्री है । प्रकृति एवं संस्कृति को सुरक्षित रखना मानव का दायित्व है । प्रकृति में सभी चीज़ों का रहना ज़रूरी है । धरती के ऊपर होने वाले सारे प्रतिबद्धों का कारण पृथ्वी का विनाश ही है इसलिए प्रकृति की अवस्थिति में जीना एकमात्र उपाय है ।

निष्कर्ष

संक्षेप में कहा जाए तो इक्कीसवीं सदी का साहित्य लोक चेतना का साहित्य है, नवउपनिवेशवादी–भोग संस्कृति में जिसे हाशियेकृतों की ओर छोड़ा गया है, वे आज केंद्र में आने लगे हैं ।उनकी अस्मिता एवं संस्कृति को स्वीकृति मिलने लगी है ।नवराष्ट्रीयता का मुख्य मकसद प्रकृति केन्द्रित राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण करना है । हाशियेकृतों की संस्कृति में प्रकृति बोध का बोलबाला है । वे किसी न किसी प्रकार अनजाने ही अपने विश्वासों, रीति–रिवाजों एवं रहन–सहन में यह तालबोध गुंजायमान करते हैं ।इसलिए लोक की धुन उनके जीवन के साथ घुलमिल गए हैं, यह सादगी एवं मिट्टी की महक भारतकी अस्मिता है, इसकी खोज आज की कहानियों में सर्वत्र परिलक्षित है ।यह आधुनिकीकरण एवं वैश्वीकरण के प्रति प्रतिरोधात्मक साहित्यिक प्रयोग है ।यह है नवराष्ट्रीयता की सच्चाई भी।

---

[1] स्वयंप्रकाश, बलि, आधी सदी का सफरनामा, पृ : 189

चौथा अध्याय

इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानियों में स्त्री संस्कृति

स्त्री संस्कृति

स्त्री और पुरुष–राष्ट्र निर्माण के दो परस्पर पूरक तत्व हैं।राष्ट्र रूपी गाड़ी को आगे बढ़ाने में दोनों की भूमिकायें महत्वपूर्ण हैं, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। किन्तु इतिहास साक्षी है कि राष्ट्र दरअसल उन पूँजीवादी–चंद लोगों का समूह था जिसमें दलित, आदिवासी तथा अल्पसंख्यक के समान स्त्री कीभागीदारी तथा उनकी पहचान लगभग अदृश्य थी।विविधताओं की उपेक्षा करते हुए राष्ट्रीय–पूँजीवाद की आवाज़ है राष्ट्र के केंद्र में।अतः बहुलता की अवधारणा आज तक चलताऊ मुहावरा होती जा रही है।राष्ट्रीयता की विविधता को समझे बिना राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्र के विकास की कल्पना मुश्किल है।अतः राष्ट्र की भावना का जन्म तब तक नहीं आ सकती जब तक कि सामाजिक–आर्थिक–सांस्कृतिक गैर बराबरी जनता में है।

आज तक की पुरुष वर्चस्व पूँजीवादी स्थितियों में राष्ट्र की मुख्यधारा का ढ़ेका मुख्यतः पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था के हाथ में ही रहा था। स्त्री निरंतर उपेक्षा और शोषण का शिकार होती रही थी। अबला, कमज़ोर और निर्बल कहकर उसका उपहास उड़ाया गया। हर जगह उसे देवी के रूप में पूजा की वस्तू या फिर दासी का दर्जा दिया गया, तो दूसरी तरफ उसके साथ अमानवीय व्यवहार भी किया गया है। दया, ममता, करुणा, क्षमा, वात्सल्य, त्याग एवं समर्पण की मूर्ति देवी के रूप में प्रतिष्ठित करने से इसका उल्लंखन स्त्री को तत्काल कुलटा, पतिता व कलंकिनी बना देता है दरअसल उसे उस मर्यादा में बंधे रहने के लिए बाध्य करती है जो पुरुष प्रधान समाज ने उसे

अपने अधीन रखने के लिए बनाई गई थी।दरअसल पितृसत्तात्मक पूँजीवादी संस्कृति में स्त्री को कमतर करके आंका ही नहीं जाता बल्कि सदियों से उसे मानव के मूलभूत अधिकारों से जैसे स्वयं निर्णय लेने, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, शिक्षा या व्यक्तिगत विकास करने अथवा रोजगार के लिए समान अवसर पाने आदि से वंचित रखा गया है। स्त्री को दोयम दर्जे का नागरिक माना जाता रहा है और दलितों की तरह ही परजीवी बना दिया गया है।औरत के साथ किये जानेवाले यह भेदभाव उसके स्त्री होने के कारण ही होता है, चाहे वह ऊँचे वर्ग की हो या निम्न सर्वहारा वर्ग की, यानी गरीब हो या अमीर।ज़रुर कहा जा सकता है कि इस पुरुष शासित समाज में स्त्री स्वरों को दबाने के अनेक दृष्टांत हमारे धर्मग्रंथों तथा इतिहास के पृष्ठों में बिखरे पड़े हैं जैसे कि मनुस्मृति के उस श्लोक के तथ्य के अनुसार स्त्री कभी स्वाधीन नहीं होती बचपन, युवा और वृद्धावस्थाओं तक वह क्रमशः पिता, पति और पुत्र के अधीन ही रखी जाती है।केवल उसके लिए यही काम अनुशासित किया गया है कि "घर की देख भाल करना, पति–सेवा के साथ–साथ घर के हर सदस्य का ध्यान रखना, घर और उसके सब तरह के हितों के लिए अपना सब–कुछ समर्पित कर देना और बदले में कोई प्रतिदान न चाहना। स्त्री चाहे गृहणी हो या कामकाजी, प्राथमिक तौर पर उसका दायित्व यही है।"[1]इसलिए जानी–मानी नारीवादी लेखिका सिमोनद बुवा ने घोषणा की कि स्त्री पैदा नहीं होती...बल्कि बनती है... यह सभ्यता ही है जो ऐसे जीव की रचना करनी है.....जिसे नारी कहा जाता है।

---

[1] शंभू गुप्त, वागर्थ, सितंबर 2017, पृ : 63

सारी दुनिया में स्त्री की स्थिति एक जैसी ही है।बलात्कार, स्त्री के प्रति हिंसक प्रहार, मार–पीट और रीति–रिवाज में अहेतुकी हिंसा सभी वर्ग की स्त्रियों को झेलनी पड़ती है।किन्तु इतिहास में प्रागैतिहासिक युग की ओर देखे तो परिवार मातृसत्तात्मक था।आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन में नारी को विशेष अधिकार प्राप्त था।वैदिक युग में आर्यों के सबसे पुराने ग्रंथ ऋग्वेद, जो कि हिंदुत्व की बुनियाद माना जाता है, उनमें ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनसे उस युग के समाज में स्त्रियों की उन्नत स्थिति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। उस समय की सर्वोच्च शिक्षा (ब्रह्मज्ञान) प्राप्त करने में भी स्त्रियों पर कोई प्रतिबन्ध न था। वेद और शास्त्रों में पारंगत होने के अतिरिक्त वे ऋचाओं की रचना भी करती थीं । यद्यपि परिवार पितृसत्तात्मक होने पर भी लडकी और लड़के दोनों को अपना जीवन–साथी चुनने की पूर्ण स्वतंत्रता थी।सामाजिक और धार्मिक सभाओं में भी उनका प्रमुख स्थान था।

महिलाओं की स्थिति में गिरावट वैदिक काल के बाद तब से शुरू हुई जब से हिन्दू समाज के उच्च वर्गीय आदर्शों ने पुरुषों पर महिलाओं की पूर्ण निर्भरता तथा उनकी अधीनता की पुरजोर वकालत की जिससे स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व का नामोनिशान भी न रहा। फ्रेडरिक एगेल्स ने अपनी पुस्तक 'द ओरिजन आफ फेमिली प्राइवेट प्रापर्टी' में व्यक्त किया है कि "मातृसत्ता का विनाश स्त्री जाति की विश्व ऐतिहासिक पराजय था।अब घर के अंतर भी

पुरुष ने अपना आधिपत्य जमा लिया।"[1] यहीं से लडकियों की शिक्षा एकदम समाप्त हो गई है। स्त्री के जीवन का दायरा घर की चारदीवारी तक सीमित हो गया। सामाजिक नियम नारी को केवल विवाह एवं संतानोत्पत्ति के अधिकार मात्र ही प्रदान करते थे। वह पूर्णता दासी थी। उसे पुरुष के अधीन बने रहने के संस्कार इस पुरुष प्रधान समाज द्वारा प्रदान किये जाते रहे।शैशव–काल से ही पुरुषों ने अपने प्रति दासत्व, सेवा, संयम जैसे भावों से स्त्रियों की मानसिकता को परिवर्तित करके समाज में स्थापित कर डाला।इस अधीनस्थता की स्थिति ने स्त्री को पुरुष से हीन और पुरुष को स्त्री से श्रेष्ठ घोषित किया, जो युगों–युगों से सभी देशों में दिखाई देता है। इस स्थिति को विश्व में पहले पहल उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान कतिपय नारीवादी बुद्धिजीवियों ने सर्वप्रथम पश्चिम में तोडा।भारत में आधुनिक काल के समय में राजराम मोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर से लेकर महात्मागांधी तक के सुधारकों ने अपने–अपने ढंग से स्त्री–पुरुष समानाधिकारों के लिए आवाज़ उठाई।"यह एक महत्वपूर्ण कार्य रहा कि भारत में स्त्रियों के उद्धार का बीड़ा उठाया पुरुषों ने उन्होंने स्त्रियों के स्वतंत्र व्यक्तित्व के लिए उसके जीवन की बेड़ियों को तोड़ने का कार्य किया।उनका उद्देश्य सचमुच स्त्री–पुरुष समानता ही था।"[2] यह आन्दोलन वास्तव में पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था के विरुद्ध लड़ी जानेवाली लड़ाई है जबकि पुरुष के विरुद्ध लडनेवाला नहीं। जो सदियों से स्त्री के उत्पीडन का मुख्य कारक रही है।इसलिए मशहूर महिला रचनाकार

---

[1] सं. जगदीश चतुर्वेदी, स्त्री अस्मिता : साहित्य और विचारधारा, पृ : 258

[2] डॉ. एन.मोहनन, समकालीन उपन्यास, पृ : 115

अनामिका कहती हैं – "स्त्री आन्दोलन पितृसत्तात्मक समाज में पल रहे स्त्री संबंधी पूर्वाग्रहों से पुरुष की क्रमिक मुक्ति को असंभव नहीं मानता, दोषी पुरुष नहीं, यह पितृसत्तात्मक व्यवस्था है जो जन्म से लेकर मृत्यू तक पुरुषों को लगातार एक ही पाठ पढ़ाती है कि स्त्रियाँ उनसे हीनतर हैं, उनके भोग का साधन मात्र । आन्दोलन की सार्थकता इसमें है कि वहाँ ऊँगली रखे जहाँ–जहाँ मानदण्ड दोहरे हैं, विरूपण, प्रक्षेपण, विलोपन।"[1]

पश्चिम से शुरू हुई नारीवादी आन्दोलन के मूल में नारी के अपने स्वत्व की पहचान है।यह स्वत्व बोध नारी शिक्षा का ही परिणाम है। वास्तव में नारी को पारंपरिक रूढियों, मान्यताओं, अंधविश्वासों के शोषण से मुक्त करके उसके स्वत्व को पहचानकर, स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में समाज में प्रतिष्ठित करने का प्रयास है नारीवाद के पीछे का उद्देश्य।इस चेतना से जागती स्त्री आज समझने लगी है कि उनकी अपनी एक पहचान होती है, जिसे मान्यता मिलना आवश्यक है।प्रतिष्ठा की समानता और शोषण से मुक्ति ही स्त्री को स्त्रीत्व प्रदान कर सकती है। स्त्री, पुरुष सत्ता का विकल्प नहीं बल्कि एक साझा संस्कृति चाहती है। वस्तुतः स्त्री आन्दोलनों ही एक प्रकार से स्त्री लेखन और विमर्श का प्रेरक रहा था, ऐसा लेखन एवं आन्दोलन ने स्त्री के बारे में गहराई से सोचने–समझने के लिए आकृष्ट किया था।किन्तु भूमंडलीकरण और बाज़ारवाद ने इस स्त्रीवादी मुद्दे को और अधिक जटिल बना दिया है।आज भौतिकता की इस अंधी दौड़ में सबकुछ बिकने को है स्त्री

---

[1] अनामिका, स्त्री विमर्श का लोकपक्ष, पृ : 28

सौदर्य भी।मौटे तौर पर कहा जा सकता है कि सामंती समाज में हो या पूँजीवादी समाज में औरत, केवल उपभोग की 'वस्तू'मात्र है।विभिन्न सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप सामाजिक–सांस्कृतिक गतिविधियों में थोडा–सा परिवर्तन होने पर भी निसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि स्त्री आज भी रूढीवादी पुरुष संस्कृति के जंजीर में है। स्त्री से जुडा कोई भी मुद्दा चाहे उसकी अस्मिता, स्वतंत्रता या आरक्षण हो, हमें इस हकीकत का गहरा एहसास होना चाहिए कि हम एक ऐसे समाज में जी रहे हैं जो पूँजीवादी ही नहीं, पुरुष वर्चस्ववादी भी है। यह सही है कि पुरुष के समान हर क्षेत्र में उसकी भागीदारी मिलने लगी है फिर भी समान हैसियत अब भी उसे हासिल नहीं है। इसलिए दुनियाभर में महिला दिवस मनाया जाता है, यह बुलंद करने के लिए वह समान दर्जे की हकदार है।बहुत पढ़ी–लिखी तथा आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर स्त्री को भी दहेज़ के कारण मार डाला जाता है।यह भी नहीं रूढियों से जटिल कुसंस्कृति हरेक स्त्री को गुलाम बना रही है।समाज अभी तक यह मानने को तैयार नहीं है कि स्त्री का भी अपना अधिकार है और वह भी पुरुषों के समान आत्मनिर्भर और स्वतंत्र होकर जी सकती है। सच बात तो यह भी है कि वे चाहते भी नहीं कि महिला खुद अपने पैरों पर खडी हो सके।इस तरह की अनेक दिक्कतों का सामना उसे आज भी करना पड़ता है।स्पष्ट है कि देवी की उपाधि के बंधन को तोडती आज की 'स्त्री' सतत संघर्ष का परिणाम है।जहाँ उसने स्वयं को पुरुष आलंबन से मुक्त एक स्वतंत्र अस्तित्व माना है। वे परंपरा के खोल को तोड़ कर नए नए आयाम स्थापित करने में जुडी है।वे

अब परंपरा एवं रीति–रिवाज़ के नाम पर किसी भी प्रकार का शोषण, दमन व अत्याचार सहन नहीं करती बल्कि अन्याय के खिलाफ पूरी ताकत के साथ संघर्ष करने को तत्पर है।आज की स्त्री इसलिए पुरुषसत्तात्मक–पूँजीवादी संस्कृति से मुक्त अपनी एक अस्मिता को, संस्कृति को निर्मित करना चाहती है, यही स्वर है आज के सहित्य के केंद्र में।

इक्कीसवीं सदी की कहानियों में स्त्री संस्कृति

नारीवादी आन्दोलन से उभर आया स्त्री का स्वत्वबोध आज हिंदी कहानी साहित्य के परिप्रेक्ष्य में एक नया आयाम ग्रहण कर चुका है, वह आज अपने परंपरागत रूप से बिल्कुल अलग है।वह अस्तित्व केन्द्रित अपनी एक नयी संस्कृति तलाशने नारी की कहानी है।हाशिए पर धकेले जाने की पूँजीवादी प्रक्रिया के विरुद्ध खड़े होकर हर तरह की असमानता के खिलाफ खड़ी होती है। स्त्री अब स्वयं को अबला नहीं सबला के रूप में स्थापित करती है।इसलिए रूढीवादी मर्यादाओं, नैतिकताओं एवं परंपराओं में टूटन–फूटन भी होती है। टूटन–फूटन वही करती है जो बदलाव लाना चाहती है।हिंदी साहित्य में समय के साथ स्त्री रचनाकार भी पुरुष के समान लेखन कार्य में कही न कहीं देखी गयी है, किंतु प्रारंभिक रचनाकार जिस पितृसत्तात्मक व्यवस्था में पाली–पोसी गई, परंपरा में ढली उन्हीं के अनुसार अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति करने में तत्पर रही थी।नवोत्थान काल में नारी–मुक्ति एवं उसके अधिकारों के प्रति सजगता लाने के उपक्रम में विभिन्न स्त्री संगठनों तथा पत्र–पत्रिकाओं का प्रकाशन भी हुआ था।भारतेंदु ने स्त्री शिक्षा के लिए 'बालबोधिनी' नामक

पत्रिका का संपादन किया था। वास्तव में आधुनिक हिंदी साहित्य में नारी अधिकारों को वाणी देने वाली सर्वप्रथम महिला होने का श्रेय मीरा को जाता है। इस श्रृंखला की अगली कड़ी के रूप में महादेवी वर्मा आती हैं।महादेवी वर्मा ने अपनी पुस्तक 'श्रृंखला की कड़ियाँ' के द्वारा नारी अधिकार एवं नारी मुक्ति के प्रति जो आवाज़ उठायी थी वह आज स्त्री विमर्श संबंधी प्रथम रचना मानी जाती है। इस बात की स्वीकृति देते हुए प्रख्यात आलोचक प्रो.मानेजर पाण्डेय का कहना है कि "ऐसा लगता है कि नारीवादी और अन्य लेखिकाएँ भी 'श्रंखला की कड़ियाँ' के महत्व से पूरी तरह से परिचित नहीं है। वे सिमोन द बोउवार की किताब पढ़ती है, लेकिन महादेवी वर्मा की श्रृंखला की कड़ियाँ' नहीं क्योंकि वह हिंदी में लिखी गई है, फ्रेंच या अंग्रेजी में नहीं।लंबे अंतराल के पश्चात बाहर समाज में आकर कडवी सच्चाइयों की टकराहट से वस्तुस्थिति से परिचय एवं अनुभव के कारण आज स्त्री लेखन में भी एक नया युग प्रारंभ होने लगा है।अब स्त्री परंपरा व रीतिरिवाज के नाम पर किसी भी प्रकार का शोषण, दमन व अत्याचार सहन नहीं करती बल्कि अन्याय के खिलाफ पूरी ताकत के साथ संघर्ष करने को वह तत्पर है।पितृसत्ता, परिवार,यौनशुचिता आर्थिक आत्मनिर्भरता के पुराने मिथक उसने तोड़े और नये गढ़ने के प्रयत्न में है। इसके लिए वे अनेक पौराणिक एवं मिथकीय पात्रों की पुर्नव्याख्या करती है। मनुस्मृति से खारिज करती है तथा सीता, शूर्पनखा, तथा द्रौपदी आदि के प्रचलित मिथकीय स्वरूप से अलग, एक नयी दृष्टि से इनका विचार विमर्श की जा रही है। वह परंपरा के खोल को तोड़कर यह प्रशन उठाती है कि यह

किसकी संस्कृति है, तथा किसकी व्यवस्था है। यहाँ स्त्री अपनी एक नयी संस्कृति का निर्माण कर रही है। वह अपने समय का सही आकलन करते हुए समृद्ध और विविधता के सृजन कर रही है। इस नयी संस्कृति के निर्माण में स्त्री को समान अधिकार देने की बात करता है तो इसका अर्थ "सबसे पहले उसे एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में मान्यता देना है।बेटी, बहन, पत्नी, माँ की भूमिकाओं के अलावा यह स्थापित करना कि उसका अपना एक नाम है .....पुरुष की तरह उसका अपना एक निज का संसार है .....परिवार है लेकिन अपनी व्यक्तिगत दुनिया भी है।अपनी स्वतंत्र पहचान भी है। इसके साथ ही उसकी एक सामाजिक भूमिका भी है। जिसे हम स्त्री विमर्श की बहसों में नजर अंदाज कर जाते है।"[1]इस दृष्टि को केंद्र में रखते हुए लिखनेवाले इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानी रचनाकारों में मनीषा कुलश्रेष्ठ, मैत्रेयी पुष्पा, मृदुला गर्ग, चंद्रकांता, चित्रा मुदगल, कविता, नासिरा शर्मा, मालती जोशी, ममता कालिया, इंदिरा दांगी, अल्पना मिश्र आदि प्रमुख है। इनकी कहानियाँ अनुभव की सटीकता के कारण अन्य पुरुष लेखकों से हमेशा अलग खड़ी होती है। इसलिए कि नारी लेखन नारी मन की अभिव्यक्ति हैं, तो पुरुष नारी जीवन का केवल द्रष्टा मात्र है।स्त्री जीवन का जितना सटीक वर्णन महिला लेखन में प्रस्तुत किया जाता है उतना पुरुष लेखन में नहीं देखा जा सकता है। यही है अनुभव और अनुमान के बीच का फर्क। इस अनुभव को प्रतिरोध के रूप में बदलकर अपनी अस्मिता को, स्वत्व को बनाये रखने का एक नया प्रयास है इक्कीसवीं सदी की कहानियों में। इस दौर में महादेवी वर्मा के ये

---

[1] नमिता सिंह, स्त्री प्रश्न, पृ : 184

शब्द अधिक महत्वपूर्ण लगता है कि "हमें न किसी पर जय चाहिए, न किसी से पराजय।न किसी पर प्रभुता चाहिए, न किसी का प्रभुत्त।केवल अपना वह स्थान, वह स्वत्व चाहिए जिनका पुरुषों के निकट कोई उपयोग नहीं है परन्तु जिनके बिना हम समाज का उपयोगी अंग बन नहीं सकेंगी।"[1]

पितृसत्तात्मक व्यवस्था का विरोध

'पितृसत्ता' एक ऐसी सामाजिक घटना तथा हज़ारों सालों से चली आई ऐसी व्यवस्था है जिसमें पुरुषों का वर्चस्व रहता है।पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष का स्थान नारी से श्रेष्ठ है।इसलिए स्त्री की अधीनस्थता सर्वाविदित है। पितृसत्ता ने ही स्त्री को अपना उपनिवेश बनाया तथा उन्हें आत्महीन, स्वत्वहीन, वाणीहीन भी किया है।सदियों से पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था द्वारा स्त्रियों के उत्पीडन, शोषण प्रक्रिया के मूल में दोष सिर्फ पुरुषों का ही नहीं, उनका अहम और दंभ नहीं है, वरन उसके पीछे एक पूरी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है, सामाजिक आर्थिक संरचना है। प्रभाखेतान के अनुसार –"किसी भी समाज में एक विशेष प्रकार की संस्कृति दूसरी संस्कृतियों पर हावी होने की चेष्टा करती रहती है।इसी प्रकार विचार–जगत में भी कुछ विचार दूसरे विचारों की तुलना में ज़्यादा प्रभावशाली माने जाते हैं।यह वैचारिक महिमामंडन सांस्कृतिक नेतृत्व को स्थापित करता है।ग्रम्शी ने इसे ही 'वर्चस्व' की संज्ञा दी और इसे समझना किसी भी समाज के सांस्कृतिक जीवन के लिए आवश्यक

[1] महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियाँ, पृ : 23–24

माना है।यह बात पितृसत्ता पर भी लागू होती है।"[1]किंतु स्त्री की नयी पहचान ने पितृसत्ता को नकार कर रही है, उस सत्ताद्वारा निर्मित सारे नियमों एवं बंधनों के प्रति सवाल उठा रही है।वह भोग्य वस्तु से अपने स्वत्व को बनाने की प्रक्रिया में है।जिसमें पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में बनायी हुई सारी पुर्वनिर्मित स्त्री विरुद्ध व्यवस्थाओं को तोडना ही है।

परिवार में स्त्री

परिवार

परिवार मानव जाति की मूलभूत इकाई है। जब मानव ने सम्मिलित रूप से रहना आरंभ किया, तभी से यह अस्तित्व में है।इस परिवार रूपी गाड़ी के दो पहिए हैं पति और पत्नी।एक की ज़रा सी खराबी भी इस गाड़ी को बेकार बना सकती है।परिवार संबंधी परंपरागत धारणाओं का नकार आज के लेखन की महत्वपूर्ण विशेषता है। इस धारणा के अनुसार पुरुष इस परिवार का स्वामी है, स्त्री दासी।पुरुष के विशेषाधिकार है, स्त्री अधिकारहीन।अतः हमारे यहाँ परिवार का ढाँचा पितृसत्तात्मक है।ये परिवार जनतांत्रिक आधारों पर नहीं बल्कि पिता–पुरुष–पुत्र के वर्चस्व पर आधारित होते हैं।परिवार ही नहीं समाज, संस्कृति, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में पुरुष का ही वर्चस्व है।

परिवार और स्त्री

---

[1] प्रभाखेतन, उपनिवेश में स्त्री, पृ : 40

घर–परिवार और विवाह स्त्री को सुरक्षा प्रदान करने वाले साधन माने जाते रहे हैं किंतु इसी घर और परिवार में उसे कैद कर उसकी इच्छाओं, आकांक्षाओं की समाधि बना दी जाती है। यहाँ स्त्री का स्थान केवल सेविका के रूप में है। अतः पत्नी को पूर्णतः पति के प्रति समर्पित कर पति का पूजन करना चाहिए । क्योंकि वही उसका परमेश्वर है तथा पतिव्रत धर्म का पालन करने में ही है एक स्त्री के जीवन की सार्थकता।यहाँ स्त्री की अपनी व्यक्तिगत सुख सुविधाओं की उपलब्धी कहीं नहीं मिलती थी।पर कोई भी उसकी आशा आकांक्षाओं की ओर ध्यान भी नहीं देता था।उसे केवल सबकी इच्छानुसार काम करने की मशीन मानी जाती है।बदले में हमेशा उपेक्षा और तिरस्कार की दृष्टि ही प्राप्त होती है।स्त्री इसे अपनी नियति मानकर पुरुष की दासता स्वीकार करती रही। इस दमन व शोषण का प्रभाव स्त्री जीवन के हर पक्ष पर देखने को मिलता है।वह हमेशा पुरुषों के हाथ की कठपुतली बनी हुई थी।किंतु आज की शिक्षित, चेतनाशील नारी अपने अधिकारों को पहचानती है इसलिए सारे जंजीरें तोड़कर निकलने के लिए तैयार हुई है।अपनी अस्मिता को बनाए रखते हुए परिवार को बनाए रखने में वह प्राथमिकता देती है। चंद्रकांता की कहानी 'कोठे पर कागा' में निम्मो का जीजा जो है अपनी ज़रूरत के अनुसार पत्नी के पास आकर दो–एक रोज छोटी–छोटी ज़रूरतें पूरी कर दुबारा आने का वादा करते हुए फिर चला जाता है।पति होने की कोई जिम्मेदारी नहीं निभाता है, अपने हित में सिर्फ पत्नी का इस्तेमाल करना चाहता है।तो निम्मो अपने विद्रोह भरे स्वर में कहती है, –"जीजा अपने मूड के हिसाब से दीदी का

इस्तेमाल करता है।ऐसा ही होता आया है सदियों से औरतों के साथ। आगे भी होता रहेगा अगर सभी लडकियाँ दीदी जैसी हुईं.....।"[1]स्पष्ट है कि परंपरा से पति पत्नी का अपने इच्छानुसार शोषण करता आया है।पत्नी इसे सहती भी आई है।चूँकि स्त्री आज अन्याय के प्रति सतर्क दिखाई देती है।

वर्तमान ज़माने में स्त्री स्वतंत्रता की आकांक्षी है।पारिवारिक या कामकाजी नारी की छवि से परे वह अपनी निजता की एक स्वतंत्र पहचान बनाने के लिए अधिक संघर्षरत है।मृदुला गर्ग की कहानी 'हरीबिंदी' की नायिका अपने पति दिल्ली चले जाने से विरहानुभूति का नहीं बल्कि मुक्ति का ही अनुभव करती है। पति की अनुपस्थिति के दिन वह पुरुषीय सत्ता से अलग जीना चाहती है। इसमें वह अपनी ख़ुशी खोजती है।घडी लगाकर सोना, आठ बजे उठना, सिनेमा देखना, घूमना आदि में अपना अस्तित्व समझती है।

औरतों की आज़ादी और उनकी समानाधिकारों की माँग ने दांपत्य संबंधो के पारिवारिक ढाँचे को तोड़ दिया है। महिलाएँअब अपने पति के सारी की सारी गलतियों को चुपचाप सह नहीं करती है।अस्मिता की पहचान एवं आर्थिक स्वतंत्रता से पूर्ण स्त्री में एक प्रकार की सुरक्षा और आत्मसम्मान की भावना को पैदा हुई है।जो पहले हमारे पितृसत्तात्मक रूढीवादी समाज में 'नायकत्व' के टकराओं का कारण बन गया है।स्त्री के ऊपर होने वाले सारी की सारी अनीतियों के प्रति आक्रोश उठाने लगी तो उसमें समझौते का भाव कम हो गया।चंद्रकांता की 'विदागीत' की प्रमोदिनी भी अपने स्वत्व के प्रति, अपने

---

[1] चंद्रकांता, कोठे पर कागा, पृ : 119

अधिकारों के प्रति जागरूकता दिखानेवाली है।वह पति या सास–ससुर के अन्यायपूर्ण व्यवहार को सहने में नारी को ही दोषी मानती है।इसलिए चुपचाप अत्याचार सहती बहन भाविनी के प्रति संकेत कर कहती है,"रोना एक आदत है हम सबकी।सास या पति मारे तो उनसे अलग हुआ जा सकता है।अपने हाथ से काम करनेवालों के लिए मार सहना ज़रूरी क्यों है?"[1] यहाँ प्रमोदिनी जैसी नारी सिर झुककर ससुरलवालों के अमानवीय अत्याचार सहना स्वीकार नहीं करती है।

नारी में सही समय सही ढंग से निर्णय लेने की चेतना आ गयी है।

लडका-लडकी भेदभाव

स्त्री की असमानता का मूल स्वर परिवार से ही शुरू होता है इसका मूल कारण पितृसत्ता ही रही है। समय बदल गया साथ ही समाज में भी परिवर्तन आ गया कि नारी ने विविध क्षेत्रों में प्रवेश कर अपनी कार्यक्षमता का परिचय दिया परंतु आज भी हर कहीं उसका स्थान पुरुष से दोयम दर्जे का ही है। कहने तो स्त्री को समाज अधिकार एवं अवसर देने की नीतियों का प्रावधान हो गया लेकिन पुरुषसत्तात्मक पारंपरिक मानसिकता में बदलाव नहीं हुआ है।परिवार में कन्या न चाहते हुए पुत्र प्राप्ति की आकांक्षा करता है।बेटे का जन्म समाज में प्रतिष्ठा से जुड़ता है तो लडकी का जन्म हीनदृष्टि से देखा जाता है। अतः जन्म से ही बेटी को अनचाही सन्तान मानी जाती है।तथा

---

[1] चंद्रकांता, विदागीत, काली बर्फ, पृ : 44

उसपर अत्याचारों की श्रंखला आरंभ हो जाती थी। पुत्र को 'कुलदीपक' या 'वंशचालक' के रूप में स्वीकारते समय बेटी के संबंध में बुरी तरह की कहावतें प्रचलित हैं।इसलिए कि बेटी हुई है तो कर्ज और दहेज के रूप में संपत्ति ले जाएगी।दहेज प्रथा के कारण बेटी का विवाह माता–पिता के लिए हमेशा परेशान करनेवाली बात है जो आज भी विकराल समस्या बनी हुई है।

परिवार में लडका लडकी में हमेशा लडके को प्रमुख स्थान देता है। मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानी 'फांस' में लगातार चार पुत्रियों के जन्म होने से पति पत्नी के प्रति हमेशा क्रुद्ध दिखाई देता है। पुत्र का जन्म न देने की वजह से पत्नी से वह बुरा व्यवहार कर लेता है तथा अन्य स्त्रियों के साथ संबंध रखने के लिए भी तैयार हो जाता है, फिर भी पत्नी अपनी बेटियों के लिए सबकुछ चुपचाप सहन करती है। उसकी गिरती सेहत के प्रति भी वह व्याकुल नहीं है । पति का कहना है – 'कल की मरती हो तो आज मर ले।तूने दिया ही क्या हमें? चार–चार छोरियों के सिवा। तीन तो जस–तस ब्याह दीं। वे दांत किटकिटाते "अब ये चौथी इसे मैं कुएं में फेंक आऊँगा।अब और कर्जा लेना मेरे बस का नहीं।"[1]अपने प्रति बाप–माँ में होनेवाले इस संवेदनाहीनता को देखकर लडकी अवंतिका का चिंतन महत्वपूर्ण है कि – 'बुढ़ापे की औलाद में क्या लड़के ही प्यार होते है?' उनका यह प्रश्न पुरे वर्चस्ववादी वर्ग पर ही है जहाँ लड़के लड़कियों के प्रति भेद–भाव चलते आ रहे हैं।

---

[1] मनीषा कुलश्रेष्ठ, फांस, पृ : 54

मैत्रीय पुष्पा की कहानी 'आवारा न बन' में नीलू दसवीं कक्षा के बाद बॉक्सिंग पढना चाहती है किंतु उसका परिवार इसके लिए राजी नहीं होती। नीलू की पापा आर्मी में है, वे लड़कियों के बाहर निकलने के पक्ष में नहीं है।उनका विश्वास है कि धरती और स्त्री की रक्षा मर्द ही कर सकता है अतः एक स्त्री हमेशा पुरुष के अधीन में उसकी कल्पना के अनुसार रहना काफी है।नीलू की माँ भी इस परंपरा को सहर्ष स्वीकार करनेवाली है तो आधुनिक नारी इसके खिलाफ आवाज़ उठाना चाहती है।नीलू प्रश्न करती है – "क्यों नहीं हो सकता मेरे लिए कुछ? सबकुछ तो इस घर में पापा के बिना होता है।खेत बोए जाते हैं पशु पाले जाते हैं, शादी–ब्याह तक तय किए जाते हैं, कुत्ते–बिल्ली की रोटी डाली जाती है, भैया का मन चाहा होता है, मम्मी का लाना–जाना चलता है।मेरे लिए पापा का नाम रिज़र्व होता है, सो क्यों? बस मुझे रोकने के लिए?"[1] एक सामाजिक तथ्य की ओर लडकी ने इशारा किया है जहाँ बाकी सारे लोग अनुमति के बिना कोई कार्य कर सकते हैं वहाँ परिवार में लडकी को अपनी छोटी–मोटी बातें चलाने के लिए घरवालों की अनुमति लेनी पड़ती है।आगे चलकर और एक संदर्भ में नीलू इस भेदभाव के खिलाफ अपनी अध्यापिका से कहती है कि – "हमारे यहाँ लडकी को परिवार की इच्छा के खिलाफ जाने पर रोकने का विधान तो है, लेकिन मार देने की सहूलियत बहुत ज़्यादा। आप अखबार नहीं पढती? रात के समय लडकी अगर देर से लौटी तो संदेह के घेरे में डालकर डंडों से पीट पीटकर मार दी जाएगी।पुलिस तक जाना भी गाँव के लोग गुनाह समझते हैं, क्योंकि लडकी को उसके किए

[1] मैत्रेयी पुष्पा, आवारा न बन, पियरी का सपना, पृ : 42

की सजा मिलनी ही चाहिए।"[1] प्रस्तुत कहानी में नीलू एक विद्रोही नारी जैसे सामने आती है। वह पूरे समाज में प्रचलित असमानता को देखकर आक्रोश करती है।अपने पर होनेवाले उत्पीडन और अन्याय को चुपचाप सहन नहीं करती।इसलिए निरंतर आवाज़ उठाती रहती है।

कमल कपूर की कहानी 'साक्षी के बाद' मेंसाक्षी इसलिए एक लडकी को जन्म देना चाहती नहीं है कि अपने बचपन में ही एक लडकी होने के नाते बहुत अधिक सह लिया है तो साक्षी का कहना है "संघर्षों की आग में झोंकने केलिए एक और लडकी को मैं दुनिया में नहीं ला सकती।"[2] स्पष्ट है कि इतने आधुनिकता होने पर भी पारंपरिक रूढ़ीवादी चिंतन में कोई बदलाव नहीं आया है इस दृष्टि के प्रति गहरी चोट लगाती है लेखिका।

इक्कीसवीं सदी में प्रवेश कर चुका है, पर भारतीय नारी आज भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था के कठघरे से पूर्ण रूप में मुक्त नहीं हुई है।वे आज भी अपने लिए बनाए गए सारे नियमों एवं रीति रिवाज़ों का पालन करती रही है अर्थात धर्म–ग्रंथों के आधार पर स्त्री क्या करना, क्या नहीं करना है, किस प्रकार समाज में रहना चाहिए, स्त्री के लिए क्या गुण होना है वगौरह जितना नियम समाज के नियामक पुरुष द्वारा निर्धारित किया गया था इन सबका अनुसरण अपना कर्तव्य समझता है। साथ ही साथ हज़ारों साल से स्त्री ने जो देखा, परखा और अनुभव किया इन्हें दूसरी औरत पर शासित करने का प्रयास भी किया जो पीढ़ीतर पीढ़ी चलती चली आई है तथा स्त्री समुदाय के संस्कार

---

[1] मैत्रेयी पुष्पा, आवारा न बन, पियरी का सपना, पृ : 40

[2] कमल कपूर, साक्षी के बाद, पृ : 23

के रूप में दबायी गई है। बेटी को बोझ तथा पराया धन समझना, शिक्षा और लालन–पालन में बेटा–बेटी में भेदभाव करना इन सबके पीछे औरत के मस्तिष्क में स्थायी रूप से स्थित पितृसत्तात्मक मानसिकता ही है। वास्तव में गलती तो उस वर्चस्व वादी परंपरागत संस्कार की है जो हजारों सालों से औरतों को पढाया जाता रहा है, न कि औरतों की।इस पुरानी मानसिकता से नियोगित होने के कारण एक औरत दूसरी औरत की दुश्मन होती है।लडकी थोड़ी बड़ी होती है तो तब से उस पर तरह–तरह के दबाव बनाना तथा बंधन लगाने की कोशिश करती है जबकि बेटे को वह सब तरह की छूट दे देती है। वह निरंतर बेटी के अन्याय को चुपचाप सह लेने की आदेश देती रहती है।बेटी को सेविका बनने के संस्कार दिए जाते समय बेटे को सारे का स्वामी बनने का।केवल माँ ही नहीं घर की अन्य महिला महाजन जैसे कि दादी, नानी, ताई और भाभी भी समाज की अन्यायपूर्ण व्यवस्था को चुपचाप पालन करते रहने की प्रेरणा देने लगती हैं।इस मानसिकता में परिवर्तन करके चेतना लगाने का कार्य आज कहानीकार करते आ रहे हैं।

कमल कपूर की 'आधे न अधूरे' में सास बिना कोई शंका से बच्चा न होने का ज़िम्मेदार पुत्र पर नहीं बहु को ठहराया जाता है।बच्चा न होने के कारण बहु अंकिता का अमानवीय शोषण करते हैं, माँ कहती है "औलाद को जन्म दिए बिना औरत अधूरी होती है, और दुनिया का कोई मर्द अधूरी औरत के साथ रहना पसंद नहीं करता।अमित हमारा इकलौता बेटा है, अगर तुम हमें

वारिस न पाई, तो हमें कुछ और सोचना पड़ेगा।"[1]यहाँ सास एक स्त्री होने के नाते भी दूसरी स्त्री के दुःख को समझ नहीं सकती।बिना पूछा वह पूरा दोष बहु पर ठहराई जाती है। मधु कांकरिया की कहानी 'अपराजिता' में अपर्णा पढ़ी लिखी बहु है।अपने जी भरकर पति परिवारवालों की सेवा करने पर भी इन्हें कभी खुश न कर पाई।सास से दिन रात गालियाँ सुने, उसके ही बच्चे के मन में इन लोगों ने उसके खिलाफ नफरत भर ली ही तो कई दिन बच्चे उससे बात तक नहीं करते।इस क्रूरता को सुनकर अपर्णा की सहेली विद्वेष उठाते हुए कहती है – "स्त्री होकर भी स्त्री की शत्रु क्यों है अप्पू की सास, वह भी अपनी बहु की?"[2] मैत्रेयी पुष्पा की कहानी 'आवारा न बन' में नीलू के ऊपर किसी लडके ने दुर्व्यवहार करने पर वह उसे बैल की तरह पीटा है। किंतु यह बार माँ नीलू को ही दोषी ठहराती है क्योंकि वह लडकी है। इस पर प्रश्न करती है नीलू – "मम्मी, मैंने क्या गलत किया? लडके की हरकतें चुपचाप सह लेती? गालियां सिर झुकाकर सुन लेती? बॉक्सिंग फिर किस लिए सीखी? बस इनाम जीतने के लिए।"[3]इस तरह कहे तो औरत का जीवन दुखी बनाने और उसकी दीन–हीन स्थिति के लिए स्त्री भी स्वयं जिम्मेदार है।

सामाजिक क्षेत्र में

शिक्षा

---

[1] कमल कपूर, आधे न अधूरे, पृ : 36

[2] मधु कंकरिया, अपराजिता, पृ : 17

[3] मैत्रेयी पुष्पा, आवारा न बन, पियरी का सपना, पृ : 47

मनुष्य को विवेकशील बनाने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है जो शिक्षा से ही प्राप्त होता है।शिक्षा के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके वह अपने को मानवीय गुणों से संपन्न बनाता है।जिस राष्ट्र में शिक्षा का प्रसार अधिक होता है उसकी प्रगति भी दुतगति से होती है।राष्ट्र या समाज की गतिशीलता में स्त्री–पुरुष दोनों महत्वपूर्ण अंग हैं।उसमें एक की प्रगति को रोकते हुए दूसरे को प्रोत्साहन देना अनुचित ही है। अर्थात शिक्षा नारी जीवन की अभिन्न चीज़ है।समाज में अपने स्वत्व को कायम रखने के लिए स्त्री की शिक्षा तो अवश्य होनी चाहिए।

आधुनिक युग के आस–पास शिक्षा से नारी के दृष्टिकोण में काफी परिवर्तन आया है, इससे उसको अपने स्वतंत्र अस्तित्व एवं व्यक्तित्व का बोध हो गया।पुरुषों से वह हीन नहीं है, कम दर्जे की नहीं है।अतः उसे पुरुषों के समान अधिकार मिलना चाहिए, यह आग्रह वह रखने लगी।अधिकारों के साथ ही शिक्षा द्वारा अपने कर्तव्यों के बारे में भी उसमें जागृति निर्मित हुई।नारी को अपने अस्तित्व और स्वत्व बोध का विश्वास और पहचान देने के कारकों पर ध्यान दिया जाए तो सबसे पहले जो पहलू उभरकर आता है वह है शिक्षा।किंतु इस नारी शिक्षा के अर्जन में समाज एवं परिवार द्वारा कई रुकावटें नारी के ऊपर दबाती रहती हैं। जितने प्रगति समाज में होने पर भी नारी संबंधित चिंतन में अब भी बदलाव न के बराबर है।यह वर्ग नारी शिक्षा के प्रति उदासीन दिखाई देता है। उन्नत शिक्षा प्राप्ति के लिए जब एक लडका निकलता है तो जहाँ पुरुष को आसानी से सहमति मिल जाती है वहीं जब एक

लडकी उसी की उम्र की उसी के बराबर घर से बाहर निकलकर पढना चाहती है तो उससे कहा जाता है कि तेरी शादी होकर दूसरे घर जाना है । तो ज़्यादा पढने की ज़रूरत नही। तुझे घर से बाहर नहीं निकलना चाहिए।घर का काम–धंधा सीखना काफी है।क्योंकि लडकी पराया धन है।आज इस पुरुषवर्चस्वादी मानसिकता को वह तोड़ रही है।कई कठिनाइयाँ होते हुए भी नारी ने शिक्षा हासिल की है, जिससे उसमें काफी परिवर्तन आया है।वह अब किसी का गुलाम नहीं रही है।शिक्षित होकर अपने पाँव पर खडी होने में सफल हुई है।अपने सीमित दायरे से निकलकर प्रगति की ओर अग्रसर हो रही है।फिर भी काफी प्रतिशत लडकियाँ चाहते हुए भी आगे की ओर बढ़ नहीं सकती हैं।अब भी वे सामाजिक बंधनों से मुक्त नहीं हो पाई हैं। इसके पीछे समाज की स्वार्थता भी है।शिक्षा से नारी के दृष्टिकोण में परिवर्तन ज़रूर होगा तो अपने अधिकार समझकर कहीं समझौता के लिए तैयार नहीं होगा। वैसे ही शिक्षित नारी आज अपने अस्तित्व बोध और पहचान में समझौता अस्वीकार करती है।वर्तमान कहानी में भी आधुनिक विचारों से प्रभावित नारी दृश्यमान है।चंद्रकांता की कहानी 'नानी तुम....' में नायिका प्रिया, जो उच्च शिक्षित युवती है वह परंपरागत विचारों की विरोधी है।नानी जब उसे विवाह करने का आग्रह करती है तो वह तिरस्कार करती है क्योंकि वह आगे पढ़ना चाहती है।उसका कहना है, "मुझे तो अभी अमरीका जाना है, पढने के लिए। नानी, मैं तेरे आकाश के तारों पर कमंद फेंकना चाहती हूँ।मेरे पैरों में बेड़ियाँ मत डालो।"[1] चंद्रकांता की और एक कहानी 'सच और सच का फासला' जिसमें नायिका प्रेमा अपनी

[1] चंद्रकांता, नानी तुम, सूरज उगने तक, पृ : 62

अन्य बहनों जैसी अन्याय को सहनेवाली नहीं है।वह अपनी स्वतंत्र जिंदगी जीना चाहती है इसलिए वह भाई का सशक्त विरोध होते हुए भी शिक्षा संपादन करने के लिए तैयार होती है।भाई से स्पष्टता से कहती है, – "आप जिस डर से मुझे घर में कैद करना चाहते हैं, वह डर आपको मेरे घर में बैठने से भी सताता रहेगा।क्योंकि आप दिन भर बाहर रहते हैं और मैं चार–दीवारी में बंद रहकर भी पहरे तोड़ सकती हूँ, अगर मुझे वैसा कुछ करना हो तो।"[1]परिवारवालों का मानना है कि पढने–लिखने तथा बाहर जाने से लडकियाँ बिगडती हैं।तो ज़्यादा पढने की ज़रूरत नहीं, इस पुरुषसत्तात्मक मानसिकता के खिलाफ आक्रोश करते हुए अपने अधिकारों का समर्थन देती हैं वर्तमान नारी । शिक्षा उनमें आत्मविश्वास जगाने का साधन है।

स्वार्थी पुरुष नारी को घर रूपी पिंजडे में हमेशा बंद रखना चाहता है।लेकिन सतर्क, विवेकी नारी घर में बंदिनी बनना नहीं चाहती।पुरुष वर्ग की स्वार्थ लिप्सा के विरुद्ध आवाज़ उठानेवाली नारी का विद्रोह ममता कालिया की 'दूसरी आज़ादी' नामक कहानी में तमन्ना के ज़रिए जिक्र किया है।तमन्ना का पति यही चाहता है कि वह घर का कार्य संभालें और धर्मग्रंथों को पढ़कर रहना है केवल सही पत्नी का दायित्व यही है। यहाँ पति वर्चस्ववादी वर्ग के प्रतीक रूप में सामने आता है। तो आगे पढने की अनुमति मात्र नहीं है। पति के ऐसे व्यवहार से तमन्ना का मन आहत हो जाता है।ऐसे माहौल में वह निर्णय लेती है कि ज़रूर आगे पढेगी। 'आखिर इसमें क्या बुराई है।'– यह

---

[1] चंद्रकांता, सच और सच का फासला, सूरज उगने तक, पृ : 136

चिंतन आत्मनिर्णय लेनेवाली सचेत नारी की है।वह पुरानी नारी जैसे पति के अधीन में चुप रहकर ज़िंदगी जीने को तैयार नहीं है।मैत्रेयी पुष्पा की कहानी 'आवारा न बन' में रूढ़ीवादी मानसिकता रखनेवाले परिवारवालों का विश्वास यह है कि लडकी की ज़िन्दगी पुरुष के लिए है, उसकी सेविका बनने के लिए है तो ज़्यादा पढने की आवश्यकता नहीं है। एक अच्छी पत्नी के लिए घर का काम, भैंस का काम, तथा खेत में भी काम करना काफी है।कहने को पापा आर्मी में है लेकिन संकुचित दृष्टि को लेकर चलनेवाला है।इसलिए अपनी बेटी को बॉक्सिंग पढने के लिए तैयार नहीं होता है।यहाँ अपने अधिकारों के प्रति सतर्क दिखाने वाली नीलू पूरी ताकत से पूछती है – "करती तो हूँ घर का काम, भैंसों का काम, खेत में भी काम। तुम मेरा एक काम नहीं कर सकतीं कि मुझे पढने जाने दो। मेरा कसूर क्या है।"[1]नमिता सिंह की कहानी 'एक बेताल कथा ओर' की नायिका कल्पना पढ़ी लिखी है।बी.ए. पास करने के बाद वह एम.ए. करना चाहती है। लेकिन कल्पना की माँ–बाप उसे आगे पढने को चाहता नहीं वे उसकी शादी कराना चाहते हैं।शादी के लिए तो उसका ग्रेजुएट होना ही काफी था।इसलिए कि – "ज़्यादा पढ़ी–लिखी होने से कल्पना का दिमाग और ऊँचा चढ़ जाता और लडका ढूँढने में परशानी होती।"[2] इस प्रकार पितृसत्तात्मक व्यवस्था किसी न किसी प्रकार नारी के पैरों को बाँधना चाहता है।

वैवाहिक व्यवस्था के प्रति विरोध

---

[1] मैत्रेयी पुष्पा, आवारा न बन, पियरी का सपना, पृ : 41

[2] नमिता सिंह, एक बेताल कथा ओर, पृ : 144

मनुष्य के सभ्य समाज में स्त्री–पुरुष के दांपत्य जीवन की सामाजीकृत व्यवस्था विवाह संबंध है। इस विवाह संबंध को एक पवित्र बंधन भी माना गया है। अतः धर्म शास्त्रों में विवाह मनुष्य जीवन का सबसे महत्वपूर्ण और अनिवार्य संस्कार माना जाता है। जो दो परिवारों को एकता के सूत्र में बाँधने का कार्य करता है। विवाह के संबंध में रामविलास शर्मा की मान्यता यह है कि "शादी स्त्री–पुरुष के प्रेम के अलावा और किसी आधार पर नहीं होनी चाहिए।"[1] कहने का मतलब यह है कि हमारे यहाँ आज भी विवाह व्यक्तिगत नहीं है, बल्कि पारिवारिक निर्णय पर आधारित है। शिक्षा और आर्थक दृष्टि से समर्थ महिलाएँ भी विवाह तथा संतान प्राप्ति के मामले में आत्मनिर्णय के अधिकार से वंचित हैं। विवाह के लिए लड़कियों की इच्छा की अवहेलना करना और कुलवंश की इज्जत के नाम पर उन्हें दबाकर रहने का संस्कार देना आज भी अच्छे घरों का लक्षण माना जाता है। इसलिए विवाह पिता की इच्छा पर जात–नक्षत्र देखकर होता रहता है। उसमें स्त्री का अपना कोई निर्णय लेने का अधिकार नहीं है । यह प्रथा हमेशा स्त्री विरोधी ही रह जाती है। थोपे गये विवाह के परिणामस्वरूप पति एवं पत्नी के बीच जल्दी ही घृणा का भाव होने लगता है और दोनों में प्रेम की कमी आने लगती है। अंततः इस दासता को वह अपनी नियति मानकर ज़िन्दगी जीती जाती है। निश्चित रूप से समाज के इस पुरुष वर्चस्ववादी ढाँचे को तोड़े बिना स्त्री मुक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती है। इसलिए स्त्री, दुनिया में सब कहीं स्त्री के प्रति अपनाए गए दोहरे मानदण्डों की भर्त्सना करते हुए अपने स्वत्व को कायम

---

[1] रामविलास शर्मा, स्त्री अस्मिता साहित्य और विचारधारा, पृ : 110

रखने का प्रयास कर रही है तो विवाह संस्था की परंपरागत मान्यतायें शिथिल पड़ने लगीं। स्त्री इस काल में विवाह को जन्म जन्मांतर के संबंधों को नहीं मानी जाती है, निर्णय स्वयं ले जाती हैं। विवाह के अवसर पर स्त्री स्वयं को अब जाति, वर्ग एवं आयू के बंधनों में बाँधने के लिए तैयार नहीं है। बल्कि अपने वैवाहिक जीवन को स्वेच्छा से परिभाषित करने की भूमिका प्रदान की है। महिला लेखिका कविता की 'मेरी नाप के कपडे' कहानी में नायिका कल्पना रवि नामक युवक से प्रेम करती है। यह सुनकर घरवालों ने उसकी इच्छा के बिना दूसरी शादी तय की है। किंतु कल्पना अपना निर्णय में दृढ़ता के साथ खडी होती है, कहती है – "मुझसे पूछे बिना यह क्यों हुआ । यह जानते हुए भी कि मैं किसीको पसंद करती हूँ । उसके साथ रहती है।"[1] बाद में अपने घरवालों को छोड़कर वह रवि से विवाह करती है । अपने जीवन का पूरा समय किसके साथ जीना है इसका निर्णय वह खुद लेती है, यहाँ कल्पना किसी के लिए, किसी भी शर्त पर भी अपने प्रेम को छोडती नहीं। अपने अधिकार को वह स्वयं पहचानती है।

भारतीय संस्कृति के अनुसार विवाह के बंधन में ही स्त्री का भविष्य सुरक्षित माना जाता है। तो किसी न किसी प्रकार अपने परिवार के बोझ को नीचे उतारने के लिए माँ–बाप हमेशा प्रयत्न करते रहते हैं। वे कभी कभी लडके की ब्याह चलाने के लिए बेटी को पहले ही उसकी इच्छा के बिना शादी करवाते हैं। अवसर जो भी हो शादी के वक्त लडकी की राय नहीं पूछी

---

[1] कविता, मेरी नाप के कपडे, पृ : 82

जाती है । मालती जोशी की 'रेतमहल' नामक कहानी में भी नायिका मीरा को अपनी इच्छा के बिना शादी करवाने को तैयार होनेवाले परिवार के सम्मुख सक्रिय प्रतिरोध करना पड़ता है। किंतु कविता की 'उलटबांसी' कहानी में अपूर्वा जब अपने प्रेमी से शादी करना चाहती है तब माँ उसका साथ देती है और कहती है कि "मैंने तो अपने सारे बच्चों की इच्छाओं कद्र की है, मेरे बेटे की तरह अपूर्वा को भी अपनी ज़िन्दगी चुनने का हक है।"[1] स्पष्ट है कि नारी में अब स्वयं निर्णय क्षमता आ चुकी है। उसे अपने अधिकारों के प्रति अस्मिता निर्माण हो चुकी है। सही वक्त सही निर्णय लेने की क्षमता उसमें पाई जाती है। इतना ही नहीं तो अन्य नारियों को भी अन्याय से मुक्ति दिलाने का प्रयास करती है। चंद्रकाता की कहानी 'कोठे पर कागा' में निम्मो से अधेड़ उम्र रंडुवा लाला विवाह करना चाहता है तो वह चुपचाप इस अन्याय को न सहकर इस बात का विरोध करती है । वह कहती है – "चाहे तो लोग उसका गला ही क्यों न काटे। वह किसी के लिए भी बलि का बकरा नहीं बनेगी। और घरवाले यह जान लें कि वह दीदी नहीं है..... उस पर जोर जबरदस्ती नहीं चलेगी.....।"[2]निम्मो अपनी मर्जी से प्रेमी परदेसी से विवाह करने का फैसला करती है । अतः विवाह बंधन में, स्त्री–पुरुष में मानसिक–वैचारिक संबंध आवश्यक है, अन्यथा विवाह–जीवन कलुषित बन जाता है। वैसी ही 'चीख' कहानी की मानसी सामाजिक और राजनीतिक कार्यों में हमेशा व्यस्त रहनेवाली सक्रिय आधुनिक नारी है। वह परंपरा को तोड़कर कोर्ट में जाकर डॉ.

---

[1] कविता, उलटबाँसी, पृ : 13

[2] चंद्रकांता, कोठे पर कागा, पृ : 123

वर्मा के साथ विवाह करती है। विवाह के समय जात, बिरादरी का चिंतन न करके अंर्तरजातीय विवाह करती है। समाज में आज भी अंर्तरजातीय विवाह को स्वीकृति पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं होती है, जिस पर सामाजिक सांस्कृतिक प्रतिष्ठा का मुहर है। किंतु आज की शिक्षित नारी इन सबका तिरस्कार करती है। प्रस्तुत कहानी में भी मानसी के अंतरजातीय विवाह को परिवार से स्वीकृति नहीं मिली । कई अटकलें लगाती है, "न जात, न बिरादरी! कैसे निभेगी?.....प्यार का बुखार उतारेगा तो लडकी की ज़िन्दगी यह ऐसे नहीं वह वैसे नहीं की दलीलों से जहर नहीं बन जाएँगी?"[1] पर मानसी कोर्ट में जाकर रजिस्टर मैरेज करती है।

अंतरजातीय विवाह या अंतरधर्मीय विवाह हो दोनों को समाज की दृष्टि में हीन ही है, ऐसे विवाह करनेवाले दांपत्य को असफल घोषित करते हैं। परंतु दोनों की तुलना में अंतरधर्मीय विवाह पर समाज अधिक कडा नियम लगाता है। अंतरधर्मीय विवाहों में अधिकतर प्रेम विवाह होता है । हमेशा घरवालों द्वारा चलानेवाला विवाह समान जाति एवं धर्म से होता है । ऐसी शादी को ही समाज अच्छा संस्कार माना जाता है, पर इसमें दो अनजान व्यक्तियों को आपस में मिलाया जाता है। किंतु आज नारी इन सारे नियमों को दूर कर जाति–धर्म के परे प्यार को जीवन में प्रमुख स्थान देते हुए अलग ढंग से सोचती है। वे पारंपरिक संस्कारों को स्वीकार करने के लिए विवश नहीं हैं। संबंधों को प्रतिकूल परिस्थितियों में भी निभाने की विवशता से आज की

---

[1] चंद्रकांता, चीख, कोठे पर कागा, पृ :

स्त्री उबरना चाहती है। चंद्रकांता की कहानी 'अनार के फूल' में हिन्दू नीरा और मुस्लिम नासिर अंतरधर्मीय विवाह करते हैं। इस विवाह को नीरा के घर से विरोध होता है, समाज भी विविध प्रश्न उठाता है, "जया बेटी का हाथ कौन थामेगा? तुम्हारे घर जन्म–मरण के संस्कारों में कौन पास–पडोसी तुम्हारी देहरी पर पाँव धरेगा? और तुम्हारा इहलोक तो बिगड़ेगा ही बिगड़ेगा, तुम्हारा परलोक?"[1] इतनी समस्याएँ सामने देखकर भी नीरा, नासिर से शादी करती है।

वर्तमान सदी की नारी विवाह को एक संस्था के रूप में मानने का विरोध करती है । क्योंकि प्राचीनकाल से विवाह व्यवस्था में पुरुष की स्थिति सर्वोपरि मानी गयी हैं तथा विवाहित स्त्री का स्थान पति के अधीन में है। जागरूक स्त्री अब पुरुष के अधीन नहीं रहना चाहती। विवाह का अर्थ विधेयत्व या दासत्व के रूप में नहीं बल्कि एक सम्मान युक्त सहजीवन के रूप में वह स्वीकारती है। इससे उल्टे विवाह के उपरांत स्त्री का स्वतंत्र अस्तित्व महत्वहीन माना जाता है पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था में। यह भी नहीं स्त्री पुरुष की सहमती के बिना कोई कार्य नहीं कर सकती। इसी भाव को पातिव्रत्य के नाम से स्त्री के समक्ष प्रस्तुत किया गया। विवाह में स्त्री की विषम और हीन स्थिति पर सिमोन की टिप्पणी है, "यह तो विवाह प्रणाली है जो स्त्री को प्रार्थी का रूप देती है और यह प्रणाली उसे जोंक की तरह

---

[1] चंद्रकांता, अनार के फूल, सूरज उगने तक, पृ : 234

रक्तपिपासु जीव बनाती है.....।"[1] दांपत्य जीवन के इस स्वरूप के कारण जीवन के प्रति नयी नारी की सोच में परिवर्तन आया है तो अपनी स्वेच्छा से तथा अस्मिता की रक्षा के लिए आजीवन अविवाहित रह जाने में सुकून महसूस करने लगी है। वह सोचती है कि क्या शादी ही स्त्री जीवन के सामने मात्र एक विकल्प है? क्या शादी के बिना स्त्री– जीवन अपूर्ण रहेगा?

यौन शुचिता और बलात्कार

बलात्कार स्त्री के प्रति होनेवाला सबसे अमानवीय अपराध है इसका प्रकोप भी कम होने के स्थान पर दिनोंदिन विकृत रूप लेता जा रहा है। नारी पर यह एक जघन्य क्रूर शोषण है। यह भी नहीं यह स्त्री विरोधी मानसिकता है कि बलात्कृत औरत को अयोग्य बनाकर उससे अछूत जैसा व्यवहार करता समाज स्त्रियों को ही अपराधी मानता है। समाज के मुताबिक बलात्कार की शिकार बनने वाली स्त्री अपराधी है । जिसने बलात्कार किया वह हमेशा समाज में स्वतंत्र होकर विचरण करता है । दरअसल लडकियों के सिर पर यौन शुचिता का भारी बोझ बचपन से ही इस कदर डाला जाता है कि वे स्वाभिमान से सिर नहीं उठा पाती। यद्यपि लडकी होना इस समाज में अपराध है तो शुचिता भंग होने पर वे खुद को अपराधी मानने लगती है और समाज भी इन्हें तिरस्कृत करता है। इस प्रकार सांस्कृतिक और नैतिक अपराधबोध की शिकार स्त्री जीवनपर्यंत इस अपराधबोध से निकल नहीं पाती है। बलात्कृत स्त्री के प्रति समाज की जो मानसिक दृष्टि है उसका खुला

---

[1] सुभाष सेतिया, स्त्री अस्मिता के प्रश्न, पृ : 26

विरोध आज स्त्री रचनाकारों द्वारा हो रहा है। आज की लेखिकाएँ बलात्कार को महज एक दुर्घटना मात्र मानकर स्त्री को अपराध बोध से मुक्त करना चाहती हैं। इस संदर्भ में उर्मिला शिरीष की कहानी 'चीख' में बलात्कार पीड़ित लडकी का यह कथन अत्यंत महत्वपूर्ण है – "मैं पराजित नहीं होना चाहती । मेरा स्वभाव वैसा नहीं है। मैं आत्मग्लानी में घुल–घुलकर जीना भी नहीं चाहती । मैं उबरना चाहती हूँ इन सभी परिस्थितियों से.....उस डर से जो चारों तरफ बुना जा चूका है । परिवारवालों को भी समझना होगा, मैंने कोई गलती या अपराध नहीं किया जिस के लिए मैं ज़िन्दगी भर आत्मग्लानी में घुलूँ। मैं हर स्थिति का सामना करुँगी चाहे कोई मेरा साथ दे या न दे।"[1] प्रस्तुत कहानी में स्त्री ने स्वयं को अपराधी मानने की पारंपरिक मानसिकता के खिलाफ पर्दाफाश किया है। स्त्री की यौन शुचिता से संबंधित बदली हुई सोच को यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

स्त्री हमेशा अपने घर को सुरक्षित मानती है किंतु बदली हुई परिस्थिति में न घर सुरक्षित है न बाहर। दोनों ही जगहों पर स्त्री शोषण की शिकार होती है। स्त्री को केवल शरीर मात्र ही मान लेने की प्रवृत्ति में कोई परिवर्तन आ गया है । मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानी है 'फांस' । जहाँ पिता ही अपनी पुत्री का शारीरिक उत्पीडन करता है। अपने पिता से बचने के लिए वह हरेक रात दरवाज़ा बंद किये रहती है फिर भी उस क्रूर कृत्य से उसे अपने को बचा नहीं पाती है। उसे अपने पिता से ही यह दुर्गति होती है उस समय

---

[1] उर्मिला शिरीष, चीख, पृ : 31

अंतिमा सिर्फ सत्रह वर्ष की थी। अंत में अमानवीय शोषण के खिलाफ विद्रोह दिखाती है कि "मन में छिपे क्रोध की एक चिंगारी सुलग कर पूरे वजूद को दावानल की तरह सुलगाने लगी। उसने अपनी कोहनी से पूरे दमखम के उसकी पहलियों पर पार किया। वह चीख कर वहीं बैठ गया। तब का जो बिस्तर से लगा तो फिर उठा ही नहीं। शौचादि के लिए भी वह भूरया पर निर्भर रहता।"[1] प्रस्तुत कहानी में पिता की मृत्यु होने पर भी लडकी के मन में अपने पिता के प्रति कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। पुरुष वर्ग की मानसिकता आजकल इस हद तक नीचे गिर गयी है कि सबकुछ अपने अधीन में है, तथा जो कुछ है ये सब भोगने के लिए है ।इस अधीनस्थता से मुक्त होने की ताकत दे रही है लेखिका। इस मुक्ति की राह में पिता, भाई जैसे संबंधो का कोई भेदभाव नहीं क्योंकि नारी की लड़ाई पूरी पुरुष वर्चस्ववादी के खिलाफ है। अपनी देह की स्वंत्रता और अस्मिता की रक्षा ही इसका एकमात्र ध्येय और लक्ष्य है। लता शर्मा की कहानी 'वो नहीं भूल सकते' में भी नायिका नेहा सामूहिक बलात्कार की शिकार होती है। समाज में साधारणतया यह होता आ रहा है कि किसीपर कुछ दुर्घटना या मुसीबतें हुई तो सारे लोग सहानुभूति जताने वाले हैं किंतु उनमें आत्मविश्वास भरने के लिए कोई तैयार नहीं है । क्योंकि समाज ने पहले ही यह निश्चय कर लिया है कि बलात्कार या यौन उत्पीडन लडकी पर होनेवाली सबसे बड़ी गलती है, यह गड़बड़ी हुई तो उसका पूरा जीवन बरबाद हो गया है। उसे आगे जीवन में करने के लिए कुछ नहीं है । जहाँ बलात्कारी लोग समाज में खुशी के साथ जीते समय लडकी को अपराधी

---

[1] मनीषा कुलश्रेष्ठ, फांस, पृ : 26

के समान घर के अन्दर ही सबकुछ त्यागकर आजीवन बिताना ही चाहिए। इन मान्यताओं को तोड़ते हुए अपने से सहानुभूति जतानेवाले प्रेमी से प्रस्तुत कहानी में नायिका कहती है कि "तुम सीढ़ी से गिरे, माथा फूटा। मैं हैवानों से घिरी, झिल्ली फटी। क्या अंतर है? अनचाहे, अनचाहे गिरे, चोट लगी, खून निकला, टाँके लगे। इलाज हुआ, चोट टीका हो गयी.....ज़रा सा निशान रह गया है, जो याद भी नहीं रहता।"[1] यहाँ लेखिका के माध्यम से नायिका के ऊपर होनेवाली सारी सहानुभूतियों को नकारती हैं। आज की आत्मसजग नारी किसी भी आपत्ति में चकित होकर रहनेवाली नहीं है उनका अपना निर्णय है, उनकी अपनी खुद की ज़िन्दगी है जो किसी के द्वारा तोड़ा नहीं जा सकता।

स्त्री जहाँ अपनी ताकत से उठना चाहती हैं वहीं पुरानी वर्चस्ववादी मानसिकता उसके सामने जाग उठती है। इसलिए कि इसके अनुसार एक स्त्री को सबकुछ सहन करते हुए अपने में सीमित होकर गुडिया जैसा जीवन बिताना है यही उनकी नियति है। धर्मग्रंथों में बड़े बड़े महानों ने स्त्री के लिए लिखित नियम यही है। यदि कोई इस नियंत्रण रेखा को तोड़कर अन्याय के खिलाफ आवाज़ उठाना चाहती है तो समाज के सामने वह कुलटा है। परिवार भी इससे अछूत नहीं है। इसकी ओर प्रकाश डालते हैं चित्र मुदगल की कहानी 'प्रेतयोनी'। कहानी का मुख्यपात्र अनिता गुप्ता है, दिल्ली विश्वविद्यालय की छात्रा है। जो रात के वक्त कामुक टैक्सी चालक उसके साथ बलात्कार करने की कोशिश करता है। किंतु अनिता जल्दी ही निकट के

---

[1] लता शर्मा, वो नहीं भूल सकते, पृ : 29

पुलिस थाने में पहुँचकर उस टैक्सी चालक के विरुद्ध रिपोर्ट दर्ज करवाती है। यह खबर अखबार में उसे एक साहसी के रूप में चित्रित करते हुए छपकर आती है। घरवालों ने उसकी तरफ अविश्वास एवं उपेक्षा का भाव दिखाया। बेटी जहाँ हिम्मत दिखाती है वहाँ माता–पिता अविश्वास की नज़रिए से उसे देखा हैं। वे दूसरे लोगों से बाताते हैं कि जिस अनिता गुप्ता का नाम अखबार में छपा है, वह उनकी बेटी नहीं है । अनिता को भी अपने कमरे से बाहर आने की, दरवाज़ा खोलने की तथा फोन उठाने की भी अनुमति नहीं थी। अपने ऊपर पड़ी उस आकस्मिक विपदा को सधैर्य कानून के सामने रिपोर्ट करने की हिम्मत लडकी ने की है, लेकिन घरवालों ने परिवार की प्रतिष्ठा पर टूटी गलती के रूप में उस घटना को देखा है। क्योंकि पितृसत्तात्मक व्यवस्था के सामने लडकी ही अपराधी है। यह भी नहीं माँ भी अपनी बेटी के ऊपर अविश्वास आरोपित करते हुए पूछती है 'महीनों को कितने दिन शेष हैं? माँ की इस शंका के सामने तडपकर चीकती है – अम्मा, तुम जिस आशंका से पीड़ित होकर यह प्रश्न पूछ रही हो, वैसे कुछ उस कामुक राक्षस की पूरी कोशिश के बावजूद संभव नहीं हो पाया। मैं प्राणपस से लड़ी हूँ.....।"[1] स्पष्टतः समझा जा सकता है कि अपनी बेटी ने किसी न किसी प्रकार अपनी साहसिकता के वजह से उस शिकारियों का सामना किया इस में खुश होने की बदले उसकी यौन शुचिता में परिवारवाले शंका करते हैं। अतः बलात्कार से ज़्यादा भयावह वेदना लडकी को परिवारवालों से भोगनी पडती है।

---

[1] चित्रमुद्गल, प्रेतयोनी, पृ : 64

आर्थिक क्षेत्र में

स्वावलंबी – नौकरी पेशा नारी

स्त्री पर दुर्व्यवहार के अनेक पारिवारिक तथा सामाजिक कारण हैं लेकिन सबसे बड़ा कारण आर्थिक स्तर पर स्त्रियों की परावलंबता है। जब कोई स्त्री स्वावलंबी न होकर दूसरों पर आश्रित होती है तो उसके पास कोई वास्तविक शक्ति नहीं है।इसी से उसका समाज में स्वतंत्र व्यक्तित्व भी नहीं है।वस्तुतः अर्थ यानी धन एक शक्ति है जो सभी प्रकार की स्वतंत्रताओं की जननी है।स्वावलंबी होने से औरत का स्वाभिमान बढ़ता है और उसका आत्मसम्मान भी।साथ ही प्रतिकूल परिस्थितियों और प्रतिबंधों को नकारने की क्षमता हासिल कर लेती है।वह समाज की संकीर्ण परंपराओं से परे मुक्ति की राह पर चल सकती है।किंतु पितृसत्तात्मक संस्कृति में अर्थ पर पुरुष का ही अधिकार रहा था। उसका अर्थ के लिए अविवाहित अवस्था में पिता, विवाहित अवस्था में पति तथा वृद्धावस्था में पुत्र पर निर्भर रहना पड़ता था।इसलिए समाज में नारी की दीन–हीन दशा का प्रमुख कारण भी नारी की आर्थिक परतंत्रता है।सुधा अरोड़ा के अनुसार – "किसी भी लडकी के लिए आर्थिक आत्मनिर्भरता अपने लिए आज़ादी और इज्जत कमाने की पहली शर्त है। अपने पाँव पर खड़े होने के लिए सबसे पहली ज़रूरत है, शिक्षित होना।शिक्षा के द्वारा ही उसमें अपने आसपास की परिस्थितियों का विश्लेषण और उसमें अपनी जगह की पहचान करने की समझ विकसित होती है। यह एक निहायत गलत धारणा है कि पुरुष प्रधान समाज को नकारने के लिए आज लडकियाँ

स्वावलंबी होना चाहती हैं।हकीकत यह है कि एक घरेलू औरत या 'हाउसवाइफ' का दर्जा एक संभ्रांत भिखारी से ज़्यादा नहीं होता है।हर समाज में वर्चस्व का निर्धारण अर्थसत्ता से ही होता है। स्त्री का आर्थिक रूप से स्वतंत्र होना ही सामाजिक बदलाव की पहली शर्त है।उसकी आर्थिक आत्मनिर्भरता से बहुत सारे समीकरण बदल जाते हैं।"[1] अतः इक्कीसवीं सदी की कहानियों में भी आर्थिक स्तर पर स्वावलंबी बनने का आहत देखा जा सकता है।

उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्री है तो भी आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर नहीं है तो उसका जीवन कष्टपूर्ण होता है।मधु कांकरिया की कहानी 'अपराजिता' में घरेलू शोषण का शिकार बनी अपर्णा को समझाते हुए सहेली दिव्या कहती है – "देख अप्पू! इन सब बातों के अलावा भी एक दुनिया है, उससे संबंध बना। अपना वजूद खोज। मैं यह नहीं कहती कि घर गृहस्थी छोड़ दे, पर इसके साथ–साथ अपनी पहचान बना। फर्स्ट क्लास म्यूजिक एम.ए. है चुटकियों में नौकरी मिल जाएगी।इन्हें दिखा दे कि तू भी कुछ कर सकती है।अपनी जगह खुद बना इस घर में भी और दुनिया में भी। अरे! अब भी जाग जा।आत्म सम्मान बनाए रखना है, तो आत्मनिर्भर बन।अपने गुणों को पहचान, अपनी शक्ति को जान।"[2] इस तरह स्त्री पहचानने लगी कि परिवार एवं समाज में उसकी अस्मिता स्वावलंबन पर निर्भर होती है। अगर आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी हो तो उस पर जुल्म नहीं होगा और यदि होगा भी तो कम होगा।

---

[1] सुधा अरोड़ा, काला शुक्रवार, पृ : 128

[2] मधु कांकरिया, अपराजिता, पृ : 15

आर्थिक स्वावलंबन से भी बड़ी बात है अपने पैरों पर खड़े होने का आत्मविश्वास।इसलिए उसे अपने निर्णय खुद ले सकती हैं। तो उसे जबरदस्ती पुरुष समाज की बनायी हुई किसी संस्कृति को मानने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।यह आत्मविश्वास के लिए अर्थ की आवश्यकता अत्यंत ज़रूरी है।कभी कभी आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनने के बावजूद इसका अधिकारी पुरुष ही है। पुरुषवर्चस्ववादी परंपरा के अनुसार परिवार के केंद्र का नायक पति या पुरुष है इसलिए अर्थ का क्रय–विक्रय करने का अधिकार भी उनका ही है।इसके विरुद्ध आवाज़ उठाने का हक़ भी उन्हें प्राप्त नहीं था। उस पुरुष सत्ता की पारंपरिक मान्यताओं को तोडती स्त्री को इस समय की कहानियों में देखा जा सकता है। स्वावलंबन के आधार पर अपनी स्वतंत्र पहचान बनाती स्त्री का रूप अब सामने आता है।मालती जोशी की कहानी 'रेतमहल' में पति आलोक, मीरा से कहता है कि 'सुनो आप अपनी सेलरी लेकर आओ तो पापा के हाथ में देना। मैंने तो इस घर की परंपरा की बात की थी। मैं, अंजू, मम्मी सब लोग अपना वेतन लाकर पापा के ही हाथ में देते हैं', तो इसका पत्नी जवाब यों देती है कि "आप लोग मुझसे किसी बड़े बैंक बैलेंस की आशा न रखें।फिर भी बता देना मेरा फर्ज है एक तो यह है जब से भैया अलग हुए हैं घर का खर्च मैं ही चला रही थी।रोजमर्रा के खर्च के अलावा अम्मा की हारी–बीमारी और दुनियादारी सब कुछ मुझे ही देखना पड़ता था, दूसरी बात और शादी के लिए मुझे लॉन लेना पड़ा है।वेतन का काफी बड़ा हिस्सा किश्तों में कटता रहेगा।अच्छा तो आप पापा को पहले से

बता दें।"[1]स्त्री अर्थ में अपने अधिकार की भी माँग करने लगा है। आज की कहानियों की नारी संकोच करनेवाली नहीं बल्कि अस्मिताबोध से भरपूर है।जो नारी कमा रही है, वह पुरुष के दबाव में नहीं रहना चाहती है।उचित अनुचित का निर्णय स्वतंत्र होकर वह खुद लेती है। आर्थिक स्वत्रंत्रता ने स्त्री की मानसिकता को बदला है।

आज पति और पत्नी दोनों काम करनेवाले हैं। उनकी जिंदगी सुधारने के लिए तथा आर्थिक दृष्टि से संभालने के लिए दोनों का काम करना अनिवार्य हो गया है। पुरुष और स्त्री, चाहे वे मज़दूरी करनेवाले हो या दफ्तर में काम करनेवाले दिनभर बराबर काम करके घर लौटने के बाद उसे स्त्री की तरह घर की व्यवस्था नहीं देखनी पड़ती, लेकिन जब नौकरी–पेशा औरत घर लौटती है तो उसे अपनी पुरानी भूमिकाओं को भी पहले की तरह निभाना पड़ता है।सारे घरेलू काम स्त्री पर अधिष्ठित कर्तव्य है।घर में हो या दफ्तर में उसकी परेशानियों में कोई कमी नहीं आई।शोषण की इस दोहरी चक्की में पिसती ऐसी महिलाएँ मानसिक अवसाद से भी ग्रसित रहती हैं।स्त्री की थोड़ी बहुत सहायता करने के लिए भी पुरुष वर्चस्व तैयार नहीं है।इस अवसर पर महादेवीवर्मा की कामकाजी स्त्री पर की गई यह टिप्पणी महत्वपूर्ण है – "वे धन–लोभ से उसे बाहर भेजते हैं, परन्तु परंपरा के कारण कोई घर के काम में उसे सहयोग नहीं देता, न उसकी थकावट की चिंता करता है वह अधिक अकेली होने के कारण अनेक मानसिक ग्रंथियों में उलझ आती है।कभी–कभी

---

[1] मालती जोशी, रेतमहल, पृ : 32

वह आत्मघात के कगार तक पहुँच जाती है।"[1] स्त्री को केवल घर की सेविका के रूप में देखने की इस पुरुषवर्चस्ववादी मानसिकता के खिलाफ आज की स्त्री आवाज़ उठाती है।मनीषा कुलश्रेष्ठ की 'मास्टरनी' में पति, पत्नी दोनों कामकरने वाले हैं। हफ्ते में एक बार घर पहूँचनेवाले पति के अभाव में भी पत्नी सुषमा पूरा कार्य भार संभालती है।ऑफीस में निरंतर काम करने के बाद घर लौटने पर पुनः बिना विश्राम किए चालू हो जाती है। छुट्टियों के दिनों में भी पति विश्राम लेकर, म्युज़िक सुनते हुए घर के सारे दायित्वों को पत्नी के कंधों पर डालकर खुद मुक्त हो जाता है।घर–बाहर के बीच सारे दायित्वों को निभाते–निभाते एक मानव–मशीन सी बन गई है।वह पहचानती है कि, – "क्या ज़िन्दगी बना ली है उसने भी अपनी। घर के और सदस्यों की तरह छोटे–छोटे सुख ले नहीं पाती।अब छुट्टियों में कुछ न कुछ नहीं तो सबको छुट्टियों के हिसाब का ख़ास पका कर खिलाने में, अचार–बडियां, मसाले, गेंहू तैयार करन में पूरा दिन हवा हो जाता है। फिर एक बार स्कूल खुले तो गया साल का साल।फिर बाहर के काम, बैंक से शहर में अपने घर के लिए लोन पास करवाना है, इंश्योरंस का प्रीमियम भरना है सबके ऊपर ट्रांसफर करवाने की भागदौड़।इस पहचान से उत्पन्न चेतना से वह चीख उडती है कि "तुम तो हो ही आलसी, कोशिश तक नहीं करना चाहते अब नहीं होता मुझसे कि हर शनिवार को आओं और इतवार को चले दो।मैं थक गई हूँ।"[2]स्त्री–पुरुष संबंध समानता और सह अस्तित्व पर आधारित होना चाहिए । पुरुष को भी यह

---

[1] महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियाँ, पृ : 42

[2] मनीषा कुलश्रेष्ठ, मास्टरनी, फांस, पृ : 55

दायित्व होना है कि वह स्त्री की स्वतंत्रता और समानता को महत्व देकर परिवार में उचित सम्मान दिलाए। किंतु होता यह है कि दफ्तर के अलावा अनेक घरलू काम स्त्रियों को बिना किसी शर्त के अनिवार्य रूप में करना पड़ता है। विवाहित हो या अविवाहित, उसे घर परिवार की व्यवस्था और देखरेख खुद ही करनी पड़ती है।इसलिए नौकरी छोड़कर घर संभालने के बारे में भी सोचना पड़ता है।

स्त्री आर्थिक रूप से स्वावलंबी बन गई है पर पुरुष की दृष्टि में वह आज भी भोगने की वस्तु है।घर के बाहर आफिस हो या बाज़ार या रास्ता हर जगह वह हमेशा असुरक्षित ही महसूस करती है। कार्य स्थल पर है तो मौखिक, शारीरिक और मानसिक शोषण का हमला नौकरी पेशा स्त्री की नियति बन जाती है और यह हमला करते हैं उसका अपने ही बॉस या सहकर्मी।ताकि कामकाजी नारी को अपनी नौकरी सुरक्षित रखने के लिए कभी कभी समझौता करने के लिए विवश हो जाती है। इस भोगविलास को सहने के लिए आज नारी तैयार नहीं है।हर अन्याय के खिलाफ प्रतिरोध करती है, आवाज़ उठाने के लिए हिचकती नहीं है । क्षमा शर्मा की कहानी 'बिजनैस' में नायिका विद्या कंपनी के सहकर्मी द्वारा होनेवाले शारीरिक शोषण के खिलाफ चीख उठती है "मैं एक प्रोफेशनल हूँ। फ़ालतू बातों में शामिल नहीं होती। मैं अपने बॉस से आपकी शिकायत करुँगी।"[1] यहाँ स्त्री सारे उत्पीडन को नियति मानती रहती नहीं अपनी सीमाओं में विद्रोह करती नज़र आती है।

---

[1] क्षमा शर्मा, जो देखती पलटकर, पृ : 10

धार्मिक क्षेत्र में

धर्म किसी भी संस्कृति का प्रमुख तत्व होता है। यह व्यक्ति के समस्त क्रिया कलापों के बीच एक संतुलन बनाये रखने के लिए बनाया गया है।धर्म से मनुष्य संस्कार संपन्न बनता है।शरीर, मन एवं आत्मा की शुद्धता के साथ ही धर्म विचार और व्यवहार को भी आदर्श बनाता है।वह तो मनुष्य के नैतिक कर्तव्यों की ओर संकेत मात्र करता है।धर्म का उदय यदि खोजें तो पायेंगे कि उसका जन्म वस्तुतः भय के गर्भ से हुआ है।जब ज्ञान भय पर विजय पा लेता है तो धर्म का जड़ रूप चिंतनीय नहीं रह जाता।महादेवी वर्मा कहती हैं कि "धर्म का शासन हमारे जीवन पर वैसा ही प्रयासहीन होना चाहिए जैसी हमारी इच्छा शक्ति का आचरण पर होता है।सप्रयास धर्म जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है।न वह जीवन की गहराई तक पहुँच सकता है और न उसकी प्रत्येक शीरा में व्याप्त होकर उसे रसमय ही कर सकता है।"[1] अतः कहा जा सकता है कि स्त्री का जितना शोषण धर्म के नाम पर हुआ है उतना किसी और चीज़ के नाम पर नहीं। जिस धर्म ने मानव को ऊँचाई और पुण्य का मार्ग दिखाया था, उसी धर्म ने नारी के मार्ग को अधिकतर दुष्कर बनाया, उसे धर्म के नाम पर गुलाम बनाया दिया।आज सामज में जो भी रूढ़ियाँ दृष्टिगत होती हैं उन्हें बनाये रखने में धर्म का विशेष हाथ रखता है। अतः धर्म पुरुष वर्चस्व का पक्षधर है।पुरुष समाज ने औरत को गुलाम बनाने के लिए धर्म और धर्मशास्त्रों को ही सबसे बड़ा औजार बनाया है।ये धार्मिक

[1] महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियाँ, पृ : 113

संहिताएं ही सदियों से स्त्री को नियंत्रण और पाबंदियों में रहने का आदेश देती आ रही थी। पुरुष वर्ग को पूरी तरह से इससे छूट दे दी जाती है।सभी धर्मों ने यह माना है कि सृष्टा या सर्वशक्तिमान पुरुष ही होता है।संतोष श्रीवास्तव का कहना है – "आज विश्व में जितने भी धर्म हैं....हिन्दू, इस्लाम, कैथोलिक, जैन, बौद्ध, सूफी, यहूदी, सिक्ख आदि सभी के संस्थापक पुरुष है स्त्री नहीं, न ही स्त्री धर्म संचालिका है।न वह पूजा–पाठ, कथा–हवन करनेवाली पंडित हो।न मौलवी है पादरी।वह केवल पतिव्रत धर्म का पालन करने इस संसार में जन्मी है, इस धारणा के साथ कि जिस घर में जन्मी वहाँ से उसकी डोली उठेगी और जिस घर में ब्याही वहाँ से अर्थी।डोली से अर्थी तक की इस यात्रा में स्त्री कई बार मरी है पर उफ करने का अधिकार उसे नहीं है।पुरुष सदा नारी को अपनी झूठी धार्मिकता एवं संस्कारों का आवरण ओढ़कर वह नारी से श्रेष्ठ बना रहना चाहता है।"[1]

स्त्री अपने जीवन को कैसे जीना चाहिए इसके लिए धर्म ने अनेक पद्धतियों का निर्माण किया था क्योंकि धर्म के उच्च स्तर के अधिकारी पूँजीवादी समाज के पुरुष ही थे। किंतु आज नारी में इतना साहस आ गया है कि वह जोर–जोर से इसके खिलाफ आवाज़ बुलंद कर सकती है । वह समझ लेती है कि स्वत्व के विकास में सबसे बड़ी रूकावटधार्मिक बंधन है।आज इसलिए लेखिकाएँ सभी धार्मिक महापुरुषों, शास्त्रों पर प्रश्न चिन्ह लगा रही हैं।जहाँ स्त्री को धर्म के नाम पर अनावश्यक रूप से अंधविश्वासों, आडंबरों के

[1] सं.जगदीश चतुर्वेदी, स्त्री अस्मिता : साहित्य और विचारधारा, पृ : 50

घेरे में कैद रखता है।जहाँ शारीरिक और मानसिक तौर पर उन्हें यातना देता है। इस प्रकार की पुरुष पक्षीय धर्म के प्रति आवाज़ उठाती है मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानी 'ऐ अहिल्या' की नायिका रूपा।वह पूछती है – "औरतों के मामले में सारे धर्म एक ही जगह आकर रुक जाते हैं। औरतें आज तक धर्म को लेकर दंगा–फसाद पर नहीं उतरी। थोड़े ही देर में धर्म–जाति जैसी चीज़ों के साथ ही समझौता कर लेती है – प्यार उन्हें हमेशा झुका देता है।"[1] स्पष्ट है कि औरत अब अस्मिताविहीन और अविवेकी इकाई नहीं रही।अपने ऊपर होनेवाले हरेक शोषण को वह समझती है तथा उसे उसी ढंग से जवाब देने के लिए सजग हुई है।

भारतीय संस्कृति में किसी की भी मौत हुई तो उसका अंतिम संस्कार बेटा–भाई, पति या पिता ही करता है।हर धार्मिक समुदाय में इसकेलिए कई मानदण्ड अपनाए जाते हैं । इन सारे नियमों में स्त्री तिरस्कृत ही है।जहाँ तक अंतिम संस्कार लेनेका अधिकार भी सभी जातियों एवं धर्मों में स्त्री के लिए निषिद्ध है। जिसमें स्त्रियों का श्मशान तक जाना कठोरता से वर्जित है। यह क्रिया आमतौर पर पुरुष वर्ग ही निभाता आ रहा है। क्योंकि पुरुषवर्ग द्वारा दी गई मुखाग्नि को धर्मग्रंथों में महत्वपूर्ण माना जाता है। इसे मृतक की आत्मा की मुक्ति से जोड़ा गया है।इससे पितृसत्तात्मकता का और भी महत्व बढ़ गया तथा नारी को कमज़ोर अहसास करानेवाली प्रवृत्ति स्वीकार्य हो गया ।इस व्यवस्था को चुनौती देने के लिए आज भारतीय नारी रूढ़िवादी

---

[1] मनीषा कुलश्रेष्ठ, ऐ अहिल्या, फांस, पृ : 118

परंपराओं एवं सांस्कृतिक मान्यताओं से काटकर एक नयी भावभूमि पर अपने को निर्मित करने की चेष्टा कर रही है। अब वह सवाल उठाता है कि क्या इस पुण्य का हकदार बेटी नहीं बन सकती ? इसलिए कहा जा सकता है कि आज महिलाओं ने न केवल शिक्षा और नौकरी में ही नये–नये क्षेत्रों में पहल की है अपितु समाज की धार्मिक रूढ़ियों को चुनौती देने में भी पीछे नहीं हट रही है। वह चाहे विवाह का मामला हो, या दहेज माँगने वाला मामला हो या पिता की अंत्येष्टि का मामला हो।इस बदलाव को मनीषा कुलश्रेष्ठ जी की 'फांस' कहानी में देखा जा सकता है।अपने पिता की चिता को अग्नि देने के लिए अन्तिमा आगे की ओर बढती है।उसके शब्दों में "इनका क्रिया करम तो मैं करुँगी जीजा सा।तुम चुप करो जीजा।मुझे परवाह नहीं किसी की।परताव चाचा और गुलाब मामा उठाओं आप लोग अर्थी। आवाज़ में अजीब सी तल्खी किसी ओर ने महसूस की नहीं, मगर स्वयं उस तल्खी को महसूस कर रही है। औरत अपने घरों की खिडकियों से, घूंघटों में से ताक रही थीं, उस कभी न देखे गए इस दृश्य को।"[1] प्रस्तुत कहानी के माध्यम से लेखिका एक स्वस्थ परंपरा बनाने का प्रयास किया है।आज की जागृत नारी इस असमानता को स्वीकार करने के लिए तैयार नही है।अपने व्यक्तित्व की स्थापना के लिए बाधक सारी मान्यताओं एवं प्रथाओं को जडमूल से उखाड़ फेंकने के लिए वे तत्पर हैं।

पति की मृत्यू के पश्चात् स्त्री विधवा कहलाई जाती है। भारतीय हिन्दू समाज में औरत का विधवा होना एक अभिशाप के रूप में देखा और

---

[1] मनीषा कुलश्रेष्ठ, फांस, पृ : 28

माना जाता है। समाज में स्त्रियों का जीवन दुखों से भरा, करुणा तथा यातनामय है।विधवा होते ही औरत के वे सभी सामाजिक, धार्मिक और पारिवारिक दायित्व, कर्तव्य और अनुष्ठान छीन जाते हैं, जिन्हें वह सधवा के रूप में करती थी और समाज में प्रतिष्ठा पाती थी। सामाजिक कट्टरता और रूढ़ियाँ उसके जीवन को और अधिक दुःसह बना देती हैं। कहीं विधवा का सिर मुंडन किया जाता है तथा संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं दिया जाता था।वह अपने शेष जीवन को असहनीय पीडा एवं वेदना के साथ बिताने को विवश हो जाती है।विधवा होने के बाद किसी से प्रेम करना तथा उसके साथ जीना चाहती है तो समाज उसे गलती माना जाता है।अतः विधवा स्त्रियों के लिए प्रेम करना, पुनर्विवाह करना, अच्छा कपडा पहनना, आदि मना है।जबकि पति अपनी पत्नी के जीते ही किसी से विवाह कर सकता है और उसकी मौत के बाद भी।और शास्त्रों ने बताया कि पति के मरने पर उसका पति के साथ सती होना उत्तम है या फिर उसका सफ़ेद कपडे पहनकर जीवन भर रहना है।इस प्रकार की विधवा की दयनीय स्थिति पर प्रतिरोध करती है मालती जोशी की कहानी 'जागी आँखों का सपना'।कहानी में अनु अपनी माँ से सवाल उठाती है कि "क्या पति के मरने ही औरत बाजारू हो जाती है? फिर उसकी हर क्रिया कलाप को शंका की दृष्टि से क्यों देखा जाता है? पर जब वह अघट घट ही गया तो, उसका सामना करना ही था, बाहर निकलना ही था, लोगों से मिलना ही था।विधवा होने से स्त्री का जीवन अंत नहीं होता, वह उसकी गलती नहीं है।उनका जो जीवन बचा है उसे पुरुष के समान अपनी इच्छा से जीने की पूरी

आज़ादी स्त्री को भी मिलनी है। समाज की इस संकुचित दृष्टि के बदलने की ज़रूरत पर ज़ोर देती हैं लेखिका।

समाज के अनुसार विधवा स्त्री को पति की मृत्यु पर चीख मार कर बेहोश होकर, सदा दुखी होकर रहना है। इस संदर्भ में स्त्री को क्या करना है, क्या नहीं करना चाहिए, इन सारे कर्तव्यों का लिस्ट इस व्यवस्था द्वारा तैयार किया गया है।अन्य पुरुषों के साथ बोलने से भी समाज शंका की दृष्टि से स्त्री को देखता है। ममता कालिया की कहानी 'एक पति की मौत' में भी इन सारे धार्मिक सामाजिक कुरीतियों के प्रति आक्रोश करनेवाली आज की विवेकी नारी के रूप में सिया को चित्रित किया है।कहानी में सिया पति नमन से तलाक होने पर भी उसकी मृत्यु होते समय विधवा समान जीने के लिए विवश हो जाती है।किंतु सिया इस प्रकार अभिशप्त जीवन जीने के लिए तैयार नहीं थी।अगर कभी कॉलेज का चपरासी किसी काम से घर आने पर भी दादी–पोती ने चीखकर घर सिर पर उठा लिया।बहु की शुचिता की जाँच पड़ताल के तहत मांजी कभी सिया का पर्स खखोरतीं, कभी किताबें पलटतीं और कभी उसका मैला पेटीकोट सूँघतीं।इन अमानवीयताओं के खिलाफ अंत में वह आवाज़ उठाती है, कहती है, "ना मैं सधवा न मैं विधवा, फिर एक कर्मकाण्डी सुहागन की तरह क्यों सिंगार का स्वाँग भरूँ।प्यासी रहूँ, उपासी रहूँ किसके लिए।जो मेरा जन्म बिगाड़ गया? तुम्हारा वह बेटा है, तृप्ति का बाप है पर मेरा तो कुछ नहीं रही।"[1] यहाँ लेखिका रूढ़ियों की पारंपरिक मान्यताओं को

[1] ममता कालिया, एक पति की मौत, काके दी हट्टी, पृ : 101

तोडती है।आत्मनिर्भर बन गयी आज की स्त्री में यह विचार अधिक पुष्ट हो गया कि वैधव्य अभिशाप न होकर जीवन की एक विषमस्थिति है जिसका समाधान उसके पुनर्विवाह के रूप में होने से कोई गलती नहीं।इसलिए दूसरा विवाह करके फिर से जीवन आरंभ करने का प्रयास भी कहानियों में देखा जा सकता है।कविता द्वारा लिखित 'उलटबांसी' में अपने बूढापे में पुनर्विवाह को तैयार होने वाली एक माँ को देखा जा सकता है।

धर्म से जुड़े हुए आदर्श, विश्वास, नियम, व्यवहार एवं मान्यताएँ समय के साथ बदलते रहते हैं जो नियम अ.थवा मान्यताएँ नहीं बदलते वे रुढियों का रूप ले लेती है। नये युग में धार्मिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों की वास्तविकता को जागृत नारी पहचानने लगी है तथा अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए जो रूढ़ियाँ सामने हैं उसे जडमूल से उखाड़ फेंकने के लिए वे हिचकती नहीं है।इसी प्रकार पर्दाप्रथा, सती–प्रथा, दहेज़–प्रथा आदि रूढ़ियों के प्रति विद्रोह नारी में दृष्टिगोचर होता है। कई साल पहले से ही सती प्रथा का उन्मूलन के लिए सुधारकों द्वारा प्रयत्न किया गया था, किंतु धर्म प्रधान भारत में आज भी स्त्री के ऊपर तलवार के रूप में उसे रूढ़ियाँ उपस्थित दिखाई देती हैं।चंद्रकांता की कहानी 'पृष्ठभूमि' में पत्रकार महिला नारी के प्रति होनेवाले अत्याचारों को दूर करना चाहती है।तो वह महात्मा साधू की सती प्रथा के समर्थन का विरोध करके आज के युग में वह कहाँ तक संगत है यह प्रश्न पूछती है।पति के साथ पत्नी का जलना अस्वीकार कर वह कहती है, "यह प्रक्षेप है! भ्रष्ट पुरुषों व मतिभ्रष्ट नारियों द्वारा अपने पक्ष को समर्थन देने के

लिए खोजा हुआ....।"[1]इन अत्याचारों में वह नारी को भी दोषी ठहराती है। क्योंकि आज भी धर्म के संदर्भ में अधिकतर स्त्री आदर्शवादी रही हैं।हज़ारों सालों से पालित मान्यताओं को जल्दी ही तिरस्कृत करने में वे डरती हैं।

राजनीतिक क्षेत्रों में

स्त्री चाहे पढ़ी लिखी हो या नहीं, कामकाजी हो या हॉउस–वाइफ, परिवार और बच्चों की जिम्मेदारी उसी के कन्धों पर है तथा राजनीति और सत्ता का संबंध सीधे पुरुषों पर ही रहा है।इनका काम तो केवल घर की चार दीवारों के भीतर रहकर साफ़–सफाई और परिवार की देखभाल करना ही है।अतः महिलाओं का कार्य क्षेत्र घर के भीतर और पुरुषों का घर के बाहर है। इसलिए शासक के रूप में स्त्री की संख्या लगातार कम है।वास्तव में स्त्री की शक्ति को पुरुष सत्तात्मक समाज स्वीकारता नहीं है, उन्हें हमेशा यह भय सताता रहता था कि वे स्त्रियाँ उनसे ज़्यादा बौद्धिक न हो जाये।स्त्रियों के लिए राजनीति को अधिकतर वर्चस्ववादी लोगों ने एकमत से वर्जित क्षेत्र तो माना है।उनका मानना है कि स्त्रियों के लिए सबसे सुरक्षित क्षेत्र तो घर ही है । इस संदर्भ में प्रत्यक्षा सिन्हा का कहना है कि 'राजनीति में महिलाओं की भागीदारी सामाजिक संरचना पर काफी कुछ निर्भर करती है।पितृसत्तात्मक समाज अनेक तरीकों से स्त्रियों को दबाता कुचलता है। घरेलू हिंसा, यौन शोषण, साक्षरता दर का कम होना, इन सब कारणों ने भी स्त्रियों के आर्थिक और राजनीतिक अवसरों पर अपना प्रभाव डाला है।स्त्रियों के सामाजिक और

---

[1] चंद्रकांता, पृष्ठभूमि, काली बर्फ, पृ : 90

राजनीतिक स्तरों में सक्रिय भागीदारी की क्षमताओं को कम किया है।' यदि राजनीति और सत्ता में किसी स्त्री का चेहरे देखे तो भी समझा जा सकता है कि अधिकतर उन महिलाओं का प्रतिनिधित्व रहा है जिनका पैतृक एवं पारिवारिक संबंध पहले से ही राजनीतिक पृष्ठभूमि से रहा है न तो किसी संपन्न परिवार से। अगर किसी की सहायता से प्रशासनिक क्षेत्र में प्रवेश करने पर भी उन्होंने अपने ढंग से एक अलग पहचान नहीं बनाई है।सन् 1992 में यह प्रावधान किया गया था कि भारतीय राजनीति में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण मिलेगा, किंतु पुरुषसत्तात्मक शासन व्यवस्था ने इसे पारित नहीं होने दिया। वहीं दूसरी तौर पर सरकार ने 2009 में यह आरक्षण दिया है कि पंचायती चुनावों में महिला जन को आरक्षित सीटों की संख्या को 50 प्रतिशत में बदल दिया।किंतु विडंबना तो यह है कि जहाँ भी हो स्त्री का कोई निर्णय नहीं होगा।उनका राजनीतिक अस्तित्व केवल नाम का होकर रह जाता है।पंचायतों में निर्वाचित अधिकांश महिलाएँ इन पदों पर काबिज पुराने व्यक्ति को पत्नी, बहु या अन्य पारिवारिकजन रहीं।इसलिए प्रशासन के हरेक में पुरुष सदस्यों का अप्रत्यक्ष रूप से वर्चस्व बना रहता था।यदि किसी न किसी प्रकार प्रवेश करने कुछ करना चाहते तो भी चारों ओर से तिरस्कार और दबाव का खेल ही है।

राजनीति के क्षेत्र में स्त्री हमेशा पुरुष के हाथों की खिलौना है।यहाँ उनके अपने निर्णय और अधिकार का कोई महत्व नहीं है।अपने दायित्व के पालन एवं कार्यनिर्वाहण का कोई स्पेस नहीं है इन सबका नियंत्रण

पुरुषवर्चस्ववादी के हाथ में है।इसकी ओर चेतना जगानेवाली कहानी है मैत्रेयी पुष्पा द्वारा लिखित 'आरक्षित' नामक कहानी। प्रस्तुत कहानी में पिता और पुत्र महिला आरक्षण की सीट पर बहु और सास को खड़ा करने का निर्णय लेते हैं। यह निर्णय इसलिए लेता है कि राजनीति में अपना रास्ता सीधा करने के लिए उन्हें माध्यम बनाता है।अतः बाप को अपने महत्व की लालसा है और बेटे को प्रधानी से जुड़े धन का लालच है।इस खेल में केवल औरत का नाम मात्र छपवाता है इसके पीछे मर्दों की कूटनीति छिपी हुई है।कहानी में बहू कहती है "अम्मा, वे सब भी हमारी तरह ही खड़ी हुई है। बोलो,अपन ने कागज़ पर दस्तखत किए थे? अंगूठा लगाया था? नहीं न? सबकुछ कलह और मारमीट के डर के मारे किया कि आग में जाए ये चुनाव, पाँच साल की डुगडुगी है, घर बर्बाद हो गया तो ज़िन्दगी भर की तबाही.....। सब जनी यही सोच रही है, तुम पढ़ी–लिखी होती तो गाँव में दीवारों पर क्या लिखा है, पढ़ लेतीं सुशीला देवी, माता रघुवीर सिंह। जानकी बाई, काकी, गोविन्द सिंह को जिताइए।श्रीमती रामसिया देवी, दादी दीपक राय को अपना वोट दें।इन नामों के पास दाढ़ी–मूछेवाले आदमियों की तस्वीरें बनाई गई हैं।किसी औरत की फोटो वहां नहीं, परदे का चलन है न?।"[1] स्पष्ट है कि पुरुष वर्ग ने अपने हाथों से अधिकार न निकालने के लिए महिलाओं का उपयोग किया जाता है।मेहरुन्निसा परवेज़ की कहानी 'जगार' राजनीति क्षेत्र में अपने प्रथम कदम रखने वाली दलित नारी की ओर इशारा करती है। इस पड़ाव को देखकर प्रशंसा करते हुए कलक्टर कहते हैं – " अब नारी को बाहर आना होगा।

[1] मैत्रेयी पुष्पा, आरक्षित, पियरी का सपना, पृ : 144

महिलाओं में अपने अधिकारों के प्रति जागृति नहीं है। देखिए, आपके यहाँ की महिला सरपंच को सभी के महत्व का पता नहीं, वह अपने घरलू काम में लगी है। हम इनकी ट्रेनिंग के लिए यहाँ एक सरपंच प्रशिक्षण शिविर का आयोजन करेंगे, अब बहनों को, आप सबको आगे आना है।"[1] वास्तव में गाँव का चौधरी अपनी कुटिल नीति चलाने के लिए महिला आरक्षण के नाम पर दलित नारी गोमती को चुन लिया गया था।किंतु होता यह है कि चौधरी जैसे लोगों की छल कपटता को समझकर गोमती जैसी कई स्त्रियाँ राजनीति में अपनी सशक्त भूमिका निभाने का कारण बन गयीं।

कानून और स्त्री

किसी भी देश के मजबूत सामाजिक विधानों तथा कानूनी व्यवस्था में सदस्यों को समानता और समत्व का प्रावधान दिया गया है।संविधान के अनुसृत स्त्री–पुरुष समान हैं उसी तरह महिलाओं के पक्ष में बने कानूनों ने भी स्त्री के लिए पुरुष के समान दर्जा दिलाकर उनको समुचित न्याय का प्रबंध किया।भारतीय संविधान में देखा जाए तो कई प्रावधान विशेष रूप में महिलाओं के लिए बनाए गए है। जैसे कि परिवार न्यायालय अधिनियम, दहेज़ प्रतिषेध अधिनियम, मातृत्व लाभ अधिनियम, समान परिश्रमिक अधिनियम, विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, पंचायती राज अधिनियम, सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम, भरण–पोषण संबंधी कानून, हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम आदि अनेक कानून बने।इतने सारे

[1] मेहरुन्निजा पखेज, जगार, पृ : 46

कानूनों का प्रावधान करने पर भी स्त्रियों का एक बड़ा हिस्सा आज भी पुरुष वर्चस्व के अत्याचार एवं अनीतियों के शिकंजे में दुःख भरा जीवन जी रहा है। पुरुष प्रधान मानसिकता के चलते हमारे समाज में इन नियमों का पालन संभव नहीं हो सका है।किसी कानून का पूरी तरह लागू होने के स्थान पर ढेर सारे कानूनों का किन्हीं थोडा सा लागू हो रहा है। अधिकांश तो इन नियमों के प्रति जागरूक नहीं थी, यदि है तो भी वे अपने अधिकार के लिए न लड़ने की अपनी पारंपरिक आदत को छोडती नहीं। वे चुपचाप सारे अत्याचारों पर समझौता करने के लिए तैयार थे। इसलिए दिनोंदिन महिलाओं पर होनेवाले अत्याचार तेज़ी से बढ़ रहा है, यहाँ कानून भी हमेशा निष्क्रिय दिखाई देता है। किंतु आज की नारी अपने अधिकारों के प्रति सचेत दिखाई देता है।अपने न्याय प्राप्ति के लिए निर्भय होकर अकेली होने पर भी लड़ने के लिए वे तैयार हैं।

'आवारा न बन' कहानी में नीलू नामक लडकी के साथ इज्जत लूटने का प्रयास किया जाता है तो उसने सधैर्य थाने में जाकर पुलिस में रिपोर्ट करवा दी है। लेकिन वहां की पुलिस द्वारा उसकी बात अनसुनी कर दी जाती है – "ऐ क्या नाम सै तेरा? नीलू! सुन, तू ज़्यादा आवारा न बन।तू लडकी है, कब तक इनसे बचेगी? आज तो लडके से माफ़ी मंगवा देंगे, आइंदा खुद को केटरोर करे रहना। अरे लडके तो छेड़ते ही हैं।कृष्ण भगवान तक छेड़ते थे गोपियों को।तू गुंडागिरी करेगी? बदमाश!।"[1]यह सुनकर नीलू सोचती है 'यह पुलिस! इससे आगे मैं कहाँ जाऊं? किसके पास फ़रियाद....' । अपनी

[1] मैत्रेयी पुष्पा, आरक्षित, पियरी का सपना, पृ : 46

शिकायतों को लेकर पुलिस थाने में पहुँचनेवाली अधिकांश नारियों की स्थिति यही है।उनकी यह निष्क्रियता एक स्त्री होने से है। फिर भी यहाँ नीलू अत्याचार सहकर चुपचाप रहने के विरुद्ध रिपोर्ट करवाने का साहस करती है।नासिरा शर्मा की 'बिलाव' शीर्षक कहानी में पिता द्वारा बेटी की इज्जत लूटी जाती है। नशे में आकर वह अपनी बेटी के साथ ऐसा व्यवहार किया जाता था।उसकी माँ सोनामाटी अपनी बेटी की इस दयनीय हालत को देखकर आक्रोश भर उठी और जल्दी ही पुलिस थाने में रिपोर्ट भी लिखवाई कि "मेरा पति बलबीर शराबी है उसने मेरी बेटी मैना की इज्जत ख़राब की है। मैंने उसको बहुत मारा है।"[1]किंतु जब पुलिस ने बलवीर को पकड़ लिया है तब उसने सोनामाटी को धमकी दी कि "सज़ा काट के जब आऊँगा तो यही काम दुबारा करूँगा।देखता हूँ, कैसे बचाती है अपनी दूसरी बेटी को।"[2]हमारी कानूनी व्यवस्था की ओर यहाँ बलबीर ने व्यंग्य किया है क्योंकि वह जानता है कि बलात्कार करने पर कितने साल की सजा दी जाएगी।इसलिए दोबारा अत्याचार करने के लिए भी कोई दिक्कत नहीं, कानून हमेशा शिकार के साथ ही है।

चित्रामुदगल की 'प्रेतयोनी' शीर्षक कहानी में भी नायिका नीतू अपने अधिकारों के प्रति सतर्क दिखाई देती है। टैक्सी चालाक द्वारा असके बलात्कार की कोशिश हुई पर उन्हें मार-पीटकर अस्त-व्यस्त होकर साहसिकता से पुलिस थाने में पहुँचकर शिकायत करने की हिम्मत उसने प्रकट की है।

---

[1] नासिश शर्मा, बिलाव, भुतखाना, पृ : 69

[2] नासिश शर्मा, बिलाव, भुतखाना, पृ : 68

निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्राचीनकाल से ही समाज में जो व्यवस्था कायम थी वह है पुरुषसत्तात्मक पूँजीवादी व्यवस्था।इसमें समाज, परिवार, धर्म, राजनीति और कानून हर कहीं स्त्री कोई जीवित मानवीय इकाई नहीं थी।इस व्यवस्था के अनुसार हर क्षेत्र में स्त्री की गुलामी और पुरुष के प्रभुत्व को बरकरार रखा जाता है।किंतु शिक्षा और आर्थिक स्वावलंबन ने स्त्री को जागरूक तथा साहसिक बनाने का महत्वपूर्ण कार्य किया।इन दोनों ने न केवल स्त्रियों में स्वाभिमान और आत्मविश्वास पैदा किया है बल्कि उनकी हर दृष्टि में अपनी स्वत्व और अस्मिता को बनाने में सहायता भी दी।उन्होंने आज पहचान लिया है कि स्त्री के स्व की पहचान उसके अस्तित्व से है। तो अभी तक बनाए गए सारे पितृसत्तात्मक नियमों, रीति रिवाजों का उल्लंघन करते हुए स्त्री अपनी अस्मिता को, अपने स्वत्व को केंद्र में रखते हुए एक नयी संस्कृति का निर्माण कर रही है। इस नयी संस्कृति का निर्माण परिधि से केंद्र की ओर की यात्रा है जो एक नये राष्ट्र की निर्मिती के लिए है।जहाँ अन्य हाशियेकृतों के समान स्त्री भी उपेक्षित थी।तब राष्ट्र निर्मित में उपेक्षित आधी आबादी का सहयोग प्राप्त हो जाएगा। यह राष्ट्र की जो अधूरापन है उसे पूरा करने में सहायक होगा ही नहीं असली राष्ट्र की तैयारी आसानी से हो जाएगी।वह राष्ट्र स्त्रियों के गुणों से भी संपन्न होगा।भावना संपन्न तार्किता एवं तार्किकता संपन्न भावना से जन्म लेनेवाला विवेक सक्रिय होकर ज काम करेगा, वह आज की माँग है।

पाँचवाँ अध्याय

इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानियों में दलित संस्कृति

दलित संस्कृति

नवजागरण और स्वतंत्रता संघर्ष के समय सामाजिक और राजनीतिक हलचलों के बीच जो राष्ट्र विकसित हो रहा था उसके प्रति ज्योतिबा फूले ने ठीक ही कहा था कि "एक ऐसा समाज जो जातियों में बुरी तरह बंटा हुआ है राष्ट्र नहीं बन सकता।जो लोग इस राष्ट्र का प्रतिनिधित्व का दावा कर रहे हैं, वास्तव में वे इसे तोड़नेवाले लोग हैं।वे इसके संस्थागत रूप को भूलकर अपने आपकी शक्ति के आधार पर इसका निर्माण करने का प्रयास कर रहे हैं।"[1] दरअसल, भारतीय समाज में ऐसी कोई चीज़ नहीं है, जिसे हम राष्ट्र कह सकें।जहाँ दलितों तथा अन्य हाशियेकृतों को एक मानव के रूप में स्वीकृति नहीं है।यदि राष्ट्र के केंद्र में एक ही जाति का वर्चस्व रहता है, एक ही वर्ग के हाथों में सत्ता रहती है और एक ही वर्ग को आर्थिक राजनीतिक, सामाजिक स्वतंत्रता एवं अधिकार होते हैं तो, वह एक राष्ट्र नहीं हो सकता।यहाँ राष्ट्रीयता केवल जनता को राष्ट्र के संबोधन करने की भावना नहीं है, किन्तु जनता में एक राष्ट्र होने का भाव ही है। वह एक समान होने की सामुदायिक अनुभूति है।वरन हज़ारों सालों से एक विशेष वर्ग उत्पीडन, शोषण, धार्मिक प्रतिबंधों, मानवीय अधिकारों से वंचित, दीनहीन नरकीय जीवन को भोग रहा था जिसके पक्ष में न इतिहास था, न संस्कृति और न अपनी अस्मिता । उसकी गिनती कुत्ते–बिल्लियों से भी निम्न से भी निम्न थी तथा लोग उसे दलित नाम से पुकारते थे।

---

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, हिंदी दलित साहित्य, अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ, पृ : 41

'दलित' शब्द सामान्यतः समाज की निम्न श्रेणी के लोगों को सूचित करता है जिसे सामाजिक एवं एतिहासिक कारणों से अस्पृश्यता और शोषण की अमानवीय व्यवस्था को झेलना पड़ता है और अस्पृश्यता के नाम पर सामाजिक आर्थिक एवं शैक्षणिक संस्थाओं से दूर रखा गया है । ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित शब्द की व्याख्या यों देते हैं – "दलित शब्द का अर्थ है जिसका दलन और दमन हुआ है, दबाया गया है, उत्पीडित, शोषित, सताया हुआ, गिराया हुआ, उपेक्षित, घृणित, रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विनिष्ट मर्दित, वंचित आदि।"[1] मोहनदास नैमिशराय के अनुसार "दलित शब्द मार्क्स प्रणीत सर्वहारा शब्द के लिए समानार्थी लगता है।लेकिन इन दोनों शब्दों में पर्याप्त भेद भी है।दलित के अंतर्गत सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक शोषण का अन्तर्भाव होता है, तो सर्वहारा केवल आर्थिक शोषण तक ही सीमित है।प्रत्येक दलित व्यक्ति सर्वहारा के अंतर्गत आ सकता है, लेकिन प्रत्येक सर्वहारा को दलित कहने के लिए बाध्य नहीं हो सकते..... अर्थात सर्वहारा की सीमाओं में आर्थिक विषमता का शिकार वर्ग आता है, जबकि दलित विशेष तौर पर सामाजिक विषमता का शिकार होता है।"[2] इसीप्रकार कंवल भारती का विचार है कि "दलित वह है जिसपर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया है। जिसे कठोर और गंदे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया है। जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर अछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू

---

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौदर्यशास्त्र, पृ : 13

[2] मोहनदास नैमिशराय, नयापथ, जुलाई–सितंबर, पृ : 104

की, वही दलित है और उसके अंतर्गत वही जातियाँ आती है, जिन्हें अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है।"[1]

भारत में 'दलित' शब्द का प्रयोग इस विशिष्ट अर्थ में उन्नीसवीं शताब्दी से ही प्रारंभ हुआ था। तो प्राचीन साहित्य में शूद्र, अतिशूद्र, चांडाल, अत्यंज आदि शब्दों से अभिहित किया गया है।भारत के संविधान अनुच्छेद 15 (2बी) के अंतर्गत यह प्रावधान रखा गया कि जाति के आधार पर भारत के किसी भी नागरिक के साथ भेदभाव नहीं किया जायगा, लेकिन यह सब संविधान के पन्नों में मात्र सीमित रह गया।आज भी सवर्ण के कुएँ से दलितों का पानी लेना मना है तथा उसकी बिरादरी में शादी–ब्याह से कतराते हैं।दलित जातियों के प्रति तथाकथित उच्च वर्ग की घृणापूर्ण मानसिकता की भूमिका में परिवर्तन नहीं हुआ है।इसके संबंध में अभय कुमार दूबे ने अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है, "दलितों पर अत्याचार की हालत यह है कि देश में हर एक घंटे में दो दलितों का हिंसक हमले का शिकार होना पड़ता है, प्रत्येक दिन तीन दलित औरतों के संग बलात्कार होता है, प्रत्येक दिन दो दलितों की हत्या कर दी जाती है और दो दलितों के घर में आग लगा दी जाती है। दलित प्रश्न अपने आप में केवल घोर सामाजिक विषमता का ही नहीं उसी के फलितार्थ के रूप में आर्थिक विषमता का आख्यान हुआ है। जाहिर है कि आधुनिकता की रोशनी में सराबोर होने के बावजूद दलितों के हालत में अमूल–चूल परिवर्तन

[1] अभय कुमार दूबे, आधुनिकता के आईने में दलित, पृ : 67

नहीं आ पाया है।"[1] इस कट्टरवादी मानसिकता के पीछे मनुस्मृति को तथा ब्राह्मणवादी धार्मिक ग्रंथों को जिम्मेदार ठहरा दिया गया है जो लंबे अरसों से दलितों को गुलाम रहने का मुख्य कारण रहा है। मनु ने समाज को व्यवस्थित ढंग से संचालित करने के लिए समाज के लोगों को चार वर्णों में विभाजित किया था।समाज को सुदृढ़ बनाना और समाज को सुचारू रूप से संचालित करना था जातियों के इस तरह के विभाजन का उद्देश्य।इसमें चौथा वर्ण या सबसे निम्न श्रेणी में बन गये थे शूद्र या दलित, लेकिन धीरे धीरे यह जाति–व्यवस्था अपने वास्तविक उद्देश्य से पिघलने लगी। दलित बाद में अछूत या अस्पृश्य माने जाने लगा, इस वर्ण व्यवस्था में शूद्रों की स्थिति सबसे बुरी होने लगी।यहीं से तो वे अवहेलना, उत्पीडन और उपेक्षा को झेलते आ रहे हैं।दलित समाज के उत्थान और समृद्धि के लिए अनेक जननायकों और समाज सुधारकों ने समय समय पर अनेक आन्दोलन चलाए।दलित समाज के उत्थान और प्रगति के लिए हुए अनेक आन्दोलन के बावजूद दलित समाज उत्पीडित, शोषित और पिछड़ा बना रहा।इस संदर्भ में ज्योतिबा फूले, स्वामी अछूतानंद तथा डॉ.बाबा अंबेडकर ने वर्ण व्यवस्था का विरोध कर दलित पुनर्जागरण और व्यवस्था बदलाव के लिए क्रांतिकारी साहित्य का सृजन किया और जिसके कारण हजारों वर्षों के मूक मनुष्य को 'दलित साहित्य' के माध्यम से वाणी मिली है।ताकि सदियों से अन्याय और अत्याचार के गर्भ में डूबी मानवता को राष्ट्र की मुख्यधारा से जोडा जा सके।वास्तव में भारतीय दलित साहित्य अपनी पहचान एवं अपनी अस्मिता की खोज है, जहाँ अपनी संस्कृति की

[1] अभय कुमार दूबे, आधुनिकता के आईने में दलित, पृ : 72

तलाश करने के साथ–साथ उसकी पुनर्व्याख्या की गयी है।श्यौराज सिंह बेचैन के अनुसार "दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र निर्धारित करना तात्विक रूप से बड़ा कठिन काम है।यह कठिन इसलिए है कि दलित साहित्य तथा राजनीति केवल साहित्य नहीं है बल्कि दलितों की ज़िदगी, उसकी संस्कृति तथा राजनीति से उसका संबंध है।"[1]दलित शब्द आज अपने आप एक संस्कृति का परिचायक शब्द बन गया है । अपनी सांस्कृतिक सत्ता को प्रतिष्ठित कर सामाजिक न्याय के लिए प्रयत्न करना ही दलित साहित्य का लक्ष्य है' ।कला और साहित्य यहाँ माध्यम नहीं बल्कि ज़रूरत हैं।

दलित साहित्य और दलित चिंतन से जुडे अधिकांश विद्वानों का मानना है कि वास्तविक दलित साहित्य वही है जो दलितों द्वारा लिखा गया है। गुलामी की यातना जो सहता है वही इसे जानता है और जो भोगता है वही पूरा सच कहता है।"दलित साहित्य, दलित जीवन के यथार्थ को यथावत् सामने लाता है.... दलित साहित्य के पक्ष में यह कहना गलत नहीं होगा कि अनुभूति की प्रामाणिकता, इस साहित्य में अपेक्षाकृत अधिक है, क्योंकि दलित लेखक, घटना परिघटनाओं का स्वयं साक्षी है। .....गैर दलितों के विपुल साहित्य भण्डार में दलितों पर नगण्य सामग्री है, वह भी काल्पनिक–अप्रामाणिक ज़्यादा है।अनुभूति और प्रामाणिकता तो स्वयं दलित द्वारा सृजित साहित्य में ही संभव है।.....जनवादी साहित्य, छायावादी, प्रयोगवादी, कलावादी, सनत–साहित्य, स्त्री साहित्य, बाल साहित्य इत्यादि वर्गीकरण से

---

[1] श्यौराज सिंह बेचैन, सामाजिक न्याय और दलित साहित्य, पृ : 16

दलित साहित्य को बाहर नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह भी भारतीय साहित्य का एक प्रकार है।अमेरिका का 'नीग्रो साहित्य', अफ्रीका का 'अश्वेत साहित्य', भारतीय परिवेश में दलित साहित्य है।इसकी ऊर्जा का स्त्रोत दलित जातियों का जीवन क्षेत्र है।"[1] गैर दलितों द्वारा लिखे गए साहित्य को दलित साहित्य न मानने के संबंध में अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि 'ऐसे लोगों द्वारा लिखे गए साहित्य में दलितों के प्रति दया की भावना होती है, उनका लेखन परंपराओं और मान्यताओं की गिरफ्त में फंस कर तमाम साहित्यिक गुणों के बावजूद एक बनावटी कथ्य में बदल जाता है।पर ध्यान देने की बात यह है कि इस तरह के वाद–विवादों के बावजूद इन बातों से तो सभी सहमत हैं कि दलित साहित्य का लक्ष्य दलितों की मुक्ति है, वर्तमान नरकीय स्थिति से उसका उद्धार है। समता, स्वतंत्रता और बंधुता का पक्षधर है दलित साहित्य।वह किसी प्रकार के उत्पीडन का चाहे वह मानसिक हो, आर्थिक हो या धार्मिक हो, घोर विरोधी है।संक्षेपतः दलित साहित्य दलितों को मानवोचित जीवन जीने के अधिकार की तथा अपने अस्तित्व की पहचान का सहित्य है।हिंदी दलित कहानी लेखन का प्रारंभ प्रायः आठवें दशक से माना जाता है ।इसमें मोहनदास नैमिशराय तथा ओमप्रकाश वाल्मीकि जैसी रचनाकारों की क्रांतिकारी कहानियाँ निहित हैं।इक्कीसवीं सदी में आकर इसका फलक और अधिक विस्तृत हुआ है।इस दौर में रमणिका गुप्ता, जयप्रकाश कर्दम, प्रेम कपाडिया, अजय नावरिया, दयानंद बटरोही, रजत रानी मीनू,

---

[1] रजत रानी 'मीनू', नवें दशक की हिंदी दलित कविता, पृ : 39

श्यौराज सिंह बेचैन, अनिता भारती, सुशीला टाकभौरे, रत्नकुमार सांभरिया,विपिन बिहारी आदि चर्चित रचनाकार हैं।

दलित साहित्य दलितों की आत्मपहचान और आत्म सजगता से उत्पन्न साहित्य है।यह आत्मपहचान दलितों में शोषण एवं वंचित जीवन से मुक्त अपनी एक नयी संस्कृति की ज़मीन तैयार कर रही है। कहा जाता है कि जिसप्रकार यूरोप की श्रेष्ठता के सामने भारत की सांस्कृतिक अस्मिता अपना संघर्ष कर रही है, इसीप्रकार भारतीय समाज में सवर्णों की वर्चस्ववादी सांस्कृतिक श्रेष्ठता के सामने पिछड़ों – दलितों की अस्मिता अपने संघर्षों द्वारा समाज में समानता की तलाश में संलग्न है।सामाजिक जीवन में इस वर्चस्ववादियों ने अपने को तथा अपनी संस्कृति को श्रेष्ठ और अन्यों की संस्कृति को निम्न दिखाने का कार्य अपनाते हैं। इसके ज़रिए दबाए गए वर्ग पर सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक शोषण के द्वार खोलता है।ये उच्च वर्गों की बात की पुष्टि के लिए संहिताओं, स्मृतियों और शास्त्रों का सहारा लिया जाता है जो उनके द्वारा ही रचित है।इसलिए दलित साहित्य का उद्देश्य एक वैकल्पिक संस्कृति और समाज में दलितों की एक अलग पहचान सृजित करना है।इस मुकाबले में दलित किसी जाति विशेष, समूह तथा संप्रदाय के खिलाफ नहीं है बल्कि व्यवस्था के विरुद्ध है।चाहे वह सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था हो।साहित्य की अन्य विधा की तरह कहानी साहित्य में भी दलित के अस्मिताबोध की सशक्त अभिव्यक्ति मिली है।इस लड़ाई में आज कहानीकार मौजूदा पूँजीवादी–ब्राह्मणवादी

व्यवस्था के खिलाफ प्रतिरोध करते हुए दलित समाज को मुख्यधारा की ओर लाने का प्रयास कर रहा है। अतः साहित्यकार समानता और बहुस्वरता के राष्ट्र के निर्माण में है।क्योंकि राष्ट्र की अस्मिता उसकी बहुलता में निहित है।तथा भारतीय अस्मिता बहुलांक अस्मिताओं का समुच्चय है।

सामाजिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह

व्यक्ति का सामूहिक रूप समाज कहलाता है जो परस्पर सामजिक संबंधो में बंधे रहते हैं।प्रत्येक समाज विभिन्न समुदायों, वर्गों और समूहों में विभक्त है । यह सामाजिक कार्य–प्रणाली व्यवस्थित ढंग से चलने के लिए प्राचीनकाल में ही आर्यों ने कुछ नियम और कानून निर्धारित कर रखे थे।वर्णाश्रम व्यवस्था इसकी उपज है।इस वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार भारतीय सामजिक व्यवस्था में जिन चार वर्णों का निर्माण किया गया था, उनमें ऊपर के तीन वर्णों को सभी प्रकार के अधिकार तथा सुख सुविधाओं को दिया गया जबकि चौथे वर्ण सभी अधिकारों से वंचित कर दिया गया। यही नहीं उसपर इतनी पाबंदियाँ लगा दी गई हैं कि वह पशु से भी अधम जीवन जीने के लिए विवश हो गया । यह परिवर्तन जाति व्यवस्था के रूप में मानवीयता के पतन का कारण भी हो गया। यही जाति व्यवस्था ही आज के सारे शोषण, दुःख आदि का माध्यम है।

जातिभेद का विरोध

भारतीय समाज–व्यवस्था का आधार जाति व्यवस्था बन चुकी है। जिसे आज के सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, प्रशासनिक एवं शैक्षणिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देखा जा सकता है।व्यक्ति विशेष के महत्व को नकारनेवाली इस व्यवस्था ने समाज को जाति केन्द्रित बनाया है।तथा मनुष्य मनुष्य बीच घृणा उत्पन्न करनेवाला यह विभाजन मानवीयता का सबसे बड़ा ध्वंस है।वर्ण और जाति की भावना ने मनुष्य को इतना संकुचित बना दिया है कि दूसरा वर्ग कितना तुच्छ है।सामाजिक परिस्थिति में जो जातियाँ जितनी नीची है, वे उतनी ही वंचित, शोषित और दमित हैं।इन जातियों की आर्थिक स्थिति भी सामाजिक स्थिति से प्रभावित है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि जाति दमन और शोषण का सबसे प्रमुख आधार रहा है।किसी जाति में ही मनुष्य जन्म लेता है, जीवनयापन करता है और जाति के साथ ही मरता है।किन्तु मरने के बाद भी उसकी जाति मरती नहीं। इस संबंध में सुशील टाकभौरे का कहना है – "हिन्दू समाज व्यवस्था में जाति ऐसी चीज़ है जो इंसान से जन्म के साथ ही जुड़ जाती है और वह इंसान के मरने के बाद भी न जाती है।"[1] अतः जाति के इस यथार्थ को नकार कर या, इसकी उपेक्षा करके दलित शब्द, उसके अर्थ और मर्म को नहीं समझा जा सकता।इसलिए सवर्णों द्वारा निर्मित इस अमानवीय व्यवस्था को समकालीन दौर में दलित पहचानता है।वे सजग हैं एवं शिक्षित भी इसलिए मनुवादी संस्कृति के प्रति घोर विरोधी भी है। दलित समाज की सुशिक्षित नयी पीढी आज अपने अधिकार के लिए संघर्षरत है। उसने अपनी

[1] सुशीला टाकभौरे, संघर्ष, पृ : 16

अस्मिता की पहचान की हैं, समाज में अपनी हालत पहचान ली है। आधुनिक संदर्भ में दलित शिक्षित है इसलिए अपने ऊपर होनेवाले सारे शोषण के प्रति विद्रोह की भावना अपनाता है वैसे ही जातिप्रथा के प्रति भी इनकी विद्रोही भावना तेज़ पकडती है।क्योंकि भारतीय जातिव्यवस्था के केंद्र में सबसे ज़्यादा उपेक्षित, प्रताड़ित और घृणित दलित वर्ग मान लिया गया है।यह जातिवाद की नींव गैरबराबरी पर आधृत है।

जयप्रकाश कर्दम की कहानी 'नो बार' एक पढा लिखा, नौकरी–पेशा दलित युवक की कहानी है जो शादी की तलाश में उसे अखबार के विज्ञापन में दिया गया रिश्ता पसंद आ जाता है।इस रिश्ते की खासियत यह है कि 'हाईली एजुकेटेड फेमिली, नो बार'।अतः जाति का कोई बंधन नहीं।यह संबंध शादी तक पहुँच जाती है, सब घुल मिल जाते हैं।बातचीत से पिता को शक होकर अपनी बेटी से जाति के विषय में पूछता है तो लडकी अनभिज्ञ है।वह बेटी को समझाने का प्रयास करता है किन्तु बेटी प्रतिवाद करती है – "पिताजी दुनिया इक्कीसवीं सदी की ओर बढ़ रही है। पुरानी मान्यताओं और विश्वासों का महत्व खत्म हो रहा है। आज केवल उन्हीं बातों का अर्थ और महत्व है जो बातें प्रासंगिक हैं, जो संकीर्णताओं से ऊपर तथा प्रगतिवाद से जुडी हैं।आप जिस दुनियादारी की बातें कर रहे हैं, वह पुरानी लीक को पीटनेवाली अनपढ़ लोगों की दुनिया है।वही जाति–पाँति के झमेले में पडी हुई है। हमारे लिए तो यह सौभाग्य की बात है कि हमारा संबंध एक ऐसे परिवार

से हो रहा है, जो इतना शिक्षित, सभ्य और प्रगतिशील है।"[1] पिता जवाब देते है 'नो बार' का यह मतलब तो नहीं कि किसी चमार–चूहड़े के साथ...."[2] समाज में जितनी प्रगति प्राप्त होने पर भी उच्च वर्ग के लोग जाति को छोड़ना नहीं चाहते हैं।इंटरकास्ट मैरिज की बात वे लोग करते तो वह भी अपने समान तथाकथिक उच्च जाति में ही है। 'नो बार' का उद्देश्य दलित या पिछडी जातियाँ नहीं है।देखना चाहिए कि जब तक राजेश की जाति पूछी नहीं गयी थी तब तक उसपर सब लोग प्यार लुटा रहे थे किन्तु जाति का पता चलने पर सारा संबंध टूट जाता है।किन्तु आधुनिक शिक्षित अनिता में पुरानी रुढियों के प्रति उदासीनता दिखाई देती है जो अवर्ण होने पर भी ।ऐसा व्यक्ति हमारे देश का भविष्य हैं फिर भी संकुचित समाज में वह कुछ नहीं कर पाती है।लेखक यहाँ यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि दलित ही नहीं सवर्ण भी जाति व्यवस्था के बंधनों को तोड़ सकता है।'ब्रह्मास्त्र' कहानी में पिता और पंडित द्वारा अपने दोस्त को अपमानित करने पर अरविन्द चीख भरे स्वर में कहता है – "केवल मेरा सबसे अच्छा दोस्त है .....हमारे बीच जात–पाँत कभी नहीं आयी।मैं उसे उस तरह घर बुलाकर बेइज्जत नहीं कर सकता।"[3]यहाँ अरविन्द जाति, धर्म से परे मित्रता–मनुष्यता को मानता है, तो उसके पिता जाति एवं वर्चस्व में विश्वास रखते हैं।जाति पर अधिष्ठित समाज ने पहले से यह निर्धारित किया था कि ब्राह्मण का साथी ब्राह्मण, नीच जाति वाले उस वर्ग से साथी रखनी चाहिए।

---

[1] जयप्रकाश कर्दम, नो बार, जातिदश की कहानियाँ, पृ : 211

[2] जयप्रकाश कर्दम, नो बार, जातिदश की कहानियाँ, पृ : 215

[3] ओमप्रकाश वाल्मीकी, ब्रह्मास्त्र, पृ : 34

जाति भेद की पीडा से बचने के लिए पढे लिखे कुछ दलितों और पिछडों ने अपने उपनाम या सरनेम बदल दिया है इसलिए कि हमारे सरनेम जाति सूचक है। यह सुनते ही दूसरों को जाति का पता चलता है। हमारे समाज में दलित हज़ारों साल की अमानवीय पीड़ा से न तो मुक्त हो पाया हैं।जाति संबंधी मानसिकता में आज भी समाज बहुत दूर है। रजत रानी 'मीनू'की कहानी हम कौन है?' में धनेश्वर और उमा अपनी बेटी अज्जू को पब्लिक स्कूल में ढेर सारा शुल्क देकर दाखिल करते हैं।जान बूझकर दोनों बेटी के नाम के सामने कोई सरनेम नहीं लगाये जाते।किन्तु स्कूल के पहले ही दिन अध्यापिका ने बेटी से 'सरनेम' के वास्ते जाति पूछता है।बेटी स्कूल से यह पता चलता है कि जो लोग नीची जाति के होते हैं वे ही अपना सरनेम नहीं लगाते या छिपा रखते हैं।तो अज्जू के मन में भी अपना सरनेम जानने की इच्छा और अधिक बढ़ जाती है।इससे वह माँ से बार–बार सरनेम पूछती है और अंत में यह भी पूछती है कि "मम्मी बताओं न क्या होती है नीची जाति? हम कौन है?"[1] इसप्रकार स्पष्ट हो जाता है कि देश के मामूली बच्चे भी जाति–पांत से अछूत नहीं रह सकते या समाज रहने नहीं दिए जा रहे हैं।जाति का कठोर रूप इस तरह गहरी है कि शहर हो या गाँव कहीं भी, स्कूल में या कार्यालयों में हो, समाज के केंद्र में जाति ही है।इसे मिटाये बिना दलित को अपनी अस्मिता कायम नहीं रख सकें।इसलिए जाति–दंश जैसी ज्वलंत समस्या के प्रतिरोध में दलित कहानीकार अपनी सजगता को दिखाते हैं।

---

[1] रजत रानी 'मीनू', हम कौन है?, पृ : 121

भारतीय समाज में व्यक्ति का सामाजिक अस्मिता एवं अस्तित्व जाति के आधार पर बनता है।जिसके ज़रिए वर्चस्ववाद या ब्राह्मणवाद आज भी ज़िंदा है।अपनी संस्कृति और वर्चस्व को स्थापित करने के लिए ही एक ऐसी दीवार का निर्माण उच्च वर्गों ने किया है।समाज का यह जातिशास्त्र स्कुल–कॉलिजों में ही नहीं बल्कि शिक्षित अध्यापकों तक पहुँच गया है, जहाँ हरेक व्यक्ति अपनी–अपनी जाति का मुखौटा लगाकर सामने आता है।अनिता भारती की कहानी 'एक थी कोटेवाली' में गीता दलित अध्यापिका है।नये विद्यालय में शिक्षिकाओं का पूरा स्टाफ 'कोटेवालियां' और गैर कोटेवालियों में बंटा रहता है।इन दोनों समूहों में गीता की जाति को लेकर उत्सुकता बढ़ जाती है । किन्तु उसकी जाति जानते ही सवर्ण शिक्षिकाओं का कयास चला जाता है।अध्यापकों की इस मानसिकता के खिलाफ आवाज़ उठाते हुए वह कहती है कि – "ये क्या तुमने जात–पाँत की बातें लग रखी हैं? क्या तुम शिक्षक कहलाने लायक हो? पूरा द्रोणाचार्य तुम्हारे मन में बैठा है?"[1] यहाँ शिक्षित, विवेक संपन्न गीता अपनी अस्मिता के लिए सवर्ण के सम्मुख खडी होती है, अपना प्रतिरोध जाहिर करती है।शिक्षा से नहीं अच्छी शिक्षा से एक व्यक्ति विवेकी हो जाता है।वैसे ही शिक्षा देनेवाले गुरु भी उसके योग्य होना चाहिए किन्तु प्रस्तुत कहानी में सवर्ण शिक्षक गण मानसिक तौर पर पिछडे ही हैं।

---

[1] सं. तेजसिंह, अपेक्षा (अंबेडकरवादी कहानी विशेषांक), अप्रैल–जून 2007, पृ : 95

कहा जा सकता है कि समाज में जाति समाप्त नहीं हुई हैं जाति को हथियार के रूप में स्वीकार करने पर हर कहीं उच्च वर्ग ने अपना एकाधिकार बनाए रखा है।इसका सशक्त प्रतिरोध आज की कहानियों में है।

असमानता का प्रतिरोध

दलित साहित्य का मूल स्वर प्रतिरोध का है ।यह प्रतिरोध वर्चस्ववादी व्यवस्था के प्रति है, भेदभाव के प्रति है।इस भेदभाव का आधार जाति ही है। इसलिए दलित का संघर्ष असमानता को दूर करके अन्य की तरह एक इन्सान के रूप में मान्यता प्राप्त करने के लिए है।आज तक के इतिहास में दलित केवल शोषण का सूचक मात्र था।उसकी अस्मिता कहीं भी चिन्हित नहीं हुई है।जाति पर आधारित इस भेदभाव को खत्म करने के लिए परिवर्तन लाने की आवश्यकता है जिससे एक नये देश को बनाने में सहायता मिलती है।इस दृष्टि से समकालीन दौर में कई साहित्यकारों ने अपनी तूलिका चलाई थी।यह भेदभाव केवल आर्थिक, सामाजिक तौर पर ही नहीं इससे ज़्यादा कठोर रूप से मानसिक स्तर पर जमाई हुई है। सबसे पहले मानसिक बदलाव होना चाहिए।

राजेन्द्र बडगूजर की कहानी 'इनाम' में गाँव के सरपंच ने बी.डी.ओ. साहब के सामने घोषणा कर दी कि गाँव में आठवीं कक्षा में जो बच्चा पहला नंबर पर आएगा उसे पंचायत की ओर से एक हज़ार रुपये इनाम देगा। इस घोषणा से प्रेरणा होकर दलित बालक चंद्रशेखर पढकर प्रथम श्रेणी में आठवीं पास की तो पिता जगत राम के साथ सरपंच के पास जाता है।

किन्तु दलित होने के नाते सरपंच उन्हें दुत्कार देता है।उन्होंने अपने जातिशास्त्र का असली रंग दिखायी।लेकिन उसी के साथी रग्घु ने प्रथम आने की ख़ुशी में एक किलो लड्डू लाकर बांटे तो जगतराम उसमें अपनत्व को पाकर खुशी से कहता है–"सरपंच के एक हज़ार रूपये से रग्घू का एक लड्डू लाख गुणा बेहतर है ..... लड्डू पाने के पीछे तेरी जिस भावना ने काम किया है वही मेरे बेटे के लिए असली इनाम है।"[1] यहाँ रग्घू में 'तेरे', 'मेरे' की जगह हमारा का भाव ही है जहाँ सरपंच ने भेदभाव दिखाया है।यही एकता का भाव दलित समाज के अस्तित्व और अस्मिता के लिए ज़रूरी है।

दलितों के साथ सामाजिक भेदभाव का यह घिनौना रूप सूरज बड़त्या की 'गुज्जी' नामक कहानी में भी देखा जा सकता है।कहानी में दलित रामदास को यह दुखद स्थिति अपनी अध्यापिका से झेलना पडता है। सुअर पालने का कार्य करने तथा सुअर का गोश्त बेचने के कारण स्कूल में रामदास अब भी गुज्जी था।अध्यापक भी उसे कभी–कभी गुज्जी कहते थे, तो शर्म से गड जाता था रामदास अब।उसपर होनेवाले भेदभाव की ओर इशारा करते हुए लेखक कहते हैं – "उसे याद है कि वह सातवीं क्लास में था तो अन्य छोटी जातियों के बच्चों के साथ होमवर्क न करने पर पूरा मुर्गा बना दिया जाता था। ऊँगलियों के बीच में पेंसिल या पेन रखकर हाथ को दबा देते।असहनीय दर्द होता था सबको। एक–सी कराह निड दर्द होता.... साँझा दर्द....। ऐसा कभी

[1] राजेन्द्र बड़गूजर, इनाम, पृ : 121

जाट–गुर्जर या, ब्राह्मण बच्चों के साथ होता उसने नहीं देख था।"[1] विपिन बिहारी की कहानी 'बिवाइयाँ' में प्यारेलाल मोची का अंदाज अलग है। वह अपनी ही मेहनतसे आयुर्वेद का नामी वैद्य बन जाता है। वह समाज की इस असमानता की ओर देखते हुए विद्रोहपूर्ण स्वर में कहता है – "एक दलित से छोटी–छोटी चीज़ हासिल करने के लिए एड़ी–चोटी का हुब लगाना पडता है। दलित पढने जाए तो वहाँ भेदभाव..... दुर्व्यवाहर।पढने से रोका जाता है उसे।यदि शिक्षक सवर्ण मिल जाएँ तो फिर फलाँ–फलाँ जात के बच्चे आते हैं।फलाँ–फलाँ जात अछूत होता है और फिर शिक्षकों द्वारा बच्चों को प्रताडित किया जाता है, आखिर क्यों? क्या ये शिक्षक ही सबसे बडे जातिवाद, छुआछूत के पोषक होते हैं।क्या हम लोगों के मामले में उनका शिक्षण धर्म ज़रा भी आडे नहीं आता है।तब सच ही कटवाया होगा एकलव्य का अंगूठा।"[2]इस तरह एक दलित के द्वारा सवर्ण समाज की अमानवीयता पर कडी आलोचना की है।

शिक्षा के क्षेत्र में दलितों की स्थिति

किसी समाज की प्रगतिशीलता वहाँ की शिक्षा पर केन्द्रित होती है। सामाजिक प्रक्रिया में शिक्षा का स्थान महत्वपूर्ण है।शिक्षा अज्ञान से ज्ञान की ओर हमें ले जाती है जो व्यक्तित्व का संपूर्ण विकास करती है।शताब्दियों से दलितों के पिछडेपन का मुख्य कारण उनका अशिक्षित होना ही है।यह अशिक्षा ही उनकी बहुत सी आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक समस्याओं के मूल में है।गुलामी और अन्धविश्वास के चक्कर में फँसे दलित समाज को

[1] सूरज बडत्या, गुज्जी, पृ : 328

[2] विपिन बिहारी, बिवाइयाँ,वसुधा 58, पृ : 254

शिक्षा से भी वंचित रखा गया था। दलितों का मसीहा डॉ. अंबेडकर ने भी दलित समाज में फैले अंधकार को मिटाने के लिए शिक्षा को हथियार बनाया । वे जानते थे कि व्यक्ति के मन में स्वाभिमान और आत्मसम्मान जगाने में शिक्षा की अहम भूमिका है।इसलिए हाशियेकृतों को मुक्ति दिलाने के लिए उन्होंने एक मंत्र दिया – 'शिक्षित बनो, संगठित बनो, संघर्ष करो'। इस संदेश में ही दलितों की मुक्ति है ऐसा वे मानते थे। दलितों ने इसे अमल में लाने का पूरा प्रयास किया है।परंतु मनुवादी विचारधारा के लोग दलितों की उच्च शिक्षा में बाधा लाने की कोशिश करते हैं।

चेतना एवं स्वाभिमान की आधारशिला है शिक्षा । बिना शिक्षा से दलित वर्ग अपनी सामाजिक–आर्थिक प्रगति और उन्नति नहीं कर सकता।यही वह चेतना है जिसके आधार पर वह अपने सामाजिक अस्तित्व और अस्मिता के लिए संघर्ष करता दिखाई देता है।आज दलित समझ लेता है कि उन लोगों का उत्थान शिक्षा से भी संभव है।शिक्षा से ही दलित परिवार को समाज में सम्मान मिल सकता है।पुन्नी सिंह की कहानी 'बच्चे जो स्कूल जाते हैं' का बलराम हाई स्कूल की परीक्षा में प्रथम श्रेणी प्राप्त अपने बेटे राकेश को भी पहले सुअर के बाल खींचने की कला में पारंगत करना चाहता है लेकिन उसे यह डर भी सता रहा है कि वह भी बस्ती के लोगों की तरह झूठा, शराबी और जुआरी बन जाएगा।क्योंकि बलराम अपने बच्चे को अपनी परंपरा के अनुसार बनाना चाहता नहीं। वह कहता है –"देख, एक बात तू मेरी मान लेना, तू स्कूल मत छोडना।तेरी मैयो रो–रो के मर जाएगी। गलती सब मेरी है

मैं.....।"[1]बेटा अपने बाप का निहायत नया रूप देख रहा था ,नया और सुधार हुआ।वैसे ही बुद्ध शरण हंस की कहानी 'आकाश मेरे पास' में भी बूढ़ी चम्पा गली–गली में सब्जी बेचकर अपने पोते को डाक्टरी परीक्षा पास कराकर डाक्टर बनाने की इच्छा करती है।उसे यह प्रेरणा बीस वर्ष पहले की एक सभा में किसी डाक्टर द्वारा डॉ. अम्बेडकर के विचारों को सुनकर मिली थी। किन्तु वह बेहद कोशिश करने के बाद भी अपने बेटे को डाक्टर न बना सकी। बाद में डॉ. उपाध्याय और प्रोफेसर सुनील सिंह के निर्देश पाकर उसका पोता पंचम मेडिकल की परीक्षा में पास हो गया। चंपा का व्रत पूरा हुआ है, मानों पूरे मोहल्ले की अँधेरी गली में एक स्थायी चाँद उग गया है।दलित परिवार में हुई इस उन्नति के ज़रिए लेखक पूरे समुदाय के सामने एक सकारात्मक दिशा दिखाता है।शिक्षा के प्रति दलित समाज में जागरूकता आ रही है शिक्षा के महत्व संबंधित चंपा की ये बातें कहानी में महत्वपूर्ण हैं जो अन्य लोगों में चेतना जगाने में सहायक है। वह कहती है – "आज यदि मैं यहाँ तक पहुँची, तो सिर्फ बाबा साहब अम्बेडकर के बताये रास्ते पर चलकर। मैं मोहल्ले के सभी प्रतिदिन अपने घर की सफाई कर लो।तब दूसरों की गलियों, नालियों की सफाई करने जाओ।सभी परिवार बच्चे–बच्चियों को पढाओं।हम अपने प्रयास से अपने आप को अच्छा बनायें ।चंपा ने अपनी बातों से स्त्री–पुरुष सबको मोहित कर दिया, उत्तेजित कर दिया।उन्होंने सब की आँखें खोल दी। कोई द्वेष नहीं, अभिमान नहीं, प्रदर्शन नहीं, छिपाव नहीं, दबाव नहीं।"[2] स्पष्ट है

---

[1] पुन्नी सिंह, बच्चे जो स्कूल जाते हैं, पृ : 40

[2] बुद्धशरण हंस, आकाश मेरे पास, उपेक्षा अप्रैल–जून, पृ : 58

कि पुरानी पीढीकी चंपा शिक्षा को अधिक महत्व देकर दलितों को चेतना जगाने की प्रेरणा देती है।दलित समाज की प्रगति उसका मकसद है।

प्राचीनकाल से लेकर दलित शिक्षा के मौलिक अधिकारों से वंचित रहे हैं।सवर्ण समाज के अनुसार धन–धरती और शिक्षा का पूरा अधिकार केवल उनको ही है।नल–नाली और मैलों का साफ करना तथा उच्च वर्गों की सेवा करना ही दलित का दायित्व है।यदि शिक्षा प्राप्त करके नौकरी मिली तो ये सब निम्न काम कौन करेगा इसलिए हर कहीं दलित को दबाने की कोशिश हो रही है।अजय यतीश की कहानी 'स्टेटस' इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।कहानी में दलित समुदाय की मेवालाल ने अपने बेटे को डाक्टर बनाना चाहा था।इस आग्रह से बेटे को स्कूल में दाखिला दिलाने के लिए उसने अपने विभाग के सेनेट्री इंस्पेक्टर देवनाथ से सलाह लेना ज़रूरी समझा।किन्तु देवनाथ को यह सुनकर अच्छा नहीं लगा, विद्वेष भरे स्वर में उन्होंने कहा, "तुम्हारे दिमाग में बच्चों को पढाने–लिखाने की खुराफात किस मुर्ख ने घुसेड दी है।जब सरकार ने तुम लोगों को जीवन भर के लिए आरक्षण दिया है, तुम्हारे समाज के लिए रोज़ी–रोटी का बन्दोपस्त कर दिया है, तब यह पढने–पढाने का भूत तुम पर कैसे चढ़ गया मेवालाल।यदि तुम्हारे जाति वाले सब पढ–लिख ही जाएँगे, तब सरकार स्वीपर के पद पर बैठाएगी किसको?"[1]ये बातें सुनकर मेवालाल अपना विद्रोह यों व्यक्त करते हैं – "हुजुर बाल–बच्चे को पढाना–लिखाना गलत बात है क्या? सब दिन हम लोग के किस्मत में गन्दा काम करना ही लिखा है

[1] अजय यतीश, स्टेटस, भारतीय दलित साहित्य कथा कोश, पृ : 151

क्या? बाल बच्चों को पढाना–लिखाना कौनो गुनाह तो नहीं?"[1] इसी से स्पष्ट होता है कि दलितों के प्रति सवर्ण की मानसिकता में आज भी परिवर्तन नहीं आ गया है।उसके साथ आज भी पशु जैसा व्यवहार हो रहा है।इस पर प्रतिरोध जगाती है यह कहानी।

सारे दलित समाज को ही व्यवस्था ने शिक्षा से वंचित कर रखा था। इस गुलामी से परिवर्तन आने लगा है।किन्तु दलित वर्ग की नारी अपनी अस्मिता से वंचित है।अभी भी दलित समाज अनेक रूढीवादी विचारों से ग्रसित होने के कारण स्त्री शिक्षा के प्रति वे लोग जागरूक नहीं हैं।तथाकथित उच्च वर्ग की महिलाएँ पहले से ज़्यादा उन्नति कर गई हैं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वे प्रवेश पा चुकी हैं परन्तु दलित नारी की स्थिति बहुत दुःखपूर्ण है।पर आज दलित महिलाओं में भी कहीं–कहीं पर जागृति दिखाई दे रही है।तथा अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक है।रजत रानी मीनू की कहानी 'वे दिन' की नायिका अंजू की शादी दसवीं कक्षा के दौरान ही कर दी गयी थी कि नौकरी पेशा लडका कहां मिलेगा। वह आगे पढना चाहती थी किन्तु जैसे–तैसे हाई स्कूल पास किया तो पति ने आगे पढने से रोक दिया।इस बीच में दो बच्चे भी हो गए यहाँ तक कि पति–पत्नी के संबंधों में दरार आ गयी।इन्हीं संघर्षपूर्ण जीवन सहते हुए वह इस निर्णय पर पहुँचती है कि – "तलाक तो मैं दूँगी नहीं।मुझे उसके साथ रहने में खुशी भी नहीं होगी, मेरे सामने उनके साथ

[1] अजय यतीश, स्टेटस, भारतीय दलित साहित्य कथा कोश, पृ : 151

सौतेला व्यवहार हो, यह भी मैं अपने जीते जी नहीं होने दूँगी।"[1]आधुनिक शिक्षित दलित नारी पुरुष वर्चस्ववादी मानसिकता पर चुनौती देती नज़र आती है जो दलित स्त्रियों को अपने कब्जे में रखने की वकालत करते हैं कि दलित स्त्रियाँ उनकी रखैल बनकर रहें।

सूरजपाल चौहान की कहानी 'बदबू' में संतोष एक आधुनिक विचार से संपन्न लडकी है, क्योंकि वह शिक्षित है। संतोष अपने कस्बे की पहली दलित लडकी थी जिसने हाई स्कूल की परीक्षा पास की थी।वह पढाई में होशियार रहती है, परंतु अपने परिवार की रूढीवादी मानसिकता के कारण उसे शिक्षा से दूर होना पड़ता है। संतोष का पिता उसकी शादी करने के बारे में सोचता है।पर यह नहीं सोचता कि वह पढ–लिखकर उच्च अधिकारी बन जाए।संतोष का सामाजिक वातावरण शिक्षा के प्रति उदासीन है क्योंकि उन लोगों की सामाजिक परंपरा भी अशिक्षित थे ।संतोष ने अपने परिवार वालों से कितना गिडगिडाया कि आगे की पढाई जारी रखने दी जाय। लेकिन परिवार ने शिक्षा ज़ारी नहीं रखने दी।संतोष को दसवीं कक्षा तक पढाना ही पाप समझाते हुए उसकी माता कहती है – "तुझे इतना पढ़ा–लिखा कर तो हमने आफत मोल ली, अब बिरादरी में तेरे बराबर का पढ़ा–लिखा लड़का ही नहीं मिलता.....हमारी तो किस्मत ही फूट गई।"[2] इस विषय को और आगे बढाकर घर के पूरे सदस्य मिलकर कहते हैं कि – "बेटी धन को अधिक पढाना–लिखाना अच्छा नहीं है। इस लडकी को देखो सभी के सामने क़तर–

---

[1] रजत रानी मीनू, वे दिन, उपेक्षा अप्रैल–जून, 2007, पृ : 105

[2] सूरजपाल चौहान, बदबू, पृ : 65

क़तर जुबान चलाती है.... हमने तो सारी लाज शर्म उतारकर रख दी।"[1] इन शब्दों से समझा जा सकता है कि संतोष आधुनिक चिंतन रखनेवाली है चूँकि घर की परंपरावादी रूढ़ मानसिकता होने के कारण उसे आगे नहीं बढ़ने दिया जाता।दलित समाज मनुवादी विचारधारा से मुक्त नहीं हुआ है जो हज़ारों सालों से अनुभव किया जा रहा है।इससे बाहर आने की चेतावनी देती है लेखक यहाँ।लोकतांत्रिक मूल्यों के आधार पर निर्मित दलित अस्मिता दलित वर्ग के लोगों में आत्मपहचान तथा स्वत्वबोध से जीने की इच्छा प्रबल करती है, शिक्षा उसकी पहली सीढ़ी है।चेतना संपन्न व्यक्ति अपने अधिकारों के प्रति सचेत होता है उसके सोच एवं दृष्टिकोण में परिवर्तन आता है, इसलिए सारी रुकावटों का प्रतिरोध करते हुए अपनी अस्मिता स्थापित करने की चेतना दलित रचनाकार अपनी कहानियों के माध्यम से दिखा रहा है।

नौकरी के क्षेत्र में दलित

ब्राह्मणी समाज का जाति शास्त्र स्कूल–कॉलेजों में छात्र–छात्राओं तक ही सीमित नहीं रहा है बल्कि नौकरी के क्षेत्र में भी उसका कठोर रूप देखने को मिलता है।यहाँ दलित के लिए साराविभाग बंद है, अस्पृश्यों को अक्सर प्रवेश नहीं मिलता है, उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाता है।नौकरी में सिर्फ एक क्षेत्र ही ऐसा है, जहाँ पिछड़ों तथा अस्पृश्यों के साथ कोई भेदभाव नहीं है और वह है सफाई का काम।इस क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा की भी कोई ज़रूरत नहीं है, क्योंकि सारे के सारे पद अस्पृश्यों के लिए होते हैं।इसलिए कि प्राचीन

[1] सूरजपाल चौहान, बदबू, पृ : 65

धर्म ग्रंथों के अनुसार शुद्र, अछूत का काम दूसरों की सेवा ही है।उच्च पद प्राप्त करने तथा अफसर बनने में उन्हें कोई अवकाश नहीं है।यदि किसी न किसी प्रकार उच्च पद प्राप्त करे तो उन्हें हेय दृष्टि से ही देखा जाता है तथा कहा जाता है कि आरक्षण के ज़रिए ही नौकरी प्राप्त हुई है । समाज में समानता लाने के लिए तथा पिछडी जाति की प्रगति के लिए ही भारतीय संविधान ने आरक्षण की सुविध प्रदान की है। लेकिन कभी कभी अपने अधिकारों से भी दलित वंचित होते हैं इन सारे समस्याओं के प्रति प्रतिरोध है आज की दलित कहानियों में।प्रतिरोध के ज़रिए अपनी अस्मिता स्थापित करना उनका लक्ष्य है।

श्यौराज सिंह बेचैन की कहानी 'होनहार बच्चे' में ब्राह्मण वर्ग के उस चरित्र को सामने लाया जाता है जहाँ वह एस.सी. का सर्टिफिकेट बनवाकर भी ब्राह्मण बना रहता है और आरक्षित पद पर खुद बैठ जाता है।क्योंकि अधिकांश जगहों पर विभागाध्यक्ष और एक्सपर्ट उच्च वर्ग के प्रतिनिधि ही होते हैं।किन्तु जब प्राध्यापक के इंटरव्यू में एस.सी. प्रतिनिधि सवाल उठाता है कि एस.सी. के पद पर एस.सी. को ही लिया जाना चाहिए।इस समय एक्सपर्ट प्रो.तिवारी अपना तर्क देते हैं कि जो उच्च वर्ग की संकुचित मानसिकता की अच्छी सबूत है।उनका कहना है – "नहीं यह कोई शर्त नहीं है, कौन कितना लिखता पढता है।यह तो साक्षात्कार समिति की स्वायत्तता को जैसा लगता है वैसा करती है।उसका अधिकार सर्वोपरि है। सुरक्षित है। सब्जेक्ट एक्सपर्ट तुम हो या मैं? जो होनहार है, वे चुने जा रहे हैं। हम एस.सी. नान एस.सी.

के चक्कर में नहीं पडते।"[1] प्रो.तिवारी अपनी सजातीय ब्राह्मण पुनीत को आरक्षित सीट पर नियुक्ति देता है।अतः ब्राह्मण समाज के जातिशास्त्र के अनुसार योग्य–अयोग्य या मैरिट का प्रश्न बेमानी है क्योंकि उसमें एक अयोग्य ब्राह्मण, योग्य बन जाता है।अयोग्य को योग्य बनाने की यह लंबी परंपरा आज भी मौजूद है प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से।इसकी ओर प्रतिरोध जगाने का प्रयास करते हैं कहानीकार।हमारे वर्चस्ववादी समाज में एक व्यक्ति की योग्यता उसकी जाति की उच्चता के आधार पर ही होती रहती है।अशिक्षितों के लिए जो मिलना चाहिए वह भी अपने हाथ में लेने का षड्यंत्र ही चारों ओर हो रहा है। वैसे ही कुसुम मेघवाल की कहानी 'समय के शिलालेख' में यह दर्शाया गया है कि जिले में दलित जाति के नए कलेक्टर के आने पर ठाकुर वर्ग पहले यह पूछता है कि उसकी जाति क्या है।जाति जानते वक्त व्यंग्य के साथ कहता है 'देख लेंगे इसे भी' ।चाँदी के जुते के आगे कौन ठहरा है? वैसे ही इनमें कौन सी बुद्धि होती है? गरीब होते हैं बेचारे। आरक्षण की बैसाखियों के सहारे बन जाते हैं कलेक्टर।"[2] यहाँ देखना चाहिए कि एक दलित कलेक्टर हो या स्वीपर किसी क्षेत्र में काम करनेवाले होने पर भी हमेशा सवर्ण की आँखों में वह पिछडा ही है।अब भी उनकी इस दृष्टि में बदलाव नहीं आया है। यहाँ समाज में व्याप्त अंदरूनी जातिगत भेदभाव और ऊँच–नीच की स्थितियों को लेखक ने अभिव्यक्त किया है।उनकी नज़रों में उनकी कोई हैसियत नहीं थी।

---

[1] श्यौराज सिंह बेचैन, होनहार बच्चे, पृ : 39

[2] कुसुम मेघवाल, समय के शिलालेख, पृ : 130

समाज के विभिन्न स्तरों पर दलित उत्पीडन बराबर हो रहा है। कार्यालय, शिक्षा का क्षेत्र और अन्य सामाजिक गतिविधियों में भी उनका दोहन एक सच्चाई है।किन्तु अनिता भारती की कहानी 'एक थी कोटे वाली' का दलित पात्र सदियों से झेलती आ रहे अपमान–शोषण को और झेलने के लिए तैयार नहीं होता। वे दलित अस्मिता की पुख्ता पहचान के साथ दृढता से सामने आकर चुनौती देती हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय से एम.एस.सी. फर्स्ट क्लास और जमिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय से एम.एड. लेकर गीता इस नये विद्यालय में शिक्षिका के रूप में आ गयी। किन्तु दलित जाति के होने के कारण उसे पहले दिन ही अन्य सवर्ण अध्यापक गण से अवहेलना झेलनी पडती है।लेकिन गीता उन सवर्ण अध्यापिका को बडे आत्मविश्वास और आत्मसम्मान से चुनौती देती है – "हमें अयोग्य कहते हो? हमसे कम्पटीशन करना चाहते हो? तो आओ मुझसे करो कम्पटीशन? देखते हैं कौन जीतता है, मैं या तुम?"[1]यहाँ गीता ने चेतना संपन्न नारी के रूप में अपनी अस्मिता को व्यक्त किया है।वह इस अवहेलना के सामने चुप्पी रहने के लिए तैयार नहीं है इसलिए उसका सटीक और विद्रोही चित्रण देखने को मिलता है।

आर्थिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह

समाज में सम्मान के साथ जीने तथा आगे बढने में अर्थ का स्थान सर्वोपरी है।अर्थ और आर्थिक व्यवस्था द्वारा ही समाज के सारे

[1] अनिता भारती, एक थी कोटे वाली, पृ : 105

कार्यकलाप निर्धारित होते हैं।अतः इस अर्थ केंद्रिंत सामाजिक व्यवस्था में जीवनयापन के लिए अर्थोपार्जन मानव की अनिवार्य ज़रूरत है।

प्राचीनकाल से लेकर आजतक भारतीय समाज में दलितों पर खुलकर किसी न किसी प्रकार के अन्याय एवं अत्याचार हुए हैं और होते आ रहे हैं, इन अत्याचारों में से एक है आर्थिक शोषण।गरीबी दलितों की स्थिति को हमेशा से ही बहुत दयनीय बना रही है।आर्थिक विपन्नता में पडे दलित समाज के शोषण का प्रयास सवर्ण–पूँजीवादी समाज द्वारा हमेशा करता रहता है इसलिए आर्थिक विपन्नताओं से पग–पग पर अपमानित होना उनकी नियति है।दलितों को अपने मालिकों पर काम करना पडता है लेकिन उनको अपने दिन–रात श्रम के बदले में निंदा, उनकी मार–पीट सबको सहना पडता है। समकालीन दौर में उनकी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए अनेक योजनाएँ बनायी गयीं पर आज भी दलितों की स्थिति बहुत शोचनीय है।दलित मन की अज्ञता तथा भोलेपन का फायदा उठाकर पूँजी वर्ग उनका शोषण करते रहते हैं।ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'पच्चीस चौक का डेढ़ सौ' कहानी का चौधरी उपरोक्त अर्थनीति का बड़ा समर्थक है।वह एक चालाक आदमी ही है।कहानी में सुदीप का पिता पिछले पैंतीस सालों से चौधरी के सौ रूपये का कर्ज चुकाता आ रहा है।अपनी पत्नी के इलाज के लिए उसने पैसा कर्ज लिया था। इस समय चौधरी अपना चाल बिछाया था, "मैंने तेरे बुरे बखत में मदद करी तो तू ईमानदारी से सारा पैसा चुका देना। सौ रुपये पर हर महीने पच्चीस रुपये ब्याज के बनते हैं।चार महीने हो गये हैं।ब्याज के हो गये हैं पच्चीस चौका डेढ़

सौ।तू अपना आदमी है।तेरे से ज़्यादा क्या लेगा। डेढ़ सौ में से बीस रूपया कम कर देना। बीस रूपया तुझे छोड दिये।बचे एक सौ तीस।चार महीने का ब्याज एक सौ तीस अभी दे। बाकी रहा मूल जिब होगा तब दे देना, महीने के महीने ब्याज देते रहेगा।"[1] इस प्रकार चौधरी अशिक्षित दलित के सामने पच्चीस चौका डेढ़ सौ का गलत पहाडा बताकर उनका शोषण करते आ रहा है। निरीह पिता को चौधरी पर ईश्वर के समानपूरा विश्वास है।लेकिन उसका बेटा शिक्षित सुदीप शहर से वापस आकर अपने पिता की गलती सुधारता है।अपने ऊपर चौधरी के ज़रिए होने वाले अत्याचार को जानते हुए वह बूढ़ा बस इतना ही कहता है कि – "कीड़े पड़ेंगे चौधरी, कोई पानी देनेवाले भी नहीं बचेगा।"[2] यहाँ एक बूढ़े निरीह आदमी की आस्था पर पडे हुए टूटन ही है जो अपनी पूरी जिंदगी उसके पाँव के नीचे समर्पित किया है।

रजत रानी 'मीनू' की कहानी 'फरमान' में दलित पात्र कर्मवीर अपने पिता की तरह गाँव के चौधरी रामौतार सिंह के घर में पशु चुराने का काम करने लगा है। पूरी ईमानदारी एवं निष्ठा के साथ वह अपना काम करता है परंतु एक दिन उससे एक भैंस खो जाती है।सारे लोग भैंस चुराने का आरोप कर्मवीर पर करता है। लोग कहने लगे कि उन्होंने ही अपनी आर्थिक विपन्नता के कारण चुराई है इस पर दुखी होकर वह कहता है – "हम भूखे मर सकते हैं, पर चोरी करना नाय सीखे है। चोरी ही करते होते तो कबहू के कहल

---

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, पच्चीस चौका डेढ़ सौ, पृ : 24

[2] ओमप्रकाश वाल्मीकि, पच्चीस चौका डेढ़ सौ, पृ : 28

खड़े होते हमारे।हम काए चुरावेंगे काऊ की भैंसिया।"[1] चौधरी भी उसकी पूरी ईमानदारी को भूलकर उस पर आरोप लगाते हैं।वह पंचायत बुलाता है और पंचायत उसे सजा ए–मौत का फरमान जारी करता है। बाद में एक दिन उसकी लाश खेत से मिलती है छाती में गोली मारकर ही उसकी हत्या कर दी जाती है।यही है दलित की ज़िन्दगी।अपनी ज़िन्दगी भर सवर्णों के लिए पूरी निष्ठा के साथ काम करने पर भी उन्हें विश्वास नहीं है। कर्मवीर की तरह अन्य दलित की नियती यही है।अपनी आर्थिक स्थिति के कारण ही इन लोगों को सारे शोषण को मूक होकर सहना पड़ता है, इसके प्रति संघर्ष की चेतावनी है प्रस्तुत कहानी।

धार्मिक-व्यवस्था से दलित विरोध

भारतीय समाज में धर्मो को प्राचीन काल से ही अत्यधिक महत्व दिया जाता था।आम समाज में धर्म की भूमिका चाहे जितनी भी महत्तर हो, दलितों के लिए वह शोषण का बडा माध्यम है, शोषण का एक ओर ज़रिया है। धर्म में व्याप्त दुराचार व अनुष्ठानों की आड़ में होते शोषण के खिलाफ भी दलित समाज अपना प्रतिरोध जाहिर करता है।क्योंकि ये सारे आचार–अनुष्ठान सवर्णों ने अपनी सुविधा के लिए तैयार की गयी थी।ये सारे धर्म उच्च वर्ग को ही प्रमुख स्थान दिया गया है वह मानो ब्रह्मा का प्रतिपुरुष है, इसलिए ब्राहमण की वाणी ब्रह्मा की वाणी मानी जानी चाहिए।इसलिए मनुस्मृति को हिन्दू संस्कृति का आधार ग्रन्थ माना जाता है।

---

[1] रजत रानी 'मीनू', फरमान, पृ : 25

मनुस्मृति के अनुसार शूद्रों का एक मात्र काम अन्य तीनों वर्णों की सेवा करनी है।उच्चवर्गवालों ने इन्हें शारीरिक और मानसिक रूप से गुलाम बनाया था – धर्म के ज़रिए।धनोपार्जन के लिए कोई स्वतंत्र व्यवस्था न होने के कारण वे कभी भी आत्मनिर्भर होकर ऊपर उठ नहीं सके।उन्हें अपनी जीविका चलाने के लिए उच्च वर्गों के घर और खेतों में कठिन काम करना पड़ा।धर्म के वास्ते समाज द्वारा दलितों पर जो काम थोपा गया था उसमें मैल ढोने की प्रथा प्रमुख है, जो आज भी पिछडे लोग इस रूढी प्रथा को अपना कर्तव्य मानकर करते आ रहे हैं।नहीं तो घर की स्थिति कमज़ोर होने के कारण बेचैन होकर अपना पैतृक पेशा छोड़ने के लिए भी ये लोग तैयार नहीं हैं।इसकी ओर चेतना का आह्वान कर रहा है सूरजपाल चौहान की कहानी 'बदबू' में।कहानी में दलित परिवार की बदबू ने हाईस्कूल के बाद आगे पढने की इच्छा प्रकट की।किन्तु परिवारवालों ने उसकी शिक्षा बंद की तथा शादी करके भेजा है। संतोष को ससुराल आये दस पंद्रह दिन भी नहीं हुए थे तब उसकी सास उससे इस मैले गंदे काम करने के लिए कहा जाता है।बात करते–करते उसने संतोष को एक थप्पड़ भी दिया।वह कुछ देर रोती रही फिर थोड़ी देर बाद हिम्मत जुटाये हुए बोली – "चाहे मेरी जान चली जाये पर मैं यह गन्दा काम हरगिज नहीं करुँगी। दूसरे समाज के पढे लिखे तो दूर अनपढ होकर भी यह काम नहीं करते..... वे दूसरा काम करके अपना जीवन यापन कर लेते हैं। लेकिन यह गन्दगी से भरा काम कतई नहीं करते।आखिर हमारी जात बिरादरी के लोग ही यह काम क्यों करते हैं?"[1] प्रस्तुत कहानी में बदबू शिक्षित आधुनिक चिंतन

[1] सूरजपाल चौहान, बदबू, पृ : 66

रखनेवाली है इसलिए वह अपने ऊपर, अपने वर्ग के ऊपर होनेवाले शोषण को ठीक ढंग से समझती है। किन्तु उसकी पुरानी पीढ़ी इस धार्मिक रुढियों से अभी भी मुक्त नहीं है।वह मैल ढोने की प्रथा के खिलाफ अपनी मुहिम ज़ारी रखती है। संतोष ने यह सवाल अपने समाज के सामने खड़ा कर दिया है।कहानीकार ने 'बदबू' के माध्यम से समाज की इस मानसिकता को दिखाकर चेतना लाने का संकेत किया है।

भारत में प्राचीनकाल से ही निम्न जातियों को अछूत या शूद्र कहकर उनके लिए मंदिर प्रवेश करना निषिद्ध माना गया था।जातिप्रथा तथा छुआछूत सवर्णों द्वारा बनायी गयी संकल्पना है।ऊँच–नीच के भेदभाव ने जातियों में पारस्परिक ईर्ष्या और बाद में अस्पृश्यता पैदा की है। ईश्वर ने ही सवर्ण और शूद्र को निर्मित किया लेकिन केवल शूद्र के लिए मंदिर जाना निषिद्ध है। ऊँच जाति के लोग उन्हें अपवित्र मानते हैं और वे उनकी छाया मात्र से कोसों दूर भागते हैं। उन्हें मुख्य मार्ग से चलने की मनाही थी।वैज्ञानिक रूप से विकसित होने पर भी सवर्ण के मन में आज भी दलित के प्रति व्यवहार ज्यों का त्यों है। आज भी कहीं–कहीं मंदिरों में दलितों के लिए प्रवेश निषिद्ध है।सवर्णों द्वारा यह माना गया था कि दलित अगर प्रवेश करेंगे तोमंदिर भ्रष्ट हो जाएगा।इस आमानवीय भेदभाव की ओर पूरन सिंह ने अपनी कहानी 'यूज़ एंड थ्रो' में दिखाया है।प्रस्तुत कहानी में दलित श्यामलाल अपनी पत्नी गर्भवती होने की खुशी में दोनों मिलकर दलितों के लिए निषिद्ध मंदिर में प्रवेश करते हैं।किन्तु आग की तरह फैली हुई इस समस्या को लेकर

पंचायत ने उन्हें दंड देने का निर्णय लिया है।पूछने पर श्यामलाल उत्तर देता है कि – "मैं कहाँ आप सबके बराबर हूँ। बस ऐसे ही मंदिर चला गया था।राजो गर्भवती है इस खुशी में वह मंदिर जाने का जिद करने लगी थी।इसलिए चला गया था।"[1] फलतः इससे नाराज़ होकर सवर्ग लोगों ने खूब मारा और उन लोगों ने जबरत जूतों में भरकर पानी पिलाया था उन्हें। यहाँ दलितों पर किये जानेवाले अत्याचारों की ओर लेखक ने इशारा किया है।अछूतों के प्रति घृणा का भाव आज भी हमारे समाज में स्पष्ट है। जातिगत एवं धार्मिक संकीर्णता का जहर परंपरा एवं समाज से प्राप्त होता है, इसे तोड़े बिना दलितों की उन्नति संभव नहीं।हिन्दू होने पर भी अपने समुदाय में दलितों का स्थान बाहर ही है।हर कहीं अस्पृश्य और पिछडे ही है। इसलिए दलित को सामाजिक न्याय और अपने मौलिक अधिकारों के प्रति सजग करना कहानीकार का लक्ष्य है।

'अब नहीं नाचब' कहानी में पंडित विद्यासागर चतुर्वेदी अपनी शोषण नीति का स्वयं खुलासा करता है।जो इस प्रकार है कि – "बाबू साहब हमारे पूर्वजों ने वर्ण व्यवस्था, छुआछूत और ऊँच–नीच की बातें खूब सोच–समझकर ही बनाये हैं। .....जिस गाँव में चमारों की इज्जत हो, उसमें फिर हम लोगों की इज्जत नहीं हो सकती।यही अधर्म है, यही व्यवस्था का विरोध है और यही अनीति है। .....हर हालत में इन्हें दबाना होगा और दबाये रखना ही होगा चाहे कुछ को जान से मारना ही क्यों न पडें।"[2] यहाँ लेखक ने पंडित चतुर्वेदी के द्वारा पूरे सवर्ण पूँजीवादी वर्ग की मानसिकता को खुले ढंग से

---

[1] पूरन सिंह, यूज़ एंड थ्रो, पृ : 135

[2] रामनिहार विमल, ए.बी.ए. नहीं नाचव, दलित साहित्य 2002, पृ : 250

प्रस्तुत किया है।लेकिन पंडित की इस साजिश के प्रति दलित वाकिफ है, इसका स्पष्टीकरण यों किया है – "हमें तो इस बात की खुशी है भई कि झूठ और ठगी कि एक नयी बात धर्म बनने से वंचित रह गयी।यदि चमार नहीं अडे होते तो गेहूँ चमारों को नहीं खाना है – धर्म का आदेश बन जाता।गेहूँ के बोलने की झूठी बात वेद–पुराणों की कथा बन जाती। इस कथा से पंडित विद्यासागर चतुर्वेदी, धर्म के महान ज्ञात–ऋषि–मुनि बन, बाबू शेर सिंह ब्राह्मणों के तारनहार, भगवान विष्णु या किसी देवता के अवतार और कन्हई चमार एक नये प्रकार का राक्षस या असुर बन जाता।हम लोग इसी झूठी कथा को धर्म मानकर, हाथ जोड–जोडकर श्रद्धा से सुनते। विद्यासागर चतुर्वेदी की आनेवाली पीढियाँ इसी झूठी कथा को सुना–सुनाकर हम लोगों की आनेवाली पीढ़ियों के लिए स्वर्ग का दरवाज़ा खुलवाती।उनका धंधा–पानी फलता–फूलता।"[1] आखिर दलित सचेत है।

दलित नारी

पितृसत्तात्मक समाज में नारी का शोषण लिंगभेद के आधार पर होता आ रहा है।स्त्री जीवन के बारे में बाबा साहेब अंबेडकर कहते हैं –'भारतीय समाज व्यवस्था में स्त्री दलितों से भी दलित है।इस व्यवस्था ने न केवल उसकी अस्मिता को नकारा है बल्कि उसे हमेशा दूसरा दर्जा दिया है।उसका प्रवेश ज्ञान क्षेत्र से लेकर धर्म क्षेत्र तक वर्जित था।हज़ारों वर्षों से वह दासतापूर्ण जीवन जी रहा था' । अतः नारी चाहे जहाँ भी हो उसके शारीरिक और

[1]रामनिहोर विमल, अब नहीं नाचव, दलित साहित्य 2002, पृ : 250

मानसिक शोषण होता ही रहता है। नारी के शारीरिक शोषण करने में किसी भी जाति का पुरुष पीछे नहीं है।आज उनका जितना शोषण हो रहा है, उनके साथ जितने अत्याचार एवं अन्याय हो रहे हैं, इसके विरुद्ध आवाज़ उठाने के लिए स्वयं उठना चाहिए।अगर नारी दलित हो तो उसके शोषण के खिलाफ आवाज़ उठाने के लिए कोई नहीं आता है।आज दलित स्त्रियाँ भी मुक्ति चाहती हैं।वे मुक्ति के लिए सारे बंधनों को तोडना चाहती हैं। इसलिए आज उसमें इतनी शक्ति है कि यदि कोई उनकी अस्मिता पर चोट करे तो वे शेरनी बनकर अपने स्वत्व और अस्मिता की रक्षा करने के लिए कोशिश करती है। सूरजपाल चौहान की 'अँगूरी' कहानी में नायिका अँगूरी एक दलित नारी है।गाँव का ठाकुर मुखिया उसकी इज्ज़त लुटना चाहता था, पर अँगूरी उससे डरती नहीं। ठाकुर मुखिया उसका बलात्कार करने की कोशिश करता तो वह आत्मविश्वास के साथ हसिया पकडकर शेरनी का रूप धारण कर लेती है। इस पर ठाकुर अपनी जान बचने के लिए अँगूरी के पाँव पडने के लिए भी तैयार हो जाता है, तब अँगूरी उसे जान से मारने के स्थान पर घर से भगा देती है और कहती है कि – "चाहे जान चली जाए पर इन दरिंदों के सामने नहीं झुकूँगी।चल निकल यहाँ से, यदि ज़रा भी देर लगाईं तो तेरी अंतडिया निकालकर बाहर धर दूँगी पोंगा पण्डित.....मैं अहिल्या ना हूँ अँगूरी हूँ अँगूरी।"[1]यहाँ दलित नारी स्त्री शोषण के प्रति जागरूक होने के साथ प्रतिरोध भी करती है।वह पहचानने लगी है कि अपना शरीर अपना ही है इस पर

[1] सूरजपाल चौहान, अंगूरी, हैरी कब आएगी, पृ : 47

अधिकार जमाने का हक किसी को नहीं है।अगर किसी ने अधिकार जमाने के लिए आता है तो लडने से भी डरती नहीं।

एक ओर जहाँ समाज में दलितों के उपेक्षा का भाव है, वहीं दूसरी ओर अपना स्वार्थों की पूर्ति हेतु उनका उपभोग कर लेने की प्रवृत्ति भी देखी जा सकती है।ऐसे अवसरों पर अस्पृश्यता, अछूत की बात मात्र गौण हो जाती है।मंदिरों में तथा गाँवों के सवर्णों द्वारा दलित नारी पर किए जानेवाले अत्याचार इसी मानसिकता की उपज हैं।यहाँ नारी केवल भोग की वस्तु मात्र है।लेकिन पुरुष वर्चस्ववादी–जातिवादी समाज के शोषण को सहकर वह मूक नहीं बैठती।अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए परंपरा को तोडकर आज की स्त्री बाहर निकलती है तो उसमें एकतरफ सार्थकता का आत्मबोध भी झलकता है। इसका स्पष्ट उदाहरण सुशीला टाकभौरे की 'दमदार' कहानी।कहानी में जग्गू पहलवान गाँव का चरित्रहीन एक नंबर का गुण्डा–बदमाश है।गाँव की सारी अच्छी लडकियों की इज्ज़त लूटने में वह किसी से डरता नहीं। वैसे ही जग्गू कंजर जाति की सुमन को अपने वश में लाने की कोशिश करता है।किन्तु सुमन बडी दबंग और हिम्मतवाली औरत है।अपने ऊपर होनेवाले अत्याचार को सहने के लिए वह अबला नहीं है, इसलिए पूरी ताकत के साथ वह चीखती है – "क्या कहा? कंजरनी.....? अरे कंजर.....तू तो कंजरों से भी गया–बीता है। दिन में आने से डरता है।रात में मेरे घर में घुसा रहता है।चार महीने से मुझे चाट रहा है.....आज मैं तुझे नीच कंजरनी लगती हूँ? अरे तू तो कंजरनी के पांव की धूल भी नहीं है।अभी तक आदमी ही सारे आम औरतों को नंगा

करके मारते आए हैं।क्या, औरत आदमी को नंगा करके नहीं मार सकती।"[1] इसके बाद उसने जग्गू की कमीज़ और बनियान फाड डाली और अपने हाथों से उसकी छाती, मूँह और सिर पर मारने लगी। सदियों से इकट्ठा होते आये सारा गुस्सा उसपर झाड देती है।

पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों को बराबरी का दर्जा नहीं दिया जाता है।उनके प्रताडन और शोषण को पारिवारिक और व्यक्तिगत माना जाता है। स्त्रियों को दासी बना दिया जाता है अधिकारहीन बना दिया जाता है।परिवार में उनका अपना अस्तित्व नहीं है।पुरुष हमेशा उसे दबाकर रखना चाहता है।यदि नारी दलित हो या सवर्ण शोषण हर कहीं बराबर है। इस अन्याय के खिलाफ दलित नारी में भी एक प्रकार की क्रांति का भाव आने लगा है।वह समझती है कि उसका भी अपना एक अलग अस्तित्व है।उमेश कुमार सिसौदिया की कहानी 'विद्रोह' में सुखराम और रम्पो चमार जाति के पति पत्नी हैं। सुखराम अपने काका की मृत्यु होने पर उसकी तेरहवीं चलाने के लिए एकमात्र तीन बीघा ज़मीन बेचने के लिए तैयार हो जाता है।किन्तु विवेकी रम्पोएक दिन की रूढी परंपरा के लिए जीवन भर भिखारी बन जाने में तैयार नहीं है।इसलिए पति को समझाते हुए पत्नी का कहना है – "बाप की जो निसानी तीन बीघा ज़मीन है उसे भी बेचकर बस्ती वालों को खिला दो।कक्का राख में से तो निकल आवैंगे।घर का हर फैसला करने का हक तो मर्दों का है।चाहे घर लुटा दें।तब भी वह गलत होते हुए भी सही होते हैं।औरतों का सही

---

[1] सुशील टाकभौरे, दमदार, पृ : 101

निर्णय भी गलत माना जाता है।यह कहाँ का न्याय है। तुम बस्तीवालों की बात मानो। मैं अब तुमसे कुछ नहीं बोलूँगी।"[1] यहाँ पत्नी एक चेतना संपन्न नारी के रूप में अपना निर्णय प्रकट करती है जहाँ पुरुष के सम्मुख अपनी राय प्रकट करने की अनुमति नहीं है।

कानून और दलित

भारतीय संविधान में सामाजिक एवं आर्थिक सुरक्षा के साथ उनके अधिकारों के संरक्षण हेतु तमाम कानून बने और बनाए गए। जितने भी नियम बनने पर भी दलित पर होनेवाले अत्याचारों को रोकने में कानून आज भी सक्षम नहीं है। अतः आजकल कानून भी दिखावा है।इससे दलितों को न्याय नहीं मिल रहा है। अगर दलितों के खिलाफ कुछ किया गया तो भी ज़मानत नहीं मिलेगी।जो उन्हें सुरक्षा देनी है, वही आज उनका भक्षक बन जाता है।इस दृष्टि से लिखी गयी कहानियों में रत्नकुमार सांभरिया की 'बाढ़ में वोट' महत्वपूर्ण है। वोट की आज़ादी के मूल्य के कारण एक स्वाभिमानी शिक्षित दलित परिवार बाढ़ में वोट की राजनीति में डूबकर किस तरह तबाह हो जाता है, उसे इस कहानी में देखा जा सकता है। बाढ़ में घिरे पीलाराम और उसके पाँच बेटे को इसलिए नहीं बचाया गया कि उन्होंने अपने वोट के अधिकार का इस्तेमाल करते हुए मौजूदा आपदा प्रबंधन अधिकारी फव्वा जी के खिलाफ चुनाव में खडे विपक्षी प्रत्याशी को ही वोट नहीं दिलाया था।बल्कि पूरी बिरादरी का वोट भी उसे ही दिलाया गया था।इस के विरोध में फव्वाजी

---

[1] उमेशकुमार सिसौदिया, विद्रोह, पृ : 249

इतना क्रूर, अमानवीय हो गया कि उन्हें पानी में डूब जाने दिया।जब सुबह फव्वाजी पीलाराम के शोक परिवार को सांत्वना देने के लिए पहुँचा तो, परिवार का विद्वोष यों प्रकट होता है कि – " पलक झपकते ही आका के माथे पर गीली रेत का ढेला लगा।आका की आँखों, आका का मूँह, आका का चेहरा, आका के कपडे सब रतम–रेत हो गए थे।बलबीर का दसेल का साला का लडका शूरवीर चौथी कक्षा में पढता था।अपने रेत का लड्डू बनाकर आका के माथे पर मारा था, तान कर।"[1]कहानी में अस्तित्व के संकट में भी अपनी अस्मिता को बचाए रखने की छटपटाहट इस परिवार के द्वारा दर्शाया गया है।

'यह अंत नहीं' कहानी में दलित युवती बिरमा पर, सवर्ण जाति के सचींदर द्वारा बलात्कार हुआ है। इस दुर्घटना पर चुप रहने के लिए बिरमा का भाई किसन तैयार नहीं था, उसमें विद्रोही भावना जाग उठती है और वह कहता है – "बापू बिरमा का दोष क्या है?.....जो उसे सजा मिलेगी।नहीं बापू.....सचींदर को ही सजा मिलेगी।"[2] यहाँ किसान अपने अधिकारों के प्रति सचेत है। अपने न्याय के लिए लडने को वह तैयार है।इस लिए रिपोर्ट करवाने का साहस करता है। किन्तु यहाँ कानून भी दलित का साथ नहीं देता है।पुलिस अधिकारी उसकी बात को अनसुनी करता है और कहता है – "छेडखानी हुई है....बलात्कार तो नहीं हुआ तुम लोग बात का बतंगड बना रहे हो। गाँव में राजनीति फैलाकर शांति भंग करना चाहते हो। मैं अपने इलाके

---

[1] रत्नकुमार सांभरिया, बाढ़ के वोट, अपेक्षा, अप्रैल–जून 2007, पृ : 32

[2] ओमप्रकाश वाल्मीकि, यह अंत नहीं, पृ : 24

में गुंडागर्दी नहीं होने दूँगा....चलते बने ।"[1]सामाजिक, आर्थिक असमानता के समान कानून भी दलित को पीछा कर रहा है। अपने मौलिक अधिकारों से भी वे वंचित है। दलितों के इस हालत के लिए सामंतवादी–पूँजीवादी व्यवस्था ही जिम्मेदार है।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि समाज के कुछ वर्चस्ववादी लोगों द्वारा अन्य जन्मगत, श्रमगत कारणों से बहुतायत लोगों को हेय, नीच या अस्पृश्य समझे जाने का विरोध ही दलितों की अस्मिता के उद्भव के रूप में निकलकर आ रहा है।ये वर्चस्वी मानवसमूह अपनी संस्कृति को उच्च और दूसरी संस्कृतियों को निम्न दिखाने का हथकंडे अपनाते हैं।इनके द्वारा निर्मित इस अन्याय एवं शोषण के षड्यंत्र के खिलाफ का प्रतिरोध है दलित साहित्य।यह सामाजिक और सांस्कृतिक पुनर्रचना का साहित्य है।यहाँ दलित अपनी अस्मिता को, अपने स्वत्व को केंद्र में रखते हुए अपनी एक नयी संस्कृति का निर्माण कर रहा है।

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, यह अंत नहीं, पृ : 24

उपसंहार

राष्ट्र और राष्ट्रीयता की संकल्पना आधुनिक विश्व के सबसे शक्तिशाली विचारों में से एक है ।यह एक अमूर्त विचारधारा है, संपूर्ण राष्ट्र की एकता का प्रतीक है ।पश्चिम में राष्ट्र के लिए जिस अंग्रेज़ी शब्द 'नेशन' का प्रयोग होता है, वह लैटिन भाषा के 'नेशियो' शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है जन्म या प्रजाति ।कभी आयरलैंड में कुलप्रमुख को राष्ट्र प्रमुख कहा जाता था तो जर्मनी और फ़्रांस जैसे देशों में राष्ट्र शब्द उच्चाशासक वर्ग के लिए प्रयुक्त होता था । फिर फ़्रांस की राज्यक्रांति ने ही इसे सर्वथा नया अर्थ प्रदान किया जैसे कि 'नेशन' शब्द की अपार लोकप्रियता दी और 'देशभक्ति' का नया अर्थ भी दिया ।प्राचीन और मध्यकाल में देशभक्ति और राष्ट्रीयता में भिन्नता हो सकती है, किंतु वर्तमान समय में दोनों शब्द भावात्मक रूप में पर्यायी हो गए हैं ।राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता की रुपायिती केलिए भौगोलिक एकता, संस्कृति, भाषा, धर्म, परंपरा, ऐतिहासिकता जैसे तत्व किसी न किसी रूप में कार्य करते हैं ।इसमें प्रत्येक तत्व की निजी विशेषताएँ होती हैं ।अनेक विद्वानों ने राष्ट्र संबंधी अपना अपना मत प्रकट किया है, इन सारी परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि राष्ट्र का स्वरूप मात्र भौगोलिक नहीं है बल्कि एक राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत आनेवाले भूभाग के साथ जनसमूह तथा जन संस्कृति की भी अपेक्षा होती है ।इस राष्ट्र की संकल्पना में विविधता में एकता या समन्वय का भाव निहित होता है ।किंतु नव उपनिवेशवादी–पूँजीवादी संस्कृति का जो अर्थतंत्र है उसकी गिरफ्त में संपूर्ण दुनिया फँस गई ।यह विचारधारा हमारी संस्कृतियों के वैविध्य को मिटाकर सांस्कृतिक समरूपता स्थापित करने का प्रयास करती है । फलतः राष्ट्रीयता कमज़ोर होती जा रही है और प्रत्येक राष्ट्र की

अस्मिता नष्ट होने लगी है ।अर्थात ये व्यापारी और छद्म संस्कृति ने हमारी राष्ट्रीय संस्कृति पर इतना भारी आक्रमण किया है कि संस्कृति का व्यापक अर्थ ही बदल गया है ।यह हमें संकीर्णता की ओर ले जाती है ।वैश्वीकृत संस्कृति एक ओर बाज़ारवाद, उपभोक्तावादी व्यापारी दुनिया की ओर ले जाती है तो दूसरी ओर जातिवाद, सांप्रदायिक राष्ट्रवाद एवं फासीवाद की ओर धकेल रही है । इस पूँजीवादी दुनिया में पड़कर हाशियेकृतों तथा स्थानीय पारंपरिक संस्कृतियों की अस्मिता दब रही है । भारतीय राष्ट्र की जो आम धारणा नवजागरण और स्वाधीनता आन्दोलन के समय बनायी गई थी उस पर वैश्वीकरण और सामुदायिक कट्टरवाद, दोनों के ही बौद्धिक पैरोकार कर रहे हैं ।इसलिए इस सवाल की प्रासंगिकता बढ़ जाती है कि राष्ट्र किसका है, इसका उत्तर इक्कीसवीं सदी के साहित्य में प्राप्त है ।

इक्कीसवीं सदी का साहित्य विविधता एवं बहुलता का ही है । समाज के विभिन्न तबके के लोग जो अभी तक हाशिए पर रहे हैं, जिनकी संस्कृति एवं अस्मिता को निरंतर दबाया गया है, वे आज साहित्य के केंद्र में प्रतिष्ठित हो गए हैं । तत्कालीन साहित्यकारों ने अपने राष्ट्र पर पड़े हुए साजिश को सही अर्थ में समझ लिया है और उन्होंने जो कार्य इस दौर में शुरू किया है वह महत्वपूर्ण है ।उनको लगता है कि अपने राष्ट्र और पारंपरिक, मूल संस्कृतियों को सुरक्षित रखने के लिए इस वर्चस्ववादियों के विरोध में खड़ा होना ज़रूरी है क्योंकि दलित, आदिवासी, स्त्री जैसे हाशियेकृतों के बिना न राष्ट्र भी पूर्ण है और न साहित्य भी ।उनकी भी अपनी संस्कृति और अस्मिता है ।इसकी पहचान है समकालीन साहित्य ।इसलिए इक्कीसवीं सदी का साहित्य भूमंडलीय,

फासीवादी संस्कृति का प्रतिरोध करते हुए अपनी स्थानीय तथा हाशियेकृतों की संस्कृतियों को केंद्र में स्थान देते हुए एक नयी राष्ट्रीयता को परिभाषित कर रहा है ।यह एक नयी अवधारणा है ।

नवराष्ट्रीयता भारत में स्वाधीनता आन्दोलन के समय रूपायित देशज राष्ट्रीयता का विकसित रूप है ।प्रकृति बोध के आधार पर विकसित, बहुलता की स्वीकृति से परिपुष्ट मानवीय अधिकारों को महत्व प्रदान करनेवाली भारतीय संस्कृति है भारत की नवराष्ट्रीयता । नवउपनिवेशवादी–पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न जो घिनौनी प्रवृत्तियाँ हैं वे राष्ट्र के विकास के लिए हानिकारक हैं ।नवराष्ट्रीयता उन सबका प्रतिरोध करती है ।तथा जो अभी तक हाशिए पर थे जिनकी अस्मिता एवं संस्कृति को धकेल दिया गया था उन सबका अपना स्थान है नवराष्ट्रीयता में । यह बहुलता के संस्कार से निर्मित राष्ट्र संकल्पना है, किसी केन्द्रीय या सांस्कृतिक प्रभुत्व की राष्ट्रीयता नहीं है ।इसमें प्रत्येक इकाई की अपनी जगह एवं अपनी अस्मिता है, सहिष्णुता इसका मूलमंत्र है ।बहुस्वरता इसकी प्रमुख विशेषता है ।यह गौरवपूर्ण कार्य समकालीन साहित्य करता आ रहा है ।इसलिए आज की कहानी विविधता एवं बहुलता से निर्मित है ।वह स्त्री, दलित, कृषक, आदिवासी तथा अन्य हाशियेकृतों की अस्मिता को केंद्र में रखते हुए जाति, वर्ग, वर्ण, धर्म, वंश आदि भेदभावों से मुक्त प्रकृति पर केन्द्रित एक राष्ट्र को परिभाषित कर रही है ।उसमें प्रत्येक की अपनी पहचान है उस पर केन्द्रित है राष्ट्र का विकास ।

राष्ट्र की अस्मिता अपनी बहुलता की संस्कृति से निर्मित है । नवराष्ट्रीयता के परिप्रेक्ष्य में इक्कीसवीं सदी की कहानियों पर विचार किया जाए तो सबसे पहले भारत की अस्मिता को बनाए रखनेवाली अपनी बहुलता की संस्कृति को बचाने के लिए नव औपनिवेशिक ताकतों से सावधान रखना अनिवार्य है ।बाज़ार का जाल दुनिया में सर्वत्र छा गया है ।बाज़ारवाद ने प्रत्येक वस्तु को उपभोग के दायरे में लाकर खड़ा कर दिया है ।मुनाफा मात्र इसका मुख्य मकसद है ।यह अपनी पूँजी और प्रचार तंत्र के द्वारा हमारे अन्दर पश्चिमी देशों की व्यापारी संस्कृति की श्रेष्ठता को प्रतिष्ठित कर हमारी अपनी राष्ट्रीय या आंचलिक संस्कृति के प्रति हीन भावना पैदा करता हैं।इस अपसंस्कृति को हमारी संस्कृति पर थोपा जाता है ।वह हमारी अस्मिताओं, भाषाओं और संस्कृति को भी नष्ट कर रहा है । इस प्रकार हमारी संस्कृति को जड़ों से उखाड़कर फेंकने और एकमुखवालीसंस्कृति में परिवर्तित करने की साजिश हर कहीं चल रही है ।जहाँ अभी तक सांस्कृतिक विविधताओं का एक खुला मंच था ।इसलिए भूमंडलीय संस्कृति ने छोटी–छोटी अस्मिताओं को अलग करके देखने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है तो बढती हुई असहिष्णुता ने मानवीय और राष्ट्रीय अस्तित्व को खतरे में डाल दिया है ।धर्म, कला, साहित्य, भाषा, परिवार, आस्था, मूल्य, संबंध, प्रकृति और इतिहास को भी भूमंडलीय करने में भूमंडलीकरण ने विशेष भूमिका निभायी है उनमें होने वाले परिवर्तन सकारात्मक नहीं हैं।ऐसे में कहानी द्वारा नवऔपनिवेशिक ताकतों के विरुद्ध प्रतिरोध का शाब्दिक हथियार कहानीकार लेते हैं, इसलिए भूमंडलीकरण और बाज़ारीकरण के दौर में उत्पन्न सांस्कृतिक विरूपीकरण के प्रतिरोध का स्वर आज का

मुख्य स्वर है ।नवराष्ट्रीयता का मुख्य लक्ष्य भी भूमंडलीय संस्कृति द्वारा स्थापित सारी मान्यताओं को तोड़कर हमारी स्थानीय, मूल संस्कृति को स्थापित करने का ही है ।इस साजिश को लेकर लिखी गयी कई कहानियाँ हिंदी में इक्कीसवीं सदी के दौर में है ।कैलाश बनपासी की 'बाज़ार में रामधन', मनीषा कुलश्रेष्ठ की 'स्वांग', एस.आर.हरनोट की 'मोबाईल', मृदुला गर्ग की 'इक्कीसवीं सदी का पेड़', राजेश जैन की 'मन मोबाईल', जयनंदन की 'घर फूँक तमाशा' आदि कहानियाँ बाज़ारवाद से उत्पन्न सांस्कृतिक विरूपीकरण का प्रतिरोध करती हैं तो अखिलेश की 'अंधेरा', सुधा अरोड़ा की 'काला शुक्रवार', वंदनाराग की 'यूटोपिया', चंद्रकांता की 'पायथान' जैसी कहानियाँ भूमंडलीय संस्कृति की संकुचित दृष्टि से उत्पन्न सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, फासीवाद आदि पर प्रतिरोध जाहिर करती हैं ।क्योंकि सांस्कृतिक समरूपता के साथ सामाजिक भिन्नता आज का यथार्थ है ।इसलिए धर्मनिरपेक्षता पर आधारित भारतीय संस्कृति को सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और फासीवाद की ओर मुड़ने लगी ।इन सबका प्रतिरोध है नवराष्ट्रीयता में ।

प्रकृति पर केन्द्रित राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण करना ही नवराष्ट्रीयता का मुख्य मकसद है ।यह प्रकृतिबोध सबसे ज्यादा हाशियेकृतों की संस्कृति में ही बुलंद है ।इसलिए नवराष्ट्रीयता की अवधारणा में लोक की जगह अन्य आवाज़ों से ज़्यादा महत्वपूर्ण है ।इसकी खोज में वर्तमान कहानीकार विशेष सतर्कता दिखाते हैं तो, कहानी उनकी वाणी बन जाती है ।इसलिए इक्कीसवीं सदी का साहित्य लोकचेतना का साहित्य भी है ।नवउपनिवेशवादी–भोगवादी संस्कृति में जिसे हाशिये पर छोड़ा गया है, वे आज

केंद्र में प्रतिष्ठित हो रहे हैं ।उनकी अस्मिता एवं संस्कृति को स्वीकृति मिलने लगी है ।यह आधुनिकता एवं वैश्वीकरण के प्रति साहित्य का प्रतिरोधात्मक प्रयोग है ।भारत के संदर्भ में लोकसंस्कृति में मुख्यतः कृषक संस्कृति, आदिवासी संस्कृति एवं अन्य हाशियेकृतों की है ।वे हमारी जल, ज़मीन, प्रकृति तथा जलवायु की उपज है ।वे प्राकृतिक हैं, कृत्रिमता का सवार उनपर अभी तक उतना नहीं हुआ है ।इसलिए उसके जीवन में सरलता एवं स्वाभाविकता के दर्शन होते हैं । उनके जो लोकगीत, लोककथाएं एवं मिथक हैं वो आज भी हमारी संवेदनाओं को परिपुष्ट करते हैं ।यह भी नहीं उनकी अपनी जो विशिष्ट भाषा होती है उसके द्वारा वे अपनी अस्मिता कायम रखना चाहते हैं ।उसको भी केंद्र में लाने का कार्य किया गया है ।क्योंकि सभ्य समाज हमेशा हाशियेकृतों की भाषा को गँवारू या अपरिष्कृत समझकर वर्जित करता है ।इसे ध्यान में रखते हुए आज की कहानियाँ स्थानीय बोलियों के शब्दों से परिपूरित हैं ।इक्कीसवीं सदी की कहानी समाज में उपेक्षित हरेक छोटी इकाई तथा अस्मिता के लिए संघर्षरत है ।ऐसा हिजड़ा या किन्नर के विशिष्ट सांस्कृतिक रीति–रिवाजों और जीवन शैली के कारण मुख्यधारा समाज उन्हें हमेशा असामान्य और अशिष्ट मानकर बहिष्कृत करता है ।किंतु अन्य के समान हिजड़ों को भी यथास्थान स्वीकृति मिल रही है ।विद्यासागर नौटियाल की ‘भैंस का कट्या’, पंकज बिष्ट की ‘हल’, महेश कटारे की ‘गोद में गाँव’ आदि कहानियाँ कृषक संस्कृति की अभिव्यक्ति देती हैं तो आदिवासियों पर लिखनेवाले वर्तमान कहानीकारों में ज्योति लकड़ा, रोज केरकेट्टा, मंजू ज्योत्सना, जनार्दन गोंड, आदि आदिवासी संस्कृति तथा उनकी अस्मिता की बातें ज़ोर से उठाते हैं।

राष्ट्र की मुख्यधारा से हाशिए पर उपेक्षित और एक इकाई स्त्री है । ऐसी एक स्त्री के स्वत्व एवं अस्मिता की प्रतिष्ठा आज की कहानियों का मुख्य ध्येय है जो एक नये राष्ट्र की निर्मिति के लिए है ।यह राष्ट्र का जो अधूरापन है उसे पूरा करने में सहायक ही नहीं बल्कि असली राष्ट्र की तैयारी आसानी से हो जाएगी । पितृसत्तात्मक व्यवस्था के विरोध के ज़रिए स्त्री अपनी अस्मिता का निर्माण करती है ।वह अब परंपरा एवं रीतिरिवाज़ के नाम पर किसी भी प्रकार का शोषण व दमन सहन नहीं करती बल्कि अन्याय के खिलाफ पूरी ताकत के साथ संघर्ष करती है ।स्त्री अब स्वयं को अबला नहीं सबला के रूप में स्थापित करती है ।शिक्षा, स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता ने उसे नई दिशा दी ।परंपरागत यातना और नई परिकल्पना के धुंधलके में संघर्ष करती हुई स्त्री आज अपने नए स्वरूप को गढ़ने की कोशिश कर रही है ।इसके लिए वे अनेक पौराणिक एवं मिथकीय पात्रों की पुर्नव्याख्या करती है ।मनुस्मृति को खारिज करती है तथा शूर्पनखा तथा द्रौपदी आदि के प्रचलित मिथकीय स्वरूप से अलग, एक नयी दृष्टि से उनपर विचार विमर्श किया जा रहा है ।परिवार संबंधी परंपरागत धारणाओं का नकार करके स्त्री अपनी नवीन संस्कृति का निर्माण करती है ।अपनी अस्मिता को बनाए रखते हुए परिवार को बनाए रखने में वह प्राथमिकता देती है ।अस्मिता की पहचान एवं आर्थिक स्वतंत्रता से पूर्ण स्त्री में एक प्रकार की सुरक्षा और आत्मसम्मान की भावना पैदा हुई है ।जो पहले पहल हमारे पितृसत्तात्मक–रूढीवादी समाज में नायकतव के टकराओं का कारण बन गया है । स्त्री आज समझती है कि स्त्री की असमानता का मूल स्वर परिवार से ही शुरू होता है, इसका मूल कारण पितृसत्ता ही रही है ।अतः जन्म के

बाद ही नहीं, जन्म के पूर्व भी कन्या के प्रति पुरुष मानिसिकता पहले जैसा ही है । 'कोठे पर कागा' कहानी की निम्मो, 'विदागीत' की प्रमोदिनी, 'फांस' की अवंतिका, 'आवारा न बन' की नीलू, 'अपराजिता' कहानी की अपराजिता आदि सब इसके उदाहरण हैं ।

विवाह, धर्म एवं यौनशुचिता संबंधी पुरानी मान्यताओं को आज की शिक्षित, आत्मनिर्भर स्त्री नकारती हैं।विवाह के अवसर पर स्त्री स्वयं को अब जाति, वर्ग एवं धर्म के बंधनों में बाँधने के लिए तैयार नहीं है ।अपना निर्णय वह खुद लेती है ।कविता की कहानी 'मेरी नाप के कपडे' की नायिका कल्पना अपनी इच्छा के बिना शादी करवाने को तैयार होनेवाले परिवार के सम्मुख सक्रिय प्रतिरोध करती है ।वैसे ही बलात्कार महज एक दुर्घटना मात्र मानकर स्त्री को अपराध बोध से मुक्त कराने की प्रेरणा कहानियों में प्राप्त है ।स्त्री के स्वत्व के विकास में सबसे बड़ी रुकावट धार्मिक बंधन है ।धर्म स्त्री को अनावश्यक रूप से अंधविश्वासों, आडंबरों के घेरे में कैद रखता है ।इस प्रकार की पुरुष पक्षीय धर्म के प्रति भी आवाज़ उठाती है आज की नारी ।'ऐ अहिल्या' की रूपा, 'एक पति की मौत' की सिया, 'जागी आँखों का सपना' की अनु आदि सब इसके उदाहरण हैं ।वे पुरुष सत्तात्मक–पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ आवाज़ उठाते हुए अपनी अस्मिता को प्रतिष्ठित करने का प्रयास कर रही हैं ।

इक्कीसवीं सदी के साहित्य में दलित समाज भी शोषण, उत्पीडन से मुक्त अपनी अस्मिता की नयी संस्कृति की निर्मिति में हैं ।हज़ारों सालों से उनका अपना इतिहास न था, न संस्कृति और न अपनी पहचान ।कहा जाता है कि जिस प्रकार यूरोप

की श्रेष्ठता के सामने भारत की संस्कृति संघर्ष कर रही है, इसीप्रकार भारतीय समाज में सवर्णों की वर्चस्ववादी सांस्कृतिक श्रेष्ठता के सामने पिछडे और दलित लोग अपने संघर्षों द्वारा समाज में समानता की तलाश में संलग्न हैं ।इस लड़ाई में दलित किसी जाति विशेष, समूह तथा संप्रदाय के खिलाफ नहीं है बल्कि व्यवस्था के विरुद्ध है चाहे वह सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था हो । यहाँ कहानीकार मौजूदा पूँजीवादी–ब्राह्मणवादी व्यवस्था के खिलाफ प्रतिरोध करते हुए दलित वर्ग को मुख्यधारा की ओर लाने का प्रयास कर रहा है ।क्योंकि राष्ट्र की अस्मिता उसकी बहुलता में निहित है ।आधुनिक संदर्भ में दलित सजग है एवं शिक्षित भी ।इसलिए अपने ऊपर होने वाले सारे अत्याचार के प्रति संघर्षरत है ।शताब्दियों से दलितों के पिछड़ेपन का मुख्य कारण उनका अशिक्षित होना ही है । यह अशिक्षा ही उनकी बहुत सी आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक समस्याओं के मूल में है ।दलित शिक्षा के मौलिक अधिकारों से वंचित रहे हैं किंतु आज दलित इसके प्रति सचेत हैं ।आर्थिक, धार्मिक एवं कानून के क्षेत्रों में भी वे अपनी पहचान स्थापित कर रहे हैं जहाँ अभी तक मानव के रूप में उनकी स्वीकृति नहीं थी ।वर्चस्ववादी लोगों द्वारा अन्य जन्मगत, श्रमगत कारणों से बहुतायत लोगों को हेय, नीच या अस्पृश्य समझे जाने का विरोध ही दलितों की अस्मिता के उद्भव के रूप में निकलकर आ रहा है ।विपिन बिहारी की 'बिवाइयाँ', पुन्नी सिंह की 'बच्चे जो स्कूल जाते हैं', अजय यतीश की 'स्टेटस', सूरज पाल चौहान की 'अंगूरी', अनिता भारती की 'एक थी कोटेवाली',उमेशकुमार सिसौदिया की 'विद्रोह' आदि कहानियाँ दलित की सांस्कृतिक अस्मिता को अभिव्यक्त करनेवाली हैं ।

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानियाँ आज के राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में सांस्कृतिक बहुलता की स्वीकृति को बुलंद करने में सक्षम निकली हैं ।यह किसी के दमन या उपेक्षा से नहीं, बल्कि अहिंसा के मार्ग से है ।यह है नवराष्ट्रीयता या स्वदेशी भावना से संभवित राष्ट्रीयता ।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मूल ग्रन्थ

1. अब्बू ने कहा था — चंद्रकांता
   भारतीय ज्ञानपीठ
   नई दिल्ली, सं. 2005

2. आधी सदी का सफरनामा — स्वयं प्रकाश
   पेंगुइन बुक्स
   नईदिल्ली, सं. 2006

3. आरोहण — संजीव
   पेंगुइन बुक्स
   नई दिल्ली, सं.2006

4. उलटबांसी — कविता
   भारतीय ज्ञानपीठ
   नई दिल्ली, सं. 2008

5. कठपुतलियाँ	मनीषा कुलश्रेष्ठ भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, सं. 2008
6. कहानी की तलाश में	अलका सरावगी राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, सं.2003
7. काके दी हट्टी	ममता कालिया वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2010
8. काला शुक्रवार	सुधा अरोड़ा राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2004
9. काली बर्फ	चन्द्रकान्ता प्रभात प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2013
10. किस्सा- ए- कोहनूर	पंखुरी सिन्हा भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, सं.2008
11. कोठे पर कागा	चंद्रकांता अमन प्रकाशन कानपुर, सं.2017
12. गौर गुनवंती	सूर्यबाला भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली , सं.2010

13.	चित्रा मुदगल प्रतिनिधि कहानियाँ	चित्रा मुदगल किताबघर प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2006
14.	जंगल का जादू तिल-तिल	प्रत्यक्षा भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, सं. 2009
15.	जाति दंश की कहानियाँ	सुभाष चन्द्र कुशवाह सामयिक प्रकाशन नई दिल्ली, सं.2009
16.	जीनकाठी तथा अन्य कहानियाँ	एस.आर.हरनोट आधार प्रकाशन हरियाणा, सं.2008
17.	दलित कहानी संचयन	सं. रमणिका गुप्ता साहित्य अकादमी नई दिल्ली, सं.2006
18.	निर्वासन	उर्मिला शिरीष भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, सं. 2003
19.	नीम अब भी हरा है	कमल कपूर नई दिल्ली, सं. 2009
20.	नृशंस	अवधेश प्रीत राजकमल प्रकाशन दिल्ली, सं.2001
21.	पथदंश	नीरजा माधव

	हिंदी बुक सेण्टर दिल्ली, सं. 2003
22. पहरुआ	महेश कटारे मेधा बुक्स नई दिल्ली, सं . 2002
23. पालवा	भालचंद्र जोशी भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, सं.2011
24. पियरी का सपना	मैत्रेयी पुष्पा सामयिक प्रकाशन नई दिल्ली, सं.2015
25. पिया पीर न जानी	मालती जोशी परमेश्वरी प्रकाशन नई दिल्ली, सं.2016
26. प्रतिरोध की कहानियाँ	सं. अरविंद कुमार ओम पब्लिकेशन, 2016
27. फांस	मनीषा कुलश्रेष्ठ भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, सं.2010
28. बाँस की पार्टी	संजय कुंदन भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, सं. 2008
29. बाज़ार में रामधन	कैलास बनबासी भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली,सं.2007
30. बिरुवार गमछा तथा अन्य कहानियाँ	रोज केरकेट्टा

		प्रभात प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2017
31.	बुतखाना	नासिरा शर्मा लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, सं. 2008
32.	मांगोसिल	उदय प्रकाश वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, सं.2006
33.	मुक्ति	अखिलेश वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2015
34.	मेरी नाप के कपडे	कविता भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, सं. 2006
35.	मेरे देश की मिट्टी अहा	मृदुला गर्ग नेशनल पेपर बुक्स नई दिल्ली, सं.2005
36.	यूटोपिया	वंदनाराग राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2010
37.	लड़की जो देखती पलटकर	क्षमा शर्मा वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2011
38.	विश्व बाज़ार का ऊँट	जयनंदन वाणी प्रकाशन

नई दिल्ली, सं.2008

39. संगती–विसंगति सम्पूर्ण कहानियाँ भाग 2 — मृदुला गर्ग
नेशनल पब्लिशिंग हॉउस
नई दिल्ली, सं.2008

40. सनातन बाबु का दाम्पत्य — कुणाल सिंह
भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली, सं. 2008

41. समान्तर रेखाओं का आकर्षण — पंखुरी सिन्हा
किताबघर प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2008

42. सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ — सं. गिरिराज शरण
प्रभात पब्लिकेशन
नई दिल्ली, सं.2017

43. सूर्यबाला की लोकप्रिय कहानियाँ — सूर्यबाला
प्रभात प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2015

44. हम कौन है — रजत रानी मीनू
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2012

45. हम भी इंसान हैं
(किन्नरों पर केन्द्रित कहानियाँ) — सं.डॉ.एम.फ़िरोज़ खान
वांग्मय बुक्स
अलीगढ, सं.2017

46. हरी बिंदी
मृदुला गर्ग
सामयिक प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2006

47. हलंत
ह्रषिकेश सुलभ
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2015

48. हुडुकलुल्लू
पंकज मित्र
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, सं.2008

सहायक ग्रंथ

49. अशोक के फूल
हज़ारीप्रसाद प्रसाद द्विवेदी
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद
सं. 2008

50. आदिवासी अस्मिता का संकट
सं. रमणिका गुप्ता
सामयिक प्रकाशन
नयी दिल्ली, सं.2015

51. आदिवासी केन्द्रित हिंदी साहित्य
सं. उषा कीर्ति रणावत
डॉ. सतीश पाण्डेय
अतुल प्रकाशन
कानपूर, सं. 2008

52. आदिवासी कौन
सं . रमणिका गुप्ता
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, सं 2008

53. आदिवासी धार्मिक मान्यताएं एवं पर्यावरण
सुनीता घोगरा
जवाहर कला केंद्र एवं खंडेलवाल एंड डिस्ट्रीब्युटेर्स
प्र. सं. 2015

54. आदिवासी लोक साहित्य
डॉ. गौतम भाईदास कुंवर
चंद्रलोक प्रकाशन
कानपूर, सं . 2010

55. आदिवासी विमर्शः इतिहास एवं संस्कृति
डॉ. विनोद विश्वकर्मा
जे टी एस पब्लिकेशन,
दिल्ली, सं . 2016

56. आदिवासी समाज एवं संस्कृति
शैला चव्हाण कदम
रोशनी पब्लिकेशन
कानपूर , सं. 2014

57. आदिवासी स्वर और नई शताब्दी
सं. रमणिका गुप्ता
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, सं . 2008

58. आधी दुनिया का सच
कुमुद शर्मा
सामयिक प्रकाशन
नई दिल्ली , सं. 2014

59. आधुनिकता के आईने में दलित
सं. अभय कुमार दूबे
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2005

60. आधुनिकता के आईने में दलित — सं. अभय कुमार दूबे
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2005

61. आधुनिक हिंदी राष्ट्रीय काव्यधारा — सं.प्रो. नरेश मिश्र
संजय प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2004

62. आलोचना के आयाम — डॉ.एन.मोहनन
जवाहर पुस्तकालय
मथुरा,सं.2008

63. इक्कीसवीं सदी का पहला दशक और हिंदी कहानी — सूरज पालीवाल
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2012

64. इतिहास और संस्कृति — वीरेन्द्र मोहन
शिल्पायन
दिल्ली, सं. 2014

65. उत्तर आधुनिकता — डॉ. रवि श्रीवास्तव
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली, सं. 2011

66. उत्तर आधुनिकता और समकालीन कथा साहित्य — डॉ .लक्ष्मी गौतम
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद, सं. 2013

67. उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य — कृष्णादत्त पालीवाल
वाणी प्रकाशन
दिल्ली, सं. 2008

68. उत्तर उपनिवेशवाद चुनौतियाँ — राकेश कुमार

और विकल्प — शुभदा प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2014

69. उपनिवेश में स्त्री — प्रभा खेतान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं.2003

70. औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारात्मक संघर्ष — डॉ. के. एन पणिक्कर, अनु. आदित्य नारायण सिंह, ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली , सं. 2003

71. किन्नर विमर्श– साहित्य के आईने में — डॉ. इकरार अहमद, वांग्मय पुस्तक, अलीगढ, सं. 2017

72. गाँधी और दलित भारत जागरण — श्री भगवान सिंह, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सं. 2008

73. ज़माने से दो दो हाथ — नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2010

74. दलित चेतना की पहचान — सं. सूर्यनारायण रणसुभे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2010

75. दलित दर्शन — रमणिका गुप्ता, नेहा प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2010

76. दलित दर्शन की वैचारिकी — बी.आर. विप्लवी
वाणी प्रकाशन
प्र. सं. 2016

77. दलित साहित्य अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ — ओम प्रकाश वाल्मीकि
राधाकृष्ण प्रकाशन
नयी दिल्ली, सं. 2012

78. दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र — ओम प्रकाश वाल्मीकि
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2001

79. दलित साहित्य की भूमिका — हरपाल सिंह अरुष
भारतीय पुस्तक परिषद्
नई दिल्ली, सं. 2011

80. दलित साहित्य के आधार तत्व — हरपाल सिंह अरुष
भारतीय पुस्तक परिषद्
नई दिल्ली , सं. 2011

81. दलित साहित्य चिंतन के विविध आयाम — सं. डॉ. एन. सिंह
आकाश पब्लिशेर्स एण्ड डिस्ट्रीब्युटेर्स
गाज़ियाबाद , सं. 2009

82. दलित साहित्य बुनियादी सरोकार — कृष्णदत्त पालीवाल
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2009

83. दलित साहित्य नई चुनौतियाँ — प्रो. रामशंकर कठेरिया
प्रभात प्रकाशन
दिल्ली, सं. 2016

84. दलित विमर्श की भूमिका — कँवल भारती
इतिहासबोध प्रकाशन
इलाहबाद, सं.2004

85. दलित वैचारिकी की दिशाएं	सं. बद्रीनारायण राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2008
86. दलित हस्तक्षेप	रमणिका गुप्ता शिल्पायन दिल्ली, सं. 2004
87. धर्म और साम्प्रदायिकता	नरेन्द्र मोहन प्रभात प्रकाशन दिल्ली, सं. 1996
88. नारी विमर्श दशा और दिशा	सं. डॉ. एस. फ़िरोज़ खान आकाश पब्लिशेर्स एंड डिस्ट्रीब्युटेर्स गाज़ियाबाद, सं. 2010
89. परंपरा, इतिहासबोध और संस्कृति	श्यामचरण दूबे राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 1991
90. पर्यावरणः समस्या और समाधान	शिवानन्द नौटियाल सामयिक प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2012
91. प्रकृति, पर्यावरण और समकालीन कविता	मनीष झा आनंद प्रकाशन कोलकत्ता, सं. 2004
92. बाज़ार और समाज : विविध प्रसंग	गिरीश मिश्र स्वराज प्रकाशन दिल्ली, सं. 2009

93. बाज़ार के बीच बाज़ार के खिलाफ
प्रभा खेतान
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली , सं. 2004

94. भारत का भूमंडलीकरण
अभयकुमार दूबे
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2007

95. भारत की मौलिक एकता
डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल
सस्ता साहित्य मंडल
दिल्ली, सं. 1949

96. भारतीय अस्मिता और हिंदी
शम्भुनाथ
सामयिक प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2012

97. भारत के आदिवासी चुनौतियाँ एवं संभावनाएं
सं. डॉ. जनक सिंह मीना
डॉ कुलदीप सिंह मीना
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2017

98. भारतीय राष्ट्र और राष्ट्रवाद
डॉ.मधुकर गंगाधर
मुकुल प्रकाशन
दिल्ली, सं. 2013

99. भारतीय राष्ट्रवाद और प्रेमचंद
जितेन्द्र श्रीवास्तव
प्रकाशन संस्थान
नई दिल्ली, सं.2004

100. भारतीय लोक साहित्य
श्याम परमार
राजकमल प्रकाशन
बम्बई, सं. 1954

101. भारतीय संस्कृति का इतिहास — सत्यकेतु विद्यालंकार
श्री सरस्वती सदन
नई दिल्ली, सं. 1979

102. भारतीय संस्कृति के स्वर — महादेवी वर्मा
राजपाल एंड सन्ज़
दिल्ली, सं. 1979

103. भूमंडलीकरण और उत्तर आधुनिक विमर्श — सुधीश पचौरी
प्रवीण प्रकाशन
नयी दिल्ली सं. 2003

104. भूमंडलीकरण और भारत – परिदृश्य और विकल्प — अमित कुमार
सामयिक प्रकाशन
नई दिल्ली , सं. 2006

105. भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ — सच्चिदानंद सिन्हा
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2005

106. भूमंडलीकरण के भंवर में भारत — कमल नयन काबरा
प्रकाशन संस्थान
नई दिल्ली, सं. 2008

107. भूमंडलीकरण ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र — प्रभा खेतान
सामयिक प्रकाशन
नई दिल्ली, सं.2010

108. भूमंडलीकरणः विचार, नीतियाँ और विकल्प — कमल नयन काबरा
प्रकाशन संस्थान
नई दिल्ली, सं.2005

109. मुक्तिबोध रचनावली — नेमिचंद्र जैन
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 1980

110. राजनीतिक सिद्धांत की रूपरेखा — ओम प्रकाश गाबा
मयूर पेपर बुक्स
दिल्ली, सं. 1979

111. राष्ट्रवाद का संकट — मदन कश्यप
प्रकाशन संस्थान
नई दिल्ली, सं.2014

112. राष्ट्रीयता — बाबु गुलाबराय
किताबघर प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 1996

113. राष्ट्रीयता की अवधारण और भारतेंदुयुगीन साहित्य — प्रमोद कुमार
अनुज्ञा बुक्स
दिल्ली, सं.2014

114. लोक साहित्य और संस्कृति — डॉ. दिनेश्वर प्रसाद
इलाहाबाद, सं.1973

115. लोक साहित्य का अध्ययन — त्रिलोचन
अलीगढ, प्र.सं. 1996

116. लोक साहित्यः सिद्धांत और प्रयोग — डॉ. श्रीराम शर्मा
विनोद पुस्तक मंदिर
आगरा, सं. 1973

117. लोक संस्कृति एवं साहित्य का वर्तमान स्वरूप — सं. अल्पना सिंह
वांग्मय पुस्तक
अलीगढ, सं. 2013

118. लोक संस्कृति और इतिहास — बद्रीनारायण
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद, सं. 2010

119. समकालीन हिंदी उपन्यास	डॉ. एन.मोहनन वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2013
120. समाज और संस्कृति	सुभाष शर्मा किताबघर प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2008
121. सामाजिक न्याय और दलित साहित्य	सं. श्यौराज सिंह बेचैन वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, सं.2014
122. साम्राज्यवाद उदय और अस्त	अयोध्या सिंह प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली , सं.2002
123. साहित्य और परिवेश	ब्रजेंद्र त्रिपाठी लव्ली बुक्स ,2013
124. साहित्य और राजनीति की तीसरी धारा	सं.कंवल भारती अमन प्रकाशन कानपूर, सं.2014
125. संस्कृति और समाजवाद	सच्चिदानंद सिन्हा वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, सं.2004
126. संस्कृति की उत्तरकथा	शम्भुनाथ वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2000
127. संस्कृति के चार अध्याय	रामधारी सिंह दिनकर लोकभारती प्रकाशन इलाहबाद ,सं.2007

128. संस्कृति : समस्या और संभावनाएं — डॉ. गोविन्द चातक
तक्षशिला प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 1944

129. सांप्रदायिक राजनीति : तथ्य एवं मिथक — राम पुनियानी
अनु.रामकिशन गुप्ता
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली सं.2005

130. स्त्री अस्मिता के प्रश्न — सुभाष सेतिया
सामयिक प्रकाशन
नई दिल्ली, सं.2009

131. स्त्री उपेक्षिता — प्रभा खेतान
हिंदी पॉकेट बुक्स
दिल्ली, सं. 1998

132. स्त्री का समय — क्षमा शर्मा
मेधा बुक्स
शाहदरा, सं.1998

133. स्त्री विमर्श : कलम और कुदाल के बहाने — रमणिका गुप्ता
शिल्पायन
दिल्ली, सं.2004

134. स्त्री विमर्श का लोक पक्ष — अनामिका
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, सं.2012

135. शृंखला की कड़ियाँ — महादेवी वर्मा
भारती भंडार
इलाहाबाद, सं.1950

136. हरितभाषा वैज्ञानिक विमर्श — डॉ. के वनजा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं.2015

137. हाशिये की वैचारिकी — सं.उमसंकर चौधरी, अनामिका पब्लिशेर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्रस, नई दिल्ली,सं. 2008

138. हिंदी कविता में युगांतर — डॉ. सुधीन्द्र, आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली, सं.1999

139. हिंदी की साहित्यिक संस्कृति और भारतीय आधुनिकता — डॉ. राजकुमार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.2015

140. हिंदी दलित साहित्य : एक मूल्यांकन — सं.डॉ. प्रमोद कोवप्रत, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2006

141. हिंदी में भूमंडलीकरण का प्रभाव और प्रतिरोध — सूरज पालीवाल, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली,सं.2008

142. हिंदी साहित्य उन्द्भव और विकास — हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2004

143. हिंदी साहित्य का इतिहास — नगेंद्र, नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, नई दिल्ली, सं.2009

पत्रिका

1. कथादेश
(किसान जीवन का यथार्थ : एक फोकस) मई 2012

2. कथादेश नवंबर 2011
3. वांग्मय जनवरी 2017
(खण्ड –1 ,थर्ड जेंडर कहानियाँ विशेषांक)

4. दलित साहित्य (वार्षिकी) 2002
5. वागर्थ सितम्बर 2017
6. वागर्थ फरवरी 2014
7. अनुशीलन 2006–2007
(भूमंडलीकरण और हिंदी विशेष)

8. हंस सितम्बर 2014
9. हंस नवम्बर 2009
10. कथाक्रम अक्टूबर दिसंबर 2010
11. वर्त्तमान साहित्य जून 2002
12. नया ज्ञानोदय नवम्बर 2003
13. युद्धरत आम आदमी आगस्त 2016
14. समकालीन भारतीय साहित्य अंक 156,2012
15. भाषा जनवरी– फरवरी 2001
16. आलोचना जनवरी– मार्च 2001
17. आलोचना अक्टूबर –सितम्बर 2005

कोश ग्रन्थ

1. हिंदी पर्यायवाची कोश भोलानाथ तिवारी
तक्षशिला प्रकाशन
नई दिल्ली, सं.1985

2. हिंदी साहित्य कोश डॉ. सत्येंद्र
शिवलाल अग्रवाल एंड कंपनी
आगरा सं. 1971

अंग्रेजी सन्दर्भ कोश

1.Nation and its ragments	Parthachatterji , new delhi, 1997
2.Nation and nationalism	Ernest Gellner Basic Black well 1986
3.Nationalism	RavinderNath Tagore Macmillians co. London, 1923
4.Nationalism and colonialism	Bipin Chandra Orient longman Hyderabad 1979

परिशिष्ट

परिशिष्ट

आलेख प्रकाशन

1. 'इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानियों में बाजारू संस्कृति का प्रतिरोध' – अनुशीलन (शोध पत्रिका)जुलाई 2016 ISSN :2249 2844

2. नवजागरण कालीन अज्ञात महिला लेखन अनुशीलन (शोध पत्रिका) – जानवरी 2017 ISSN: 2249 2844

3. भूमंडलीकरण के भंवर में लोक संस्कृति -
   (सं) बाबु जोसेफ ISBN:978-93-82554-84-4

पर्चा प्रस्तुति

1. समकालीन हिंदी कहानियों में नवराष्ट्रीयता
2. भूमंडलीकरणके भंवर में लोक संस्कृति
3. इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानियों में नवराष्ट्रीयता
4. सांस्कृतिक विमर्श के सन्दर्भ में समकालीन कहानी